प्रकाशकका निवेदन

गुजरातके और सारे भारतके अेक श्रेष्ठ मौलिक विचारक, चिन्तक और लेखक स्व० श्री किशोरलाल मशरूवालाकी सर्वोत्तम रचना 'जीवनशोधन' के बाद हमे अपने हिन्दी पाठकोके सामने अुनकी यह दूसरी अुतनी ही मौलिक और क्रान्तिकारी रचना 'संसार और धर्म' रखते हुअे बडी खुशी होती है। श्री केदारनाथजी द्वारा 'जीवनशोधन' के बारेमे कहे हुअे ये शब्द अिस पुस्तकके विषयमे भी सोलहों आने सत्य है: "अिस पुस्तकमें विवेक, सत्त्वसशुद्धि, प्रामाणिकता, सत्यज्ञानके लिअे अुत्कठा, समाजके हितसाधनकी भावना, कर्तव्यपालन, संयम, निष्कामता, पवित्रता आदि दैवी गुणोंके अुत्कर्ष पर बहुत भार दिया गया है।"

पुस्तकमें स्व० किशोरलालभाअीके समय-समय पर लिखे गये लेखों और कुछ भाषणोका सग्रह किया गया है। कुछ लेख तो लेखकने हिन्दीमे ही लिखे थे, जो 'सर्वोदय', 'हरिजनसेवक' वगैरा पत्रोसे हिन्दीमे ही लिये गये है।

पुस्तककी विशेषताके बारेमें प० सुखलालजीने अपनी 'विचार-कणिका' मे विस्तारसे चर्चा की है। अुसमें अेक स्थान पर वे लिखते है. "ये लेख अितने गंभीर और सूक्ष्म चिन्तनसे ओतप्रोत है कि अुन्हे जितनी बार पढ़ा जाय अुतनी ही बार (यदि पाठक जिज्ञासु और समझदार हो तो) अुनमें नवीनताका अनुभव होता है। और आवरणके स्थूल स्तरोंके दूर होते ही अेक प्रकारकी चैतसिक जाग्रति अनुभव होती है।"

अिस पुस्तकका गुजरातीसे हिन्दी अनुवाद श्री महेन्द्रकुमार जैनने किया है। सारा अनुवाद और मूल हिन्दी लेख श्री किशोरलालभाअी स्वय देख गये है और अुनमें सशोधन और परिवर्धन भी अुन्होने किये है।

विषय-प्रतिपादनकी दृष्टिसे सारी पुस्तकका प्रूफ श्री रमणीक-लालभाअी मोदी भी देख गये है; अुन्होने यहा-वहा जो कीमती सुधार सुझाये, अुनके लिअे हम श्री रमणीकलालभाअीके आभारी है।

१५-६-'५६

प्रस्तावना

अिस पुस्तकका लेखक यदि मैं अकेला ही माना जाअूं, तो केवल निमित्त-कारणके अर्थमें ही। गुरुदेव परम पूज्य नाथजीने अिसका 'पूर्ति' नामक भाग लिखकर अिसके अलग-अलग लेखोको न केवल अेकसूत्रमें गूथा है, परन्तु अुनमे पूर्णता भी ला दी है। और आदरणीय पंडित सुखलालजीने अपनी 'विचार-कणिका' द्वारा अुन्हे विशद किया है। अिन विचारोमे जो भी विशिष्टता होगी अुसका अधिकाश श्रेय पूज्य नाथजीको ही है। जिस समय मै 'सत्य क्या है?' की शोधमें लगा हुआ था और 'किस मार्गकी ओर जाना' की अुलझनमें फसा हुआ था, अुस समय अुन्होने मुझे विचारोके अटपटे गली-कूचोसे बाहर निकालकर विचारोंके सीधे मार्ग पर लगा दिया। अुससे जो परिणाम अुत्पन्न होते गये, अुन्हे मै समय-समय पर जनताके सामने रखता रहा हू।

जैसा कि पडितजीने अपनी 'विचार-कणिका' मे बताया है, अिस पुस्तकके बहुतसे लेख पहले (गुजराती और हिन्दीकी पत्र-पत्रिकाओंमें) प्रकाशित हो चुके है। परन्तु पुस्तकरूपमें प्रकाशित होने पर अपने विचारो और भाषाको फिरसे जाचनेकी और आवश्यक लगे तो अुनमें सुधार करनेकी मेरी साधारण आदत रही है। अिस प्रकार कुछ पुराने लेखोमें भी कही-कही छोटे-मोटे परिवर्तन मैंने किये हैं।

अिस पुस्तककी पाडुलिपि तैयार करने तथा प्रूफ सुधारनेका भार श्री रमणीकलाल मोदीने अपने सिर लेकर मेरा काम बहुत हलका कर दिया है। नवजीवन कार्यालयके प्रूफ पढ़नेवालोकी सहायता तो सदा ही मिलती रही हैं। अिस तरह अनेक लोगोके सहयोगसे अिस 'ससार और धर्म' की अुत्पत्ति हुअी है। और अिसमें 'अीश्वर' तो अदृश्य रूपमे बीचमें रहा ही है। यही जीवनका नियम अथवा सत्य भी है। अिन सबका मै ऋणी हूं।

वर्धा, ८–४–'४८ — कि० घ० मशरूवाला

विचार-कणिका

प्रस्तुत पुस्तकमे अनेक लेखोका सग्रह है। अिसमें श्रद्धेय मशरूवालाके तीस और पूज्य नाथजीके तीन — अिस तरह कुल तैंतीस लेख हैं। तीन खण्डोमे वटे हुअे तीस लेखोमें से तेअीस लेख तो अलग अलग समयमे विभिन्न पत्र-पत्रिकाओमे प्रकाशित हो चुके हैं, जव कि सात लेख पहली ही वार प्रकाशित हो रहे हैं। चौथे खंडमें श्री नाथजीकी पूर्तिके रूपमे दिये हुअे अतिम लेख भी पहली वार ही प्रकाशित हो रहे हैं। यद्यपि अिस संग्रहके तेअीस लेख दूसरी वार प्रकाशित हो रहे है, फिर भी जिसने ये लेख पढे होगें असके लिअे भी अिनकी नवीनता विलकुल कम नही होगी, अैसा मै अपने अनुभवसे कह सकता हूं। लेख अितने गंभीर तथा सूक्ष्म चिंतनसे परिपूर्ण है कि अुन्हें जितनी वार पढा जाय अुतनी ही वार (यदि पढनेवाला जिज्ञासु और समझदार हो तो) अुनमें नवीनताका अनुभव होता है; और आवरणके स्थूल स्तरोके दूर होते ही अेक तरहकी चैतसिक जाग्रतिका अनुभव होता है। अिसलिअे वस्तुत. सारा सग्रह नया ही है। कअी लोग अेक वार प्रकाशित हुअे और पढे हुअे लेखोको पुराने और वासी मानकर अुनकी अुपेक्षा करते हैं। अुनकी यह मनोवृत्ति विलकुल गलत नही है। परंतु ये लेख अैसे है, जो प्रात.कालीन सूर्यकी तरह नित-नये लगनेवाले हैं।

गुजरातमें कोअी भी समझदार व्यक्ति अैसा नही है, जो श्री किशोरलालभाअीको न जानता हो। गुजरातके वाहर भी सव प्रान्तोमें अुनका नाम थोड़े-वहुत अंशमे प्रसिद्ध है। अिसका मूल कारण अुनके अनेक भाषाओमे लिखे हुअे और अनुवादित लेखोका पठन-पाठन है और कुछ व्यक्तियो द्वारा साधा हुआ अुनका प्रत्यक्ष समागम भी है। पू० नाथजीको जाननेवाला वर्ग अपेक्षाकृत छोटा है, क्योकि अुन्होने वहुत कम लिखा है। और जो कुछ लिखा है,

वह भी पूरा प्रकाशित नही हुआ है।* फिर भी जो वर्ग अुन्हें जानता है, वह विलकुल छोटा या साधारण कोटिका नही है। जो पू० नाथजीके प्रत्यक्ष परिचयमे नही आया है, वह अुनके सूक्ष्म, स्पष्ट, सयुक्तिक और मानवतापूर्ण विचारोकी कल्पना ही नही कर सकता।

तत्त्वके तलस्पर्शी चिंतन, जीवनके स्व-पर-लक्षी शोधन और मानवताकी सेवाके अेक ही रंगसे रगे हुअे गुरु-शिष्यकी यह जोडी जो कुछ लिखती या वोलती है, वह अनुभवसिद्ध होनेके कारण प्रत्यक्ष कोटिका है। अिसकी प्रतीति अिस संग्रहके लेख पढनेवाले व्यक्तिको हुअे विना नही रहेगी। मैंने प्रस्तुत लेखोको अेकाग्रतापूर्वक अेकसे अधिक वार सुना है और कुछ अन्य सुप्रसिद्ध भारतीय तत्त्वचिंतकोंके लेख भी सुने हैं। मैं जव तटस्थ भावसे अैसे चिंतनप्रधान लेखोकी तुलना करता हूं, तव मुझे नि.शक रूपसे अैसा लगता है कि अितना और अैसा क्रान्तिकारी, सचोट और मौलिक विचार करनेवाले लोग भारतवर्षमें विरले ही हैं।

सारे सग्रहको सुनने पर और अुसके अूपर अलग-अलग दृष्टिसे विचार करने पर मुझे अिसकी अनेक प्रकारकी अुपयोगिता मालूम हुअी है। जहां देखो वहा साम्प्रदायिक और असाम्प्रदायिक मानसवाले सभी समझदार लोगोकी यह माग है कि नयी पीढीको तत्त्व और धर्मके सच्चे और अच्छे सस्कार देनेवाली अैसी कोअी पुस्तक शिक्षण-क्रममें होनी चाहिये, जो नवयुगके निर्माणका स्पर्श करनेके साथ ही प्राचीन प्रणालिकाओका रहस्य भी समझाती हो। जहां तक मै जानता हू, केवल गुजरातमे ही नही, वल्कि गुजरातके वाहर भी अिस मांगको भलीभाति पूरा करनेवाली अिसके जैसी दूसरी कोअी पुस्तक नही है। किसी संप्रदायका विद्यालय या छात्रालय हो, असाम्प्रदायिक कहे जा सकनेवाले आश्रम हो या सरकारी अथवा गैरसरकारी शिक्षण-सस्थाअे हो,— सर्वत्र अुच्च कक्षाके विद्यार्थियोको, अुनकी योग्यताको ध्यानमें रखकर,

---

* श्री नाथजी (केदारनाथजी) की अेक पुस्तक 'विवेक और साधना' हिन्दीमें प्रकाशित हो चुकी है। नवजीवन कार्यालय; कीमत ४–०–०, डाकखर्च १–२–०।

अिस संग्रहमें से अमुक लेख समझाये जाय, तो मै मानता हू कि अुन्हें अपनी मातृभाषामें तत्त्व और धर्मका सच्चा व्यापक ज्ञान मिलेगा और सदियो पुरानी परम्परागत ग्रंथियोका भेद भी खुल जायगा। विद्यार्थियोके अलावा शिक्षको और अध्यापकोके लिअे भी अिस संग्रहमें अितनी अधिक विचारप्रेरक और जीवनप्रद सामग्री है कि वे यह पुस्तक पढकर अपने सांक्षर जीवनकी केवल कृतार्थता ही अनुभव नही करेंगे, बल्कि अनेक व्यावहारिक, धार्मिक और तात्त्विक प्रश्नोके सबधमें नये दृष्टिकोणसे विचार करना शुरू करेंगे तथा साक्षर जीवनके अुस पार भी कुछ प्रज्ञागम्य विश्व है अैसी प्रतीति होनेसे अधिक विनम्र और अधिक शोधक बननेका प्रयत्न करेंगे। विद्यार्थियो और अध्यापकोंके सिवाय भी अैसा बहुत बड़ा वर्ग है, जो तत्त्व और धर्मके प्रश्न समझनेमे हमेशा गहरा रस लेता है। ये लोग तत्त्व और धर्मके नामसे मिलनेवाले कैसे भी रूढिगत शिक्षण और प्रवाहमें बहते रहते है और केवल अुतनेसे ही सतोष मान लेते हैं। अतः वे यह नही समझ पाते कि हमारी समझमें कहा भूल है, कहा कहां अुलझनें है, और कहा कहा अन्धविश्वासका राज्य है। अुनके लिअे तो यह सग्रह नेत्रांजन-शलाकाका काम करेगा, अैसा मै निश्चित रूपसे मानता हूं। विभिन्न भाषाओमें अेक या अनेक धर्मोका अथवा अेक सम्प्रदाय या अनेक सप्रदायोके तत्त्वज्ञानका शिक्षण देनेमें मदद पहुचानेवाली अनेक पुस्तकें है। परतु ज्यादातर वे सब प्रणालिकाओ या मान्यताओका ही वर्णन करती हैं। शायद ही अैसी कोअी पुस्तक देखनेमे आयेगी, जिसमें अितनी गभीरता और अितनी निर्भयता तथा सत्यनिष्ठासे तत्त्व और धर्मके प्रश्नोके विषयमें अैसा परीक्षण और संशोधन हुआ हो। अेक ओर जिसमें किसी भी पंथ, किसी भी परपरा या किसी भी शास्त्रविशेषके विषयमें अविचारी आग्रह न हो और दूसरी ओर पुराने या नये आचार-विचारके प्रवाहोमे से जीवनस्पर्शी सत्य खोज निकाला गया हो, अैसी मेरी जानकारीमे यह पहली ही पुस्तक है। अिसलिअे किसी भी क्षेत्रके योग्य अधिकारीको मै यह पुस्तक बार बार पढनेकी सिफारिश करता हूं तथा शिक्षण-कार्यमें रस लेनेवालोसे कहता हू कि वे चाहे जिस सप्रदाय

या पथके हो, तो भी अिसमे वताओी हुओी विचारसरणीको समझकर अपनी मान्यताओ और सस्कारोकी परीक्षा करे।

वैसे तो अिस सग्रहका प्रत्येक लेख गहन है। पर कुछ लेख तो अैसे हैं, जो वडेसे वडे विद्वान् या विचारककी वुद्धि और समझकी भी पूरी कसौटी करते हैं। लेखोके विषय विविध हैं। दृष्टिविंदु भी अनेक प्रकारके है। समालोचना मूलगामी है। अिसलिअे सारी पुस्तकका रहस्य तो अुन अुन लेखोको पढ या विचार कर ही जाना जा सकता है। फिर भी दोनो लेखकोके प्रत्यक्ष परिचयसे और अिस पुस्तकके वाचनसे अुनकी जिस विचारसरणीको मैं समझा हू और जिसने मेरे मन पर गहरी छाप डाली है, अुससे सवध रखनेवाले कुछ मुद्दोकी मैं अपनी समझके अनुसार यहा चर्चा करता हू। अिन मुद्दोकी दोनोके लेखोमे अेक या दूसरी तरहसे चर्चा की गअी है। वे मुद्दे ये हैं:

१. धर्म और तत्त्वचिन्तनकी दिशा अेक हो, तभी दोनो सार्थक वनते हैं।

२ कर्म और अुसके फलका नियम केवल वैयक्तिक ही नही, वल्कि सामूहिक भी है।

३ मुक्ति कर्मके विच्छेदमे या चित्तके विलयमे नही, परंतु दोनोकी अुत्तरोत्तर शुद्धिमे है।

४. मानवताके सद्‌गुणोंकी रक्षा, पुष्टि और वृद्धि ही जीवनका परम ध्येय है।

तत्त्वज्ञानका अर्थ है सत्यशोधनके प्रयत्नसे फलित हुअे तथा फलित होनेवाले सिद्धान्त। धर्मका अर्थ है अैसे सिद्धान्तोके अनुसार ही वना हुआ वैयक्तिक तथा सामूहिक जीवन-व्यवहार। यह सत्य है कि अेक ही व्यक्ति या समूहकी योग्यता तथा शक्ति हमेशा अेकसी नही रहती, अिसलिअे भूमिका तथा अधिकारभेदके अनुसार धर्ममें अंतर रहनेवाला है। अितना ही नही, धर्माचरण अधिक पुरुषार्थकी अपेक्षा रखता है, अिसलिअे वह गतिमे तत्त्वज्ञानके पीछे भी रहेगा। किन्तु यदि अिन दोनोकी दिशा ही मूलमे अलग हो, तो तत्त्वज्ञान चाहे जितना गहरा और चाहे जितना सच्चा हो, फिर भी धर्म अुसके

प्रकाशसे वंचित ही रहेगा और परिणामस्वरूप मानवताका विकास रुकेगा। धर्मको जीवनमें अुतारे विना तत्त्वज्ञानकी शुद्धि, वृद्धि और परिपाक असंभव है। अिसी प्रकार तत्त्वज्ञानके आलंवनसे रहित धर्म जड़ता तथा अंधविश्वाससे मुक्त नही हो सकता। अिसलिअे दोनोमें दिशाभेद होना घातक है। अिस वस्तुको अेक अैतिहासिक दृष्टान्तसे समझना सरल होगा। भारतीय तत्त्वज्ञानके तीन युग स्पष्ट हैं। पहला युग आत्म-वैषम्यके सिद्धान्तका, दूसरा आत्मसमानताके सिद्धान्तका और तीसरा आत्माद्वैतके सिद्धान्तका। पहले सिद्धान्तके अनुसार अैसा माना जाता था कि हरअेक जीव मूलमें समान नही है। हरअेक जीव अपने कर्मके अधीन है। और हरअेक जीवके कर्म विषम तथा वहुत वार अेक दूसरेके विरुद्ध होते हैं, अिसलिअे अुसके अनुसार ही जीवकी स्थिति और अुसका विकास हो सकता है। अैसी मान्यताके कारण व्राह्मण-कालके जन्मसिद्ध धर्म और संस्कार निश्चित हुअे है। अिसमें किसी अेक वर्गका अधिकारी अपनी कक्षामें रहकर ही विकास कर सकता है, परन्तु अिस कक्षाके वाहर जाकर वर्णाश्रमधर्मका आचरण नही कर सकता। अिन्द्रपद या राज्यपद हासिल करनेके लिअे अमुक धर्मका आचरण करना चाहिये, परन्तु हरअेक अुस धर्मका आचरण नही कर सकता तथा हरअेक अुसका आचरण करा भी नही सकता। अिसका अर्थ यही हुआ कि कर्मकृत वैषम्य स्वाभाविक है और जीवगत समानता हो तो भी वह व्यवहार्य नही है। आत्मसमानताके दूसरे सिद्धान्तके अनुसार वना हुआ आचार अिससे विलकुल अुलटा है। अुसमें चाहे जिस अधिकारी और जिज्ञासुको चाहे जैसे कर्मसंस्कारके द्वारा विकास करनेकी छूट है। अुसमें आत्मौपम्य-मूलक अहिंसाप्रधान यम-नियमोंके आचरण पर ही भार दिया जाता है। अुसमें कर्मकृत वैषम्यकी अवगणना नही है, परन्तु समानता-सिद्धिके प्रयत्नसे अुसे दूर करने पर ही भार दिया जाता है। आत्माद्वैतका सिद्धान्त तो समानताके सिद्धान्तसे भी आगे जाता है। अुसमें व्यक्ति-व्यक्तिके वीच किसी भी तरहका कोअी वास्तविक भेद नही माना जाता। अुस अद्वैतमें तो समानताका व्यक्तिभेद भी मिट जाता है। अिसलिअे अिस सिद्धान्तमें कर्मसंस्कार-

जन्य वैपम्य न सिर्फ दूर करने योग्य ही माना जाता है वल्कि सर्वथा काल्पनिक माना जाता है। परन्तु हम देखते है कि आत्मसमानता और आत्माद्वैतके सिद्धान्तको कट्टरतासे माननेवाले भी जीवनमें कर्म-वैपम्यको ही स्वाभाविक और अनिवार्य मान कर व्यवहार करते है। अिसलिअे आत्मसमानताके अनन्य समर्थक जैन तथा अैसे दूसरे पंथ जातिगत अूच-नीच भावको मानो शाश्वत मानकर ही व्यवहार करते दिखाअी देते है। अुसके कारण समाजमें स्पर्शास्पर्शका घातक विप फैल जाने पर भी वे भ्रमसे मुक्त नही होते। अुनका सिद्धान्त अेक दिशामें जाता है और धर्म —जीवनव्यवहार—की गाडी दूसरी दिशामें जाती है। यही स्थिति अद्वैत सिद्धान्तको माननेवालोकी है। वे द्वैतका कट्टर विरोध करते हुअे वातें तो अद्वैतकी करते है, लेकिन आचरण सन्यासी तकका द्वैत तथा कर्मवैपम्यके अनुसार ही होता है। परिणाममें हम देखते है कि तत्त्वज्ञानका अद्वैत तक विकास होने पर भी अुससे भारतीय जीवनको कोअी लाभ नही हुआ। अुलटे, वह आचरणकी दुनियामें फंसकर छिन्न-भिन्न हो गया है। यह अेक ही दृष्टान्त तत्त्वज्ञान और धर्मकी दिशा अेक होनेकी जरूरत सिद्ध करनेके लिअे पर्याप्त है।

२. अच्छी-वुरी स्थिति, चढती-अुतरती कला और सुख-दुःखकी सार्वत्रिक विपमताका पूरा स्पष्टीकरण केवल अीश्वरवाद या व्रह्मवादमें मिल ही नही सकता था। अिसलिअे कैसा भी प्रगतिशील वाद स्वीकार करनेके वावजूद स्वाभाविक रीतिसे ही परंपरासे चला आने-वाला वैयक्तिक कर्मफलका सिद्धान्त अधिकाधिक दृढ होता गया। 'जो करता है वही भोगता है', 'हरअेकका नसीव जुदा है', 'जो वोता है वह काटता है', 'काटनेवाला और फल चखनेवाला अेक हो और वोनेवाला दूसरा हो यह वात असभव है'—अैसे अैसे खयाल केवल वैयक्तिक कर्मफलके सिद्धान्त पर ही रूढ हुअे है। और सामा-न्यत अुन्होने प्रजाजीवनके हर क्षेत्रमें अितनी गहरी जडें जमा ली है कि अगर कोअी यह कहे कि किसी व्यक्तिका कर्म केवल अुसीमे फल या परिणाम अुत्पन्न नही करता, परन्तु अुसका असर अुस कर्म करने-वाले व्यक्तिके सिवाय सामूहिक जीवनमें भी ज्ञात-अज्ञात रूपमे फैलता

है, तो वह समझदार माने जानवाले वर्गको भी चौंका देता है। और हरअेक सम्प्रदायके विद्वान् या विचारक अिसके विरुद्ध शास्त्रीय प्रमाणोका ढेर लगा देते है। अिसके कारण कर्मफलका नियम वैयक्तिक होनेके साथ ही सामूहिक भी है या नही, यदि न हो तो किस किस तरहकी असंगतिया और अनुपपत्तिया खडी होती है और यदि हो तो अुस दृष्टिसे ही समग्र मानव-जीवनका व्यवहार व्यवस्थित होना चाहिये या नही, अिस विषयमें कोअी गहरा विचार करनेके लिअे रुकता नही है। सामूहिक कर्मफलके नियमकी दृष्टिसे रहित कर्मफलके नियमने मानव-जीवनके अितिहासमें आज तक कौन कौनसी कठिनाअिया खडी की है और किस दृष्टिसे कर्मफलका नियम स्वीकार करके तथा अुसके अनुसार जीवन-व्यवहार बनाकर वे दूर की जा सकती है, अिस बात पर अिन लेखकोको छोड़कर किसी दूसरेने अितना गहरा विचार किया हो तो मै नही जानता। कोअी अेक भी प्राणी दुःखी हो, तो मेरा सुखी होना असंभव है। जब तक जगत् दुःखमुक्त नही होता, तब तक अरसिक मोक्षसे क्या फायदा? अिस विचारकी महायान भावना बौद्ध परंपरामें अुदय हुअी थी। अिसी तरह हरअेक सम्प्रदाय सर्व जगत्के क्षेम – कल्याणकी प्रार्थना करता है और सारे जगत्के साथ मैत्री करनेकी ब्रह्मवार्ता भी करता है। परन्तु यह महायान भावना या ब्रह्मवार्ता अंतमें वैयक्तिक कर्मफलवादके दृढ संस्कारके साथ टकराकर जीवन जीनेमें ज्यादा अुपयोगी सिद्ध नही हुअी है। पू० नाथजी और श्री मशरूवाला दोनो कर्मफलके नियमके बारेमें सामूहिक जीवनकी दृष्टिसे विचार करते है। मेरे जन्मगत और शास्त्रीय संस्कार वैयक्तिक कर्मफल-वादके होनेसे मै भी अिसी तरह सोचता था। परन्तु जैसे जैसे अिस पर गहरा विचार करता गया, वैसे वैसे मुझे लगने लगा कि कर्मफलका नियम सामूहिक जीवनकी दृष्टिसे ही विचारा जाना चाहिये और सामूहिक जीवनकी जिम्मेदारीके खयालसे ही जीवनका हरअेक व्यवहार व्यवस्थित किया तथा चलाया जाना चाहिये। जिस समय वैयक्तिक दृष्टिकी प्रधानता हो, अुस समयके चिन्तक अुसी दृष्टिसे अमुक नियमोकी रचना करे यह स्वाभाविक है। परन्तु अुन नियमोमें अर्थ-

विस्तारकी संभावना ही नही है, अैसा मानना देशकालकी मर्यादामें सर्वथा जकड जाने जैसा है। जव हम सामूहिक दृष्टिसे कर्मफलका नियम विचारते या घटाते हैं, तव भी वैयक्तिक दृष्टिका लोप तो होता ही नही; अुलटे सामूहिक जीवनमें वैयक्तिक जीवनके पूर्ण रूपसे समा जानेके कारण वैयक्तिक दृष्टि सामूहिक दृष्टि तक फैलती है और अधिक शुद्ध वनती हे। कर्मफलके नियमकी सच्ची आत्मा तो यही है कि कोअी भी कर्म निष्फल नही जाता और कोअी भी परिणाम कारणके विना अुत्पन्न नही होता। जैसा परिणाम वैसा ही अुसका कारण भी होना चाहिये। यदि अच्छे परिणामकी अिच्छा करनेवाला अच्छे कर्म नही करता, तो वह वैसा परिणाम नही पा सकता। कर्मफल-नियमकी यह आत्मा सामूहिक दृष्टिसे कर्मफलका विचार करने पर विलकुल लोप नही होती। केवल वैयक्तिक सीमाके वन्धनसे मुक्त होकर वह जीवन-व्यवहार गढनेमें सहायक वनती है। आत्म-समानताके सिद्धान्तके अनुसार विचार करे या आत्माद्वैतके सिद्धान्तके अनुसार विचार करे, अेक वात तो सुनिश्चित है कि कोअी व्यक्ति समूहसे विलकुल अलग न तो है और न अुससे अलग रह सकता है। अेक व्यक्तिके जीवन-अितिहासके लवे पट पर नजर दौडा-कर विचार करे, तो हमे तुरन्त दिखाअी देगा कि अुसके अूपर पड़े हुअे और पडनेवाले सस्कारोंमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे दूसरे असख्य व्यक्तियोके सस्कारोका हाथ है। और वह व्यक्ति जिन सस्कारोका निर्माण करता है, वे भी केवल अुसमें ही मर्यादित न रहकर समूहगत अन्य व्यक्तियोमें प्रत्यक्ष या परपरासे संचरित होते रहते है। वस्तुत. समूह या समष्टिका अर्थ है व्यक्ति या व्यष्टिका सपूर्ण जोड।

यदि हरअेक व्यक्ति अपने कर्म और फलके लिअे पूरी तरहसे जिम्मेदार हो और अन्य व्यक्तियोसे विलकुल स्वतत्र अुसके श्रेय-अश्रेयका विचार केवल अुसीके साथ जुडा हो, तो सामूहिक जीवनका क्या अर्थ है? क्योकि विलकुल अलग, स्वतत्र और अेक-दूसरेके असरसे मुक्त व्यक्तियोका सामूहिक जीवनमे प्रवेश केवल आकस्मिक ही हो सकता है। यदि अैसा अनुभव होता हो कि सामूहिक जीवनमे वैयक्तिक

जीवन विलकुल स्वतंत्र रूपमें जिया नही जाता, तो तत्त्वज्ञान भी अिसी अनुभवके आधार पर कहता है कि व्यक्ति-व्यक्तिके वीच चाहे जितना भेद दिखाअी दे, फिर भी हरअेक व्यक्ति किसी अैसे अेक जीवनसूत्रसे ओतप्रोत है कि अुसके द्वारा वे सव व्यक्ति आसपास अेक-दूसरेसे जुडे हुअे हैं। यदि अैसा है तो कर्मफलका नियम भी अिसी दृष्टिसे विचारा और लागू किया जाना चाहिये। अभी तक आध्यात्मिक श्रेयका विचार भी हरअेक सम्प्रदायने वैयक्तिक दृष्टिसे ही किया है। व्यावहारिक लाभालाभका विचार भी अिस दृष्टिके अनुसार ही हुआ है। अिसके कारण जिस सामूहिक जीवनको जिये विना काम चल नही सकता, अुसे लक्ष्यमें रखकर श्रेय या प्रेयका मूलगत विचार या आचार हो ही नही पाया। कदम कदम पर सामूहिक कल्याणको लक्ष्यमे रखकर वनाअी हुअी योजनाअे अिसी कारणसे या तो नष्ट हो जाती हैं या कमजोर होकर निराशामें वदल जाती हैं। विश्वशातिका सिद्धान्त निश्चित तो होता है, परन्तु वादमे अुसकी हिमायत करनेवाला हरअेक राष्ट्र वैयक्तिक दृष्टिसे ही अुस पर विचार करता है। अिससे न तो विश्वशांति सिद्ध होती है और न राष्ट्रीय समृद्धि स्थिर होती है। यही न्याय हरअेक समाज पर भी लागू होता है। अव यदि सामूहिक जीवनकी विशाल और अखण्ड दृष्टिका विकास किया जाय और अुस दृष्टिके अनुसार हर व्यक्ति अपनी जिम्मेदारीकी मर्यादा वढावे तो अुसके हिताहित दूसरेके हिताहितोके साथ टकराने न पावें। और जहा वैयक्तिक नुकसान दिखाअी देता हो वहा भी सामूहिक जीवनके लाभकी दृष्टि अुसे सतुष्ट रखे। अुसका कर्तव्यक्षेत्र विस्तृत वने और अुसके सम्वन्ध अधिक व्यापक वनने पर वह अपनेमें अेक *भूमा* *को देखे।

३. दुखसे मुक्त होनेके विचारमें से ही अुसका कारण माने गये कर्मसे मुक्त होनेका विचार पैदा हुआ। अैसा माना गया कि कर्म, प्रवृत्ति या जीवन-व्यवहारकी जिम्मेदारी स्वयं ही वंधनरूप है। जव तक अुसका अस्तित्व है, तव तक पूर्ण मुक्ति सर्वथा असंभव है। अिसी धारणामे से पैदा हुअे कर्ममात्रकी निवृत्तिके विचारसे श्रमण

* परमात्मवुद्धि।

परंपराका अनगार-मार्ग और संन्यास परंपराका वर्ण-कर्म-धर्म-संन्यास-मार्ग अस्तित्वमें आया। परन्तु अिस विचारमें जो दोष था, वह धीरे धीरे ही सामूहिक जीवनकी निर्बलता और लापरवाहीके रास्तेसे प्रकट हुआ। जो अनगार होते है या वर्ण-कर्म-धर्म छोडते है, अुन्हें भी जीना होता है। अिसका फल यह हुआ कि अैसोका जीवन अधिक मात्रामें परावलवी और कृत्रिम वना। सामूहिक जीवनकी कड़ियां टूटने और अस्तव्यस्त होने लगी। अिस अनुभवने यह सुझाया कि केवल कर्म वंधन नही है; परन्तु अुसके पीछे रही हुअी तृष्णावृत्ति या दृष्टिकी सकुचितता और चित्तकी अशुद्धि ही वंधनरूप है। केवल वही दुःख देती है। यही अनुभव अनासक्त कर्मवादके द्वारा प्रतिपादित हुआ है। अिस पुस्तकके लेखकोने अिसमे संशोधन करके कर्मशुद्धिका अुत्तरोत्तर प्रकर्ष साधने पर ही भार दिया है, और अुसीमें मुक्तिका अनुभव करनेका अुन्होने प्रतिपादन किया है। पांवमे सूअी लग जाने पर कोअी अुसे निकाल कर फेंक दे तो आम तौर पर कोअी अुसे गलत नही कहता। परन्तु जव सूअी फेकनेवाला वादमें सीनेके और दूसरे कामके लिअे नअी सूअी ढूढ़े और अुसके न मिलने पर अधीर होकर दु:खका अनुभव करे, तो समझदार आदमी अुसे जरूर कहेगा कि तूने भूल की। पांवमें से सूअी निकालना ठीक था, क्योकि वह अुसकी योग्य जगह नही थी। परन्तु यदि अुसके विना जीवन चलता ही न हो तो अुसे फेंक देनेमें जरूर भूल है। ठीक तरहसे अुपयोग करनेके लिअे योग्य रीतिसे अुसका संग्रह करना ही पांवमें से सूअी निकालनेका सच्चा अर्थ है। जो न्याय सूअीके लिअे है, वही न्याय सामूहिक कर्मके लिअे भी है। केवल वैयक्तिक दृष्टिसे जीवन जीना सामूहिक जीवनकी दृष्टिमें सूअी भोकनेके वरावर है। अिस सूअीको निकालकर अुसका ठीक तरहसे अुपयोग करनेका मतलव है सामूहिक जीवनकी जिम्मेदारीको वुद्धिपूर्वक स्वीकार करके जीवन विताना। अैसा जीवन ही व्यक्तिकी जीवन्मुक्ति है। जैसे जैसे हर व्यक्ति अपनी वासना-शुद्धि द्वारा सामूहिक जीवनका मैल कम करता जाता है, वैसे वैसे सामूहिक जीवन दु:खमुक्तिका विशेप अनुभव करता है। अिस प्रकार विचार

करने पर कर्म ही धर्म बन जाता है। अमुक फलका अर्थ है रसके साथ छिलका भी। छिलका नही हो तो रस कैसे टिक सकता है? और रसरहित छिलका भी फल नही है। अुसी तरह धर्म तो कर्मका रस है। और कर्म सिर्फ धर्मकी छाल है। दोनोका ठीक तरहसे समिश्रण हो, तभी वे जीवनफल प्रकट कर सकते हैं। कर्मके आलबनके बिना वैयक्तिक तथा सामूहिक जीवनकी शुद्धि-रूप धर्म रहेगा ही कहा? और अैसी शुद्धि न हो तो क्या अुस कर्मकी छालसे ज्यादा कीमत मानी जायगी? अिस तरहका कर्मधर्म-विचार अिन लेखकोके लेखोमें ओतप्रोत है। अुसके साथ विशेषता यह है कि मुक्तिकी भावनाका भी अुन्होने सामुदायिक जीवनकी दृष्टिसे ही विचार किया है और अुसी दृष्टिसे अुसे मनुष्य-जीवन पर लागू किया है।

कर्म-प्रवृत्तियां अनेक तरहकी है। परन्तु अुनका मूल चित्तमें है। किसी समय योगियोने विचार किया कि जब तक चित्त है, तब तक विकल्प अुठते ही रहेगे। और विकल्पोंके अुठने पर शातिका अनुभव नही हो सकता। अिसलिअे 'मूले कुठारः' के न्यायको मानकर वे चित्तका विलय करनेकी ओर ही झुके। और अनेकोने यह मान लिया कि चित्तविलय ही मुक्ति है, और वही परम साध्य है। मानवताके विकासका विचार अेक ओर रह गया। यह भी बधनरूप माने जानेवाले कर्मको छोड़नेके विचारकी तरह भूल ही थी। अिस विचारमें दूसरे अनुभवियोने सुधार किया कि चित्तविलय मुक्ति नही है; परन्तु चित्तशुद्धि ही मुक्ति है। दोनो लेखकोका कहना यह है कि चित्तशुद्धि ही शांतिका अेकमात्र मार्ग होनेसे वह मुक्ति अवश्य है; परन्तु सिर्फ वैयक्तिक चित्तकी शुद्धिमे पूर्ण मुक्ति मान लेनेका विचार अधूरा है। सामूहिक चित्तकी शुद्धिको बढ़ाते जाना ही वैयक्तिक चित्तशुद्धिका आदर्श होना चाहिये, और यह हो तो किसी दूसरे स्थानमे या लोकमे मुक्तिधाम माननेकी या अुसकी कल्पना करनेकी बिलकुल जरूरत नही है। अैसा धाम तो सामूहिक चित्तशुद्धिमें अपनी शुद्धिका हिस्सा मिलानेमे ही है।

४ हरअेक सम्प्रदायमें सर्वभूतहित पर भार दिया गया है। परन्तु व्यवहारमे मानव-समाजके हितका भी शायद ही पूरी तरहसे

अमल देखनेमें आता है। अिसलिअे प्रश्न यह है कि पहले मुख्य लक्ष्य किस दिशामें और किस ध्येयकी तरफ दिया जाय। दोनो लेखकोकी विचारसरणी स्पष्ट रूपसे कहती है कि पहले मानवताके विकासकी ओर लक्ष्य दिया जाय और अुसके मुताबिक जीवन विताया जाय। मानवताके विकासका अर्थ है — आज तक अुसने जो जो सद्‌गुण जितनी मात्रामे साधे हैं, अुनकी पूर्णरूपसे रक्षा करना और अुनकी मददसे अुन्ही सद्‌गुणोमें ज्यादा शुद्धि करके, नवीन सद्‌गुणोका विकास करना, जिससे मानव-मानवके बीच द्वंद्व और शत्रुताके तामस वल प्रकट न होने पावें। अिस तरह जितनी मात्रामे मानव-विकासका ध्येय सिद्ध होता जायगा, अुतनी मात्रामें समाज-जीवन सुसवादी और सुरीला वनता जायगा। अुसका प्रासगिक फल सर्वभूतहितमें ही आनेवाला है। अिसलिअे हरअेक साधकके प्रयत्नकी मुख्य दिशा तो मानवताके सद्‌गुणोंके विकासकी ही रहनी चाहिये। यह सिद्धान्त भी सामूहिक जीवनकी दृष्टिसे कर्मफलका नियम लागू करनेके विचारमें से ही फलित होता है।

अूपरकी विचारसरणी गृहस्थाश्रमको केन्द्रमे रखकर ही सामुदायिक जीवनके साथ वैयक्तिक जीवनका सुमेल साधनेकी वात कहती है। यह अैसी सूचना है जिसका अमल करनेसे गृहस्थाश्रममें ही वाकीके सव आश्रमोके सद्‌गुण साधनेका मौका मिल सकता है। क्योंकि अुसमे गृहस्थाश्रमका आदर्श अिस तरह वदल जाता है कि वह केवल भोगका धाम न रहकर भोग और योगके सुमेलका धाम वन जाता है। अिसलिअे गृहस्थाश्रमसे अलग अन्य आश्रमोका विचार करनेकी गुजाअिश ही नही रहती। गृहस्थाश्रम ही चारो आश्रमोके समग्र जीवनका प्रतीक वन जाता है। और वही नैसर्गिक भी है।

श्री मशरूवालाका अेक निराला व्यक्तित्व अुनके लेखोसे प्रकट होता है। अिन लेखोंके पठन और मननसे मुझे यह विश्वास हो गया है कि अुनमें किसी अन्त प्रज्ञाकी अखण्ड धारा वहती रहती है। यह चित्तशुद्धिकी साधनाकी अमुक भूमिकामें प्रकट होनेवाला सत्यमुखी प्रज्ञोदय है। अुनकी कुछ लाक्षणिकता तो चौंधिया देनेवाली होती है। जव वे तत्त्वचिन्तनके गहरे प्रदेशमे अुतर कर

अपनी वातको स्पष्ट करनेके लिअे किसी अुपमाका प्रयोग करते हैं, तव वह पूर्णोपमाकी कोटिकी होती है और अुस स्थानका लेखन गभीर तत्त्वचितन-प्रधान होने पर भी सुदर और सरल साहित्यिक नमूना वन जाता है। अिसके दो-अेक अुदाहरण लीजिये :—पृष्ठ ४० पर गगाप्रवाहको अखड रखनेके लिअे अपने जीवनका वलिदान देनेवाले जलकणका दृष्टान्त। और चित्तकी स्थितिका चित्रण करनेके समय प्रयुक्त जगलमें अुगे हुअे झाड-झांखरोका दृप्टान्त (पृष्ठ–१३०)। अैसे तो पाठकोको अनेक दृष्टान्त मिलेगे और वे चिन्तनका भार हलका करके चित्तको प्रसन्न भी करेगे। जव वे किसी पद्यकी रचना करते हैं, तव अैसा लगता है मानो वे कोअी मार्मिक कवि हैं। अिसका दृप्टान्त पृष्ठ ५० पर है। 'जगमे जीना दो दिनका' अिस ब्रह्मानदकी कडीका कटाक्षपूर्वक रहस्य खोलकर अुन्होने जिस नवीन भजनकी रचना की है, अुसका भाव और भाषा जो कोअी देखेगा वह मेरे अिस कथनकी यथार्थता समझ सकेगा। प्राचीन भक्तो या प्राचीन शास्त्रोके अुद्गारोका गहरा रहस्य वे किस तरह प्रकट करते हैं, अिसका नमूना पृष्ठ ३८ पर मिलेगा। अुसमे 'हसलो नानो ने देवळ जूनु तो थयु' अिस मीराकी अुक्तिका अुन्होंने अितना अधिक गभीर रहस्य प्रकट किया है और अुसे गीताके 'आपूर्यमाणमचलप्रतिप्ठ' श्लोकके रहस्यके साथ अैसा सवादी वनाया है कि अुसके पठन और मननसे तृप्ति होती ही नही। वार वार अुसके सवादकी गूज चित्तके अूपर अुठती ही रहती है।

श्री मशरूवालाके सारे लेखोमें ध्यान खीचनेवाली नीरक्षीर-विवेकी लाक्षणिकता यह है कि वे विरासतमें मिली हुअी या दूसरी किसी भी परंपरामे से सार-असारको वडी खूवीसे निकाल लेते हैं और सार भागको जितनी सरलतासे अपना लेते हैं, अुतनी ही कठोरतासे असार भागके मूल पर कुठाराघात भी करते हैं।

अैसी यहां कितनी ही वातें दिखाअी जा सकती है, परन्तु अंतमे तो विराम लेना ही होगा।

अहमदावाद, २८ मार्च, १९४८ — सुखलाल

अनुक्रमणिका

चौथा भाग : पूज्य नाथजीकी पूर्ति

संसार और धर्म

पहला भाग

संसार

१

तत्त्वज्ञानके मूल प्रश्न[1]

माघ सुदी १३, शुक्रवार
(ता० ६-२-१९२५)

भाअी श्री नगीनदास,[2]

आपका लेख और पत्र मै पढ़ गया। आपके प्रश्नोका अुत्तर दूं अुसके बजाय यह ज्यादा ठीक होगा कि तत्त्वज्ञानके विषयमे मेरी दृष्टि स्पष्ट करू और अुस परसे आपके प्रश्नोंके अुत्तर आप ढूढ़ लें। मेरा खयाल है कि अिसीमे से आपके प्रश्नोंके अुत्तर मिल जायेंगे।

आपके दोनो प्रश्नोंके मूलमें अेक वस्तु समान रूपसे मान ली गअी मालूम होती है। वह यह है कि तत्त्वज्ञानकी अुत्पत्ति जीवनकी निष्फलतामें से हुअी है, फिर चाहे यह तत्त्वज्ञान आश्वासन प्राप्त करनेके लिअे मनुष्य द्वारा की हुअी कल्पना हो या ढूढ़ा हुआ सत्य हो।

मुझे यह पूर्वग्रह गलत मालूम होता है। जिसे हम सासारिक दृष्टिसे पूर्णतः सफल मनुष्य कह सकते है, वही यदि गहरा अवलोकन व तुलना करनेवाला तथा विवेकशील भी हो, तो तत्त्वज्ञानकी शोध करनेवाला या अुसकी वृद्धि करनेवाला हो सकता है। जिस तरह भौतिक प्रकृतिगत नियमोकी शोधके लिअे अलग-अलग दृष्टिसे किये गये प्रयोगोमें से ही पदार्थविज्ञान, रसायन अित्यादि शास्त्रोंकी

---

१. विद्यार्थियोकी ओरसे पूछे गये सवालोंके लेखक द्वारा दिये गये जवाब।

२ श्री नगीनदास पारेख, अुस समय 'साबरमती' मासिकके सम्पादक।

अुत्पत्ति हुअी है, जिस प्रकार चित्त-प्रकृतिके नियमोकी शोधमे से योगशास्त्रकी अुत्पत्ति हुअी है, अुसी प्रकार अलग-अलग दृष्टिसे प्रकृति-मात्रका अत ढूढनेके प्रयासोमे से तत्त्वज्ञानकी अुत्पत्ति हुअी है। जिस प्रकार पदार्थविज्ञान अित्यादि भौतिक शास्त्रोका तथा योगशास्त्रका क्रमश. अधिक विकास हुआ है और होता जाता है, अुसी प्रकार तत्त्वज्ञानका भी विकास हुआ है, होता जाता है और होता रहना चाहिये। क्या पदार्थविज्ञानको न समझ सकनेवाला मनुष्य भौतिक विद्याका या चित्तको न समझ सकनेवाला मनुष्य योगशास्त्रका अधिक विकास कर सकता है? अुसी प्रकार जीवनको न समझ सकनेवाला और जीवनको अपनी अिच्छानुसार न मोड सकनेवाला मनुष्य तत्त्वज्ञानका अधिक विकास कैसे कर सकता है? शकराचार्य, बुद्ध, सॉक्रेटीस, जनक, याज्ञवल्क्य, श्रीकृष्ण, व्यास अित्यादिका तत्त्वज्ञानके निर्माण और विकासमे महत्त्वपूर्ण भाग माना जाता है। अिनमें से किसका जीवन निष्फल था? अिसलिअे मै तो कहूगा कि जिसमें सांसारिक दृष्टिसे सफल होनेकी योग्यता है, वही — गभीर विचारक हो तो — तत्त्वज्ञानका अधिकारी हो सकता है, क्योकि अैसा व्यक्ति ही अतिशय पुरुषार्थी और आत्मविश्वासी होता है। जैसा कि महाराष्ट्रके सत स्वामी रामदासने कहा है, जिसे सीधा-सादा अपना व्यवहार भी ठीकसे चलाते नही आता, वह परमार्थ कैसे साध सकता है? (यद्यपि दूसरी जगह अुन्होने अैसा भी कहा है कि जो संसारके दु खसे अत्यत तप्त हो गया है, वही परमार्थका अधिकारी हो सकता है।)

परन्तु यह बात सच है कि हमारे देशमें तत्त्वज्ञान जीवनमें असफल रहनेवाले अैसे ही बहुतसे व्यक्तियोका आधार बना है। स्त्री बुरी निकली, पैसा बरबाद हो गया, मित्रोने धोखा दिया, आप्तजन मर गये, कामकाजमे सफलता नही मिली, तो चलो अब प्रभुकी शरणमे — अिस वृत्तिसे बहुतसे व्यक्ति अीश्वरके अथवा तत्त्वज्ञानके मार्गकी ओर मुडे है, यह सच है। अिस निमित्तसे भी अुन्होने जीवनके विषयमे कुछ सोचा-विचारा है और समझा है। यह भी सच है कि अिससे वे कुछ सत्यकी शोध कर सके और

आश्वासन प्राप्त कर सके। परन्तु ये वे लोग नहीं हैं, जिन्होंने तत्त्वज्ञानका विकास किया है, अुसमें शुद्धि-वृद्धि की है। रसायनशास्त्र या योगका सामान्य अभ्यास करनेवाले और अुसके शोधकमें जितना भेद है, अुतना ही भेद अिन दो प्रकारके तत्त्वज्ञानियोंमें है। अेकका प्रयत्न अभी तक हुअी शोधोंको समझ लेनेका है, दूसरेका अुन्हें समझकर अुसे आगे बढ़ानेका है।

अिस प्रकार तत्त्वज्ञान जीवनके मूल और अन्तकी खोजका अनुभवोंके आधार पर रचा गया शास्त्र है। जिस प्रकार भौतिक विद्याके सिद्धान्तोंकी अंतिम कसौटी प्रत्यक्ष प्रयोगसे होनेवाले अनुभवोंमें खरे अुतरनेसे होती है, अुसी प्रकार तत्त्वज्ञानके सिद्धान्तोंकी कसौटी भी प्रत्यक्ष अनुभवसे करनी चाहिये। जिस प्रकार भौतिक विद्याके सिद्धान्तोंकी सत्यताका प्रमाण प्रत्येक व्यक्ति माग या प्राप्त कर सकता है, अुसी प्रकार तत्त्वज्ञानके सिद्धान्तोंका प्रमाण भी प्रत्येक व्यक्ति माग या प्राप्त कर सकता है। जिस प्रकार भौतिक शास्त्रोंमें प्रयोग सिद्ध करनेके लिअे अध्यापकका आश्रय लेना होता है और अुसके अूपर श्रद्धा — अर्थात् प्रयोग सिद्ध करनेके लिअे लेने योग्य अुपायोंकी योजनाके लिअे अुसके वचनों पर विश्वास — रखना होता है, अुसी प्रकार तत्त्वज्ञानके सिद्धान्तोंका अनुभव लेनेके लिअे गुरुका आश्रय और अुस पर श्रद्धा आवश्यक होती है।

अब अिस प्रश्नका विचार करें कि तत्त्वज्ञान काल्पनिक आश्वासन है या सत्य सिद्धान्त है।

प्रत्येक शास्त्रको दो प्रकारकी क्रियाओंका विचार करना पड़ता है। अिन्द्रियगोचर क्रिया और अिन्द्रियातीत क्रिया। क्षारके कणमें से बिजली गुजरती नहीं है; परंतु अुसे पानीमें घोलनेसे अुसमें से बिजली गुजरती है। तेजकी किरणें सूर्यसे पृथ्वी तक आती हैं, अमुक वस्तुओंमें से पार हो जाती हैं, अमुकमें से नहीं होती हैं, अमुकमें से पीछे लौटती हैं, अमुकमें से तिरछी होती हुअी मालूम पड़ती हैं, तथा अमुक वस्तुमें से अेक प्रकारकी व्यवस्था करनेसे पार होती है

और दूसरी व्यवस्थासे पार नही होती। शब्दकी आवाज दूरसे आकर कानो पर टकराती है। ये सभी क्रियाअे अिन्द्रियगोचर हैं। यह अिन सब क्रियाओका अवलोकन हुआ। कितने पानीमें किस प्रकारका कितना क्षार गलानेसे विजलीका प्रवेश वहुत अच्छी तरहसे हो सकता है, कितने वेगसे किरणे आती है, किसमे से पार होती है, किस परसे लौट आती है, कहा कितनी तिरछी वनती है, किस प्रकारकी व्यवस्थामे किरणोका प्रतिवंध (polarisation) होता है; ध्वनिकी गतिया किस प्रकारकी है — अिन सवके नियम भी अिन्द्रियगोचर प्रयोगोसे खोजे और सिद्ध किये जा सकते हैं। परतु क्षारके द्रवमे से विजली किसलिअे गुजरती है, और क्षारके पानीमें गलनेसे अुसमे क्यो और कैसा परिवर्तन होता है, विजली किस प्रकारकी शक्ति है, तेजकी किरणोका रूप कैसा है, ध्वनिका रूप कैसा है — ये सव क्रियाअे और शक्तिया अिन्द्रियातीत हैं; अिसलिअे साधनोके विना अथवा साधनोकी सहायतासे भी अिन क्रियाओ या शक्तियोको प्रत्यक्ष नही कर सकते। (कमसे कम आज तक तो वे प्रत्यक्ष नही की जा सकी है।)

मानव वुद्धिको अेक वस्तुका निश्चय हो गया है। जो कुछ क्रिया होती है, शक्तिका जो कुछ दर्शन होता है, अुसके पीछे कार्यकारण-भाव होना ही चाहिये। अिसलिअे जो अिन्द्रियातीत क्रियाअे होती हैं, अुनमे भी कार्यकारण-भावकी कल्पना किये विना वुद्धिकी भूख तृप्त नही होती। जो कुछ गोचर हुआ है, अुसके अवलोकनके आधार पर वुद्धि अुसके अगोचर कारणोकी कल्पना करनेका प्रयत्न करती है। अैसा प्रयत्न किये विना मानव वुद्धिकी भूख तृप्त नही होती। फिर वह अिस वातकी जाच करती है कि अैसी युक्तिसंगत कल्पना द्वारा वह प्रत्येक अिन्द्रियगोचर क्रियाको किस हद तक समझा सकती है। कार्यकारण-भावको समझानेवाली अथवा विविध शक्तियोके स्वरूपका वर्णन करनेवाली अैसी कल्पना वाद (hypothesis, theory) कहलाती है। अिस प्रकार रसायनशास्त्रका अणुवाद (atomic theory) विद्युदणुवाद (ionic theory), विद्युत्कणवाद (electron theory), सूर्यमण्डलवाद (solar system theory), तेज तथा विजलीका तरगवाद (vibration

theory), शब्दका लोलवाद (undulation theory) अित्यादि वाद हैं। अमुक अिन्द्रियगोचर क्रियाओंके पीछे रही अगोचर क्रियाओंको समझानेके लिअे रचे गये ये बुद्धिवाद हैं, कल्पनाअें हैं। ये अैसी ही है, अिसका कोअी सबूत नहीं दिया जा सकता। जहां तक अिन कल्पनाओंसे सारी प्रत्यक्ष क्रियाओंका बुद्धिको संतोष देनेवाला खुलासा मिल सकता है, वहा तक अुस अुस विज्ञानके शास्त्री अुनका अुपयोग करते हैं। जब अैसी किसी क्रियाका खुलासा अुस कल्पना द्वारा नहीं होता है, तब वह अुस कल्पनाको छोडकर विशेष युक्तिसगत कल्पना करनेके लिअे प्रयत्नशील होता है। परतु अैसे चाहे जिस वादका आधार विज्ञानशास्त्री ले, तो भी वह कभी किसी वादको सिद्ध नियम माननेकी भूल नहीं करता। वह किसी अेक वादको कभी अैसे दुराग्रहसे पकड नहीं रखता कि आवश्यकता पडने पर अुसका त्याग न कर सके।

जो बात भौतिक शास्त्रोंके विषयमें सत्य है, वह तत्त्वज्ञानके विषयमें भी सत्य है। जीवनकी कुछ घटनाअें और अुनके कारण हम प्रत्यक्ष अनुभवके द्वारा जानते हैं; कुछ घटनाओंको हम जानते हैं, परतु अुनके कारण अप्रकट रहते हैं। अिन अप्रकट कारणोंके स्वरूपको ढूढ़नेका प्रयत्न करनेवाली बुद्धिमें से विविध प्रकारके वाद पैदा होते हैं। अिस प्रकार मायावाद, लीलावाद, विवर्तवाद, पुनर्जन्मवाद, आनुवशवाद, विकासवाद, बंधन-मोक्षवाद — अित्यादि सब वाद जीवनमें दीखनेवाली प्रत्यक्ष घटनाओंके अप्रत्यक्ष कारणोंको समझानेवाली कल्पनाअें हैं। जो वाद जितने अंश तक अधिकसे अधिक घटनाओंको युक्तिसंगत रीतिसे और सरलतासे समझाता है, अुतने ही अंश तक वह वाद अधिक ग्राह्य माना जाता है। परतु चाहे जितने समय तक यह वाद ग्राह्य रहे, तो भी यह न भूलना चाहिये कि वह अेक वाद ही है। और जिस प्रकार रसायनशास्त्रका वाद जब तक वह प्रत्येक रसायन क्रियाका खुलासा दे सकता है तभी तक ग्राह्य रहता है, और अुनका स्वीकार प्रत्यक्ष क्रियाओंको समझने तथा अुन पर लागू करनेके लिअे ही रसायनशास्त्री करता है तथा अुसकी दृष्टि अुस वादके प्रत्यक्ष प्रमाण

प्राप्त करके अुन्हे सिद्धान्तके रूपमे स्थापित करनेकी ओर रहती है, अुसी प्रकार तत्त्वज्ञानके वाद भी जिस हद तक प्रत्यक्ष जीवनकी घटनाओंको समझानेमे अुपयोगी हो और प्रत्यक्ष जीवन पर संतोषपूर्वक लागू किये जा सके, अुसी हद तक और अुसी हेतुके लिअे स्वीकार करने लायक है।

यहा तक भौतिक विज्ञान और तत्त्वज्ञानके वीचमे समानता वतलाअी। परंतु तत्त्वज्ञानके विकासमें कितनी ही दूसरी कठिनाअियां आती है, जो कि भौतिक विज्ञानके विकासमें नही आती। अिसका कारण यह है कि भौतिक विज्ञानका सीधा संवंध वाह्य पदार्थोंके साथ है। सुवर्णको अेक स्वतंत्र तत्त्व मानिये या किसी अेक तत्त्व और विद्युत्कण (electron) का सूर्य-मण्डल मानिये, अिससे हमारे और सुवर्णके वीचके व्यवहारमें कोअी अंतर नहीं पडता। परंतु तत्त्वज्ञानका जीवनके साथ सीधा संवंध है। यदि आप चार्वाकवादको मानते है तो जीवनकी रचना अमुक प्रकारसे होगी; मायावादको मानते है तो दूसरी तरहसे; लीलावादको मानते हैं तो तीसरी तरहसे; समवादको मानते है तो अेक प्रकारसे, विषमवादको मानते हैं तो दूसरे प्रकारसे। कर्मवादको मानते हैं तो अेक तरहसे, निष्कर्म-वादको मानते है तो दूसरी तरहसे। अिस प्रकार आप जो वाद स्वीकार करते हैं, अुसके अनुसार आपके जीवनकी रचना जल्दी या देरीसे होने ही वाली है। अुसके अूपर आपके सुख, भोग, अैहिक अुन्नति अित्यादिका ही नहीं, परंतु आपके चित्तकी समता और शांतिका भी आधार रहेगा।

सुवर्णकी तरह जीवनको अेक वाह्य पदार्थ मानकर अुसका अवलोकन और अध्ययन नहीं किया जा सकता। अिसलिअे जीवनके तत्त्वकी शोध अतिशय कठिन होती है। जीवन कठिनाअीसे छोड़ी जा सकनेवाली अनेक वृत्तियों, वासनाओं, संस्कारो, लालसाओं, भयो अित्यादिसे अितना रंगा हुआ होता है कि भौतिक शास्त्रीकी तरह केवल तटस्थ रूपसे जीवन-सम्बन्धी सत्यकी खोज नही हो सकती। जीवनके विषयमें सत्य तत्त्वज्ञान क्या है, यह जाननेके वदले वुद्धिका झुकाव निरंतर अैसा तत्त्वज्ञान खोजनेकी

तरफ होता है, जो छोडी न जा सकनेवाली वृत्तियो, वासनाओ आदिको युक्तिसगत और अुचित ठहरावे। अिसके परिणामस्वरूप अूपर गिनाअी हुअी कार्यकारण-भावोको समझानेका प्रयत्न करनेवाली वादोकी कल्पनाओके अतिरिक्त अनेक प्रकारकी चित्ताकर्षक कल्पनाअें अुत्पन्न होती है और वे तत्वज्ञानका रूप ले लेती है। स्वर्गलोग, तपोलोक, गोलोक, वैकुण्ठ, अक्षरधाम जैसे अेकसे अेक वढकर स्वर्गो, प्रलयके समय होनेवाले न्याय वगैराकी विविध प्रकारकी कल्पनाअे अिसी प्रकारकी चित्तके रगमे रगी हुअी कल्पनाअे है। ये कल्पनाअें रम्य है, पर तत्वज्ञान नही है। और न सिर्फ वे सत्य नही है, वल्कि सत्यको जाननेमें विघ्न-रूप है। परन्तु अिस प्रकारकी कल्पनाअें अेक प्रकारसे निर्दोष है, क्योकि अुनका सीधा सम्बन्ध आजके प्रत्यक्ष और व्यक्त जीवनके साथ नही होता, वल्कि वहुधा मृत्युके पीछेकी स्थितिके साथ होता है; और अिसके कारण अिन कल्पनाओमे श्रद्धा रखनेवालोमे कुछ आशाका सचार होता है, और श्रद्धालुओमे जितनी निर्मलता होती है, अुतनी वे अुन्हे अुन्नत करनेवाली भी होती है। अिसके सिवा अिन कल्पनाओका तत्त्वज्ञानके साथ दूरका सम्बन्ध भी है, क्योकि अिनमे मृत्युके वादकी स्थितिका तत्त्वदृष्टिसे अनुमान करनेका प्रयत्न है। अैसे कल्पनायुक्त तत्त्वज्ञानके विपयमे यह कहा जा सकता है कि वह अेक मनोरम स्वप्न है। परन्तु चित्तके रगसे रगी हुअी और तत्त्वज्ञानके नामसे पहचानी जानेवाली अैसी भी कल्पनाअे है, जिनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष और व्यक्त जीवनके साथ होनेके कारण वे अितनी निर्दोष नही कही जा सकती। अुदाहरणार्थ, सुख, अैश्वर्य, ऋद्धि-सिद्धि, सौदर्य, आनन्द अित्यादिकी लालसा। ये भी चित्तकी अैसी वृत्तिया है जो छोडी नही जा सकती; और वुद्धिका झुकाव अिन सवको न्याय्य और योग्य ठहरानेवाले तत्त्वज्ञानको ढूढनेकी ओर होता है। सत्यको खोज कर अुसमे जितना शिवत्व, सौदर्य और आनद होता है, अुतनेसे अुसे सतोष नही होता। परन्तु चित्तको जो शिव, सुन्दर और आनन्दरूप लगता है वह सत्य भी है, अैसा निश्चित करनेके लिअे वह प्रयत्नशील रहती है। अुसके सिद्धान्त भी तत्त्वज्ञानके नामसे पहचाने जाते है, परन्तु वे अक्षरधामकी कल्पनाकी अपेक्षा भी

सत्यसे अधिक वचित रखनेवाले हैं; क्योकि अुनमे सत्यकी जिज्ञासा या शोध नही, वल्कि पूर्वग्रहोको न छोड़नेका आग्रह है।

अिसके अलावा तत्त्वज्ञानकी शुद्धि-वृद्धिमे अेक दूसरा भी पूर्वग्रह वाधक होता है । भौतिक विद्याका सशोधक अपने-आपको अिस प्रकार सीमामें वाध नही लेता कि मै अिसका सशोधन अग्रेजी पुस्तको द्वारा ही करूंगा, या सस्कृत शास्त्रोके द्वारा ही करूगा; अथवा अिसमे डॉल्टनके मतको या केल्विनके मतको अैसा प्रमाणभूत मानूगा कि अुनके कहे हुअे अेक भी शब्दकी सत्यासत्यता विचारनेका साहस या पाप मै नही करूगा; अथवा अमुक अेक पुस्तकने अिस विद्याका पूर्ण सशोधन कर डाला है, अिसलिअे अव अिन पुस्तकोका अध्ययन करना, अिनका अर्थ लगाना, और अिन्हें समझानेके लिअे अिन पर भाष्योकी रचना करना ही मेरा कर्तव्य रह जाता है। परन्तु भौतिक-शास्त्री अैसा कहता है कि मै भाषा या नीतिका अभिमान करने नही वैठा हू, वल्कि पदार्थोकी खोज करने वैठा हू, मै मतोकी पूजा करने नही वैठा, वल्कि सत्यकी शोध करने वैठा हू, और शास्त्रोका विकास करने नही वैठा, वल्कि विद्याका विकास करने वैठा हू। अिसलिअे मै प्रत्येक पुस्तकका प्रत्येक वाक्य पढूगा, अुस पर विचार करूगा, परन्तु प्रमाणके विना अुसे नही मानूगा । तत्त्वज्ञान्के विषयमे हमारी वृत्ति अिससे अुलटी होती है। प्रत्येक प्रजाने अपने तत्त्वज्ञानके विषयमे अैसा माना है कि अुसमे पहलेके ऋषि-मुनियो या पैगम्वरोने सव पूर्ण कर रखा है, अुसमे अव संशोधन या परिवर्धनका अवकाश ही नही है, अुनके वचनो पर शका अुठानी ही नही चाहिये। अव तो अुनके वाक्योका जहा असम्वद्ध अर्थ लगे वहा अुनका सुसवद्ध अर्थ निकालनेका, अुन्हें विस्तारसे समझानेका, हो सके तो सवका मत अेक ही है अैसा सिद्ध करनेका और नही तो किसी अेकको स्वीकार करके अुसका दर्शन स्वीकार करनेका काम वाकी रहता है। अिस प्रकार तत्त्वज्ञान अेक फलती-फूलती विद्या मिटकर केवल शास्त्रार्थ करनेका विषय वन जाता है। मै डॉल्टन मतका रसायनशास्त्री हू और मै केल्विन मतका रसायनशास्त्री हू, अैसा कोअी विज्ञानशास्त्री नही कहता; परन्तु तत्त्वज्ञानी शांकर, रामा-

नुजी, अिस्लामी, अीसाअी अित्यादि मतोका ही कहलानेमें गर्व मानता है। यदि अिन सबका मत अेक हो तो अमुकका कहलानेमे कुछ अर्थ नही है; और सबका मत अेक न हो तो साफ है कि अिनमे से प्रत्येकका मत सत्य नही हो सकता और कदाचित् सबके मतमे कुछ भूल या कुछ सत्य दृष्टि होनी चाहिये। तो सत्यके शोधकके नाते तत्त्वज्ञानीका यही धर्म हो सकता है कि वह प्रत्येक मतको कसौटी पर चढावे। पूर्वके शास्त्रो और अुनके प्रणेताओके विषयमे सम्पूर्ण आदर रखते हुअे भी वह यह आग्रह नही रख सकता कि किसीके वाक्यको कसौटी पर चढाया नही जा सकता। फिर भी तत्त्वज्ञानके विषयमें अैसा हुआ है। हमारे देशमे अुपनिषद्-कालके बाद मानो अिस विद्याकी समाप्ति हो गअी है। बादमे वेद और अुपनिषद् विद्या पर केवल सूत्र रचने, भाष्य करने, टीकाये करने, अुनका स्पष्टीकरण करनेके लिअे पुराण रचने, कथाअे जोडने और अुनका अध्ययन कर करके अलग-अलग अर्थोकी समालोचना करनेमे ही तत्त्वज्ञानियो या पडितोने अपनी कृतकर्तव्यता समझ ली है। विद्याकी शुद्धि-वृद्धि लगभग रुक गअी है। क्योंकि शोधनकी वृत्तिमे ही नास्तिकता समझी जाती है। और यदि किसीने कुछ जोडा भी है तो वह पीछेके द्वारसे, अर्थात् प्राचीनमे से ही अपने अनुकूल ध्वनि निकलती है अैसा बतलानेका प्रयास करके। जैसा हमारे देशमें है, वैसा ही मुसलमान या अीसाअी धर्मोमे भी है। जिस प्रकार भौतिक विद्याये किसी देश या धर्मकी खास बपौती नही है, अुसी प्रकार तत्त्वज्ञान भी सार्वजनिक विद्या है, यह हमारे यहा स्वीकार नही किया गया। अिससे न सिर्फ तत्त्वज्ञानकी शुद्धि-वृद्धि रुक गअी है, बल्कि जीव सदैव भ्रमयुक्त ही रहता है।

भौतिक विद्याअें दिनोदिन आगे बढती जाती है, परन्तु अिसका यह अर्थ नही कि पुरातनकालकी भौतिक विद्याअें बिलकुल असत्य ठहरती है। प्रकृतिके कुछ नियमोंके ज्ञानकी शोध अवश्य अितने प्राचीन कालमें हुअी थी कि सदियोंकी प्रगतिके बाद भी यह कहनेका प्रसग नहीं आता कि वह ज्ञान भ्रमात्मक है। अिसके विपरीत जैसे जैसे काल

बीतता जाता है, वैसे वैसे अुसकी सत्यताके विषयमे अधिक विश्वास होता जाता है। जितना सत्य अिस श्रेणीका होता है, अुसमे किसी भी प्रकारके संशोधन-परिवर्धनकी आवश्यकता नही रहती; परन्तु अिस विद्याकी शुद्धि-वृद्धिका अर्थ है पहलेकी शोधोमे रही हुअी भूलकी शुद्धि और अविकसित क्षेत्रका विकास। अिसी प्रकार तत्त्वज्ञानमे भी कुछ सनातन सत्योकी शोध अितने लबे कालसे हुअी है कि जैसे जैसे काल व्यतीत होता जाता है, वैसे वैसे अुनकी प्रतीति दृढ होती जाती है। अुस शोधमे संशोधन-परिवर्धनके लिअे अवकाश नही है। परन्तु अुसके क्षेत्रमे आनेवाले कुछ विषयोमे भूल और अज्ञानके होनेकी सभावना अवश्य है। अिस भूलकी शुद्धि और अज्ञात विषयोका शोधन—यह तत्त्वज्ञानकी शुद्धि-वृद्धि है।

तत्त्वज्ञानके विषयमे अेक दूसरा भी वहम है, जिसके कारण सामान्य मनुष्य तत्त्वज्ञानीके विषयमे विचित्र भ्रान्त धारणाये रखते है और तत्त्वज्ञानमे भी विचित्र कल्पनाअे घुस जाती है। रसायन-शास्त्री जब हीरे और कोयलेको अेक तत्त्व कहता है, तब किसीको अैसा नही लगता कि अुसकी दृष्टिमें हीरा काला अथवा कोयला सफेद दिखाअी देता होगा, अथवा वह हीरेको कोयलेके मूल्यमे खरीदने या बेचनेके लिअे तैयार होगा। परन्तु जब तत्त्वज्ञानी कहता है कि जगत्का तत्त्व अेक ही है, अथवा यह कहता है कि दृश्य जगत्का स्वरूप माया या कल्पना है, तब सामान्य मनुष्य अैसा मानते है कि अुसे हीरा या कोयला अेकसा ही दिखाअी देता होगा अथवा अुसे आखोके सामनेकी दीवाल दिखाअी ही नही देती होगी! अलबत्ता, अैसा खयाल पैदा करानेके लिअे तत्त्वज्ञानकी निरूपण-पद्धति ही जिम्मेदार है; और अैसा गलत खयाल पैदा हो सकता है, अिसीलिअे मैं कहता हू कि अुसमे शुद्धि-वृद्धिकी गुजाअिश है। वस्तुत. रसायनशास्त्री अपने गहरे अवलोकन, प्रयोग और विचारसे अूपरसे अत्यत भिन्न दिखाअी देनेवाले हीरे और कोयलेके बीचकी वह अेकरूपता देखता है, जो छिछली दृष्टिवाले साधारण मनुष्यको नही दिखाअी देती। यही बात तत्त्वज्ञानके विषयमें भी है। रसायनशास्त्रीको मालूम होनेवाली हीरे और कोयलेकी अेक-

तत्त्वता काल्पनिक नही है, अथवा अुसके शब्दो पर आप श्रद्धा रखें तभी अुसे देख सकते है अैसा भी नही है, वह आपको प्रयोगोंके द्वारा यह अेकरूपता सिद्ध कर दिखाता है। यही पद्धति तत्त्वज्ञानके विषयमे भी है और होनी चाहिये। अूपरी दृष्टिसे जिन धर्मोकी शोध नही हो सकती, अुनकी शोध गहरे अवलोकनके द्वारा करना और अिस अवलोकनके परिणामोंको पद्धतिपूर्वक बतलाना, अिसीका नाम शास्त्र है। तत्त्वज्ञानके विषयमें यह नही समझा गया, अिसीलिअे श्रद्धाका विचित्र अर्थ किया गया है; और सबके अनुभवमे नही आनेवाली और न आ सकनेवाली कितनी ही कल्पनाओंको श्रद्धाके विचित्र प्रयोगसे सिद्ध करनेका प्रयत्न हुआ है। अैसी अैसी जितनी बाते तत्त्वज्ञानमें मिल गअी है, वे सब शास्त्र नही बल्कि (अधिकतर चित्ताकर्षक) कल्पनाये है।

हमारे यहा यह कहनेकी प्रथा है कि भौतिकशास्त्रो और तत्त्वज्ञानके बीच अुत्तर-दक्षिणके जैसा विरोध है। अिसे मैं गलत मानता हूं। दोनोमें अितना ही भेद है कि भौतिकशास्त्र प्रकृतिके किसी अेक बीचके स्थानसे विस्तारकी ओर अपना अन्वेषण करते है, जब कि तत्त्वज्ञान अिस स्थानसे पीछे जाकर मूल तकका अन्वेषण करनेके लिअे प्रयत्नशील रहता है। साख्य, वेदान्त, जैन चाहे जो दर्शन लीजिये, अुनका विचार करनेके पर मालूम होगा कि अिन सबमे $\frac{९}{१०}$ भाग भौतिकशास्त्र (और आजकी वैज्ञानिक दृष्टिसे बहुत बार भ्रमात्मक भौतिकशास्त्र) है। तत्त्वज्ञानके साधकके अेक हजार दिवसोंमें से ९९९ दिवस प्रकृतिको समझनेमें ही व्यतीत होते होंगे। यह अनिवार्य है। क्योंकि प्रकृतिको समझे बिना तत्त्वज्ञान समझमें नही आता, और प्रकृतिको समझनेमे जितनी भूल रहती है, अुतनी भूल तत्त्वज्ञानमे भी प्रविष्ट हुअे बिना नही रहती। तत्त्वज्ञान अेक काल्पनिक शास्त्र है, अैसी मान्यता अिन भूलोंके कारण ही पैदा हुअी है।

अब आपका अेक प्रश्न रहता है। भोगोका — वासनाओंका नियमन करना चाहिये या अुनका अुच्छेद करना चाहिये? यदि आप हीरेके विषयमें रासायनिक सत्य जानना चाहते है, तो क्या यह हो सकता

है कि आप हीरेको रखनेका लोभ भी करें और सत्यकी शोध भी करे? हिमालयके शिखर पर भी पहुंचना चाहे और शीतसे बचना भी चाहे, यह भला कैसे हो सकता है? बीजका प्रयोग न होने देना और फसलकी आशा करना, अिन दोनोका मेल बैठ सकता है? अुसी प्रकार जीवन-संबंधी सत्यकी शोध तो करनी है, लेकिन अुसके लिअे जीवनको कसौटी पर नही चढ़ाना है; भला यह कैसे बन सकता है? आपके भोग-विलास कायम रहे, कामनाअे बढ़ती रहे और आपको जीवन-विषयक सत्य प्राप्त हो जाय — यह जीवनको प्रयोगशालामें रखनेका अिनकार करके जीवनको समझनेका प्रयत्न करनेके बराबर है। किसी सामान्य भावनाको सिद्ध करना हो, तो भी जीवनके भोगकी तृष्णाको अंकुशमे रखना पड़ता है। पैसा कमानेकी वृत्तिका पोषण करनेके लिअे भी मनुष्य दूर दूरके प्रदेशोमे प्रवास करता है, कुटुम्बसे अलग होता है, धूप-छांह तथा भूख-प्यास सहन करता है, किफायतशारी करता है और संयमका पालन करता है। स्वातन्त्र्यके लिअे मनुष्य जान-मालकी कुरबानी करता है; पातिव्रत्यकी भावनाको शिखर पर पहुंचानेके लिअे स्त्री चितामे जलकर मर जाती है। तब सारी विद्याओसे अतिशय गहन विद्या, जिस पर अविचल शान्तिका आधार है, सरलतासे कैसे प्राप्त हो सकती है? भौतिक विद्याओका संशोधक सारा जीवन अिसीके लिअे समर्पित कर देता है, तब कही जीवनके अन्तमे मुश्किलसे अेक-दो अविचल नियमोकी शोध कर पाता है। यदि तत्त्वज्ञानी जीवनको समझना चाहता हो तो अुसे कमसे कम अितना समर्पण तो करना ही चाहिये या नही? और जीवन कोअी बाह्य पदार्थ नही है। अिसमें हम जितने पूर्वग्रहसे चिपके रहते हैं, अुतने ही तत्त्वज्ञानसे दूर रहते हैं। तत्त्वज्ञान जीवनके विकासके प्रश्नके साथ मजबूतीसे जुड़ा हुआ है। अिन सब बातोंको खयालमे रखें, तो वासनाओका अन्त लानेके निर्णय पर आये सिवा चारा नही है। जीवन-विषयक सत्यकी प्राप्ति अुत्तर ध्रुवकी शोध है। अुत्तर ध्रुव ही ध्येय है, वहां जाते हुअे सुख मिलेगा, दुःख मिलेगा, जीवित रहेंगे या बीचमे ही खप जाना होगा, यह विचार अप्रस्तुत है। अिसी प्रकार

जो मनुष्य सत्यकी प्राप्तिको ही ध्येय बनाता है, अुसके लिअे सत्यकी प्राप्तिके मार्गमे सुखानुभव होता है या दुःखानुभव होता है, आयुष्य बढता है या घटता है, आनंद होता है या शोक, ये विचार अप्रस्तुत है।

परन्तु वासनाओका अन्त करनेका अेक खास तरीका है। हाथ पर लगी हुअी मिट्टी जिस प्रकार झटक देते या धो डालते है, अुसी प्रकार वासनाअें झटकी या धोअी नही जा सकती; अथवा जैसे पौवेको मूलमे से अुखाड़ा जा सकता है, वैसे वासनाओका अुच्छेद नही हो सकता। परन्तु (जब साबुनका अुपयोग नही होता था तब) जिस प्रकार मिट्टीके तेलकी दुर्गन्ध निकालनेके लिअे नागरवेलके पानको हाथ पर मलते थे, अुसी प्रकार मलिन तथा स्वसुखकी ही वासनाओको शुभ और परोपकारकी वासनाओमें बदल देना चाहिये और अैसी शुभ वासनाओकी विवेकसे शुद्धि करना चाहिये; तथा अुनका अितना पोषण करना चाहिये कि वे वासनाके रूपमें रहे ही नही, परन्तु केवल सात्त्विक प्रकृतिके रूपमे सहज गुण बन जायं। यही वासनाओका अन्त करनेका मार्ग हो सकता है।

अिसलिअे 'वासनाओका अुच्छेद किया जाय' शब्दोका प्रयोग मै नही करता, परन्तु यह कहता हूं कि वासनाओंकी अुत्तरोत्तर शुद्धि की जाय। अशुभ वासनाओका शुभ वासनाओ द्वारा त्याग करना और शुभ वासनाओको निर्मल करते जाना चाहिये। जिस प्रकार अत्यत महीन अजन आखमें खटकता नही है, जिस प्रकार फूलका सूक्ष्म पराग वातावरणको बिगाडता नहीं है, अुसी प्रकार वासनाओका अत्यत निर्मल स्वरूप चित्त या जगत्के लिअे अशातिकर नही होता। निर्वासनिकता और अिस स्थितिके बीचमे कोअी भेद नही है।

जीवन और जगत् दुःखरूप और मिथ्या है, अैसा भी आपका पूर्वग्रह बधा हुआ मालूम होता है। आपने यह बताया है कि बुद्धके चार आर्यसत्योमें यह पहला आर्यसत्य है। मै यह नही जानता। श्री कोसंबीजीकी पुस्तको परसे मैंने अिसे दूसरी तरहसे समझा है; और अुसका मै जैसा अर्थ करता हूं, वैसा ही 'बुद्ध और महावीर' पुस्तकमे समझाया गया है। वस्तुतः जीवन और जगत् दुःखरूप है या सुखरूप

है, अैसा अेकान्तिक सिद्धान्त वनाना शक्य नही है। वौद्ध परिभापामे कहू तो व्यक्त जीवनमे अनुकूल वेदनाअें भी होती है और प्रतिकूल वेदनाअें भी होती हैं। प्रतिकूल वेदनाअे हो ही नही, अैसी स्थिति पर पहुचना असभव है । अैसी वेदनाओमे से कुछ नैसर्गिक कारणोसे अनुकूल-प्रतिकूल लगती हैं, कुछ आग्रहपूर्वक पोषित रसवृत्तिकी कल्पनाओके कारण अैसी लगती हैं । अग्निके साथ चमडीका स्पर्श होता है, तव जो प्रतिकूल वेदना होती है, वह नैसर्गिक कारणसे होती है। अपनी मानी हुअी फैशनके अनुसार न सिया हुआ कुरता पहननेसे होनेवाली प्रतिकूल वेदना कल्पना-वलके कारण होती है। ये अंतिम दृष्टान्त है, परन्तु सव वेदनाओके अैसे दो विभाग किये जा सकते हैं। जहा तक भान है वहा तक नैसर्गिक वेदनाओकी अनुकूलता-प्रतिकूलता मालूम हुअे विना नही रहती। अुन्हे धैर्यसे सहन करना चाहिये और वे प्रतिकूल हो तो अुन्हे दूर करनेके अुपाय करने चाहिये। कल्पनापोषित वेदनाओसे होनेवाले सुख-दु ख केवल विवेक-विचारसे दूर हो जाते हैं।

यह मेरी विचारसरणी है । मै नही कह सकता कि अिससे आपका कितना समाधान होगा। जितना अुपयोगी मालूम हो अुतना अिसमें से ले लीजिये।

२

जीवनका अर्थ*

स्वामी आनन्द अेक आदमीका किस्सा कहते हैं :

अेक गोरक्षा-प्रचारक थे। अुन्हें जब कभी मौका मिलता, वे गायकी महिमा पर भाषण देते और अनोखी दलीलें करते थे। अुदाहरणके तौर पर, चूना सफेद क्यों है? क्योंकि गायका दूध सफेद है। बगुला सफेद क्यों है? क्योंकि गायका दूध सफेद है। खादी सफेद क्यों है? क्योंकि गायका दूध सफेद है। वगैरा वगैरा।

ये दलीलें हमें कुछ फिरे हुअे दिमागकी निशानी जैसी मालूम होगी।

---

*प्रख्यात अमेरिकन विद्वान विल ड्यूरेण्टने जगत्‌के कुछ समर्थ पुरुषोंसे नीचेके प्रश्न पूछे थे :

"अिस मानव जीवनका अर्थ क्या है? अिस सारे संसारका फैलाव क्या निरर्थक नहीं मालूम होता?

"ज्ञान-विज्ञानकी अितनी खोजें होनेके बाद भी मानव-सुखकी कहीं झाकी दिखाअी नहीं देती है। तो ज्ञानके पीछे बेतहाशा क्यों दौड़ा जाय?

"अिस मानव जीवनका अंतिम तत्त्व क्या है? आपको काम करनेकी प्रेरणा किस बातसे मिलती है? किस चीजमें आपकी श्रद्धा है? क्या आपको धर्मका आधार मिलता है? आपकी शांति, संतोष और विश्राम किस पर निर्भर है? आप किसके आधार पर जीवनका यह महान आरम्भ-समारम्भ करते हैं?"

बम्बअीके गुज० साप्ताहिक 'युगान्तर'की प्रार्थनासे लेखक द्वारा अिन प्रश्नोंका दिया गया जवाब।

जीवनका क्या अर्थ है? अिस सवालका जवाव देते समय अैसी ही दलीलें दी जानेका डर है। अिसके सम्बन्धमें नीचे दी हुअी अेक प्रश्नोत्तरीकी कल्पना की जा सकती है।

प्र०—मानव जीवनके विस्तारका अर्थ क्या है?

अु०—वही जो दूसरे सूक्ष्म कीटाणुओसे लेकर सिंह-हाथी तकके जीवनका है।

प्र०—अुनके जीवनका क्या अर्थ है?

अु०—वही जो पृथ्वीकी अुत्पत्तिका है।

प्र०—परन्तु अुसका भी क्या अर्थ है?

अु०—समग्र ब्रह्माण्डका जो अर्थ है वही।

प्र०—परन्तु अिस ब्रह्माण्डका सारा विस्तार किसलिअे है?

अु०—कोअी मानता है कि यह सव भगवानकी लीला है; कोअी मानता है कि यह सव जो दिखाअी देता है, वह केवल माया है; अज्ञानके कारण दिखाअी देनेवाला भास है। कोअी कहता है कि यह भगवानका विविध रूपोंमे आविष्कार है।

प्र०—परन्तु अिन सवमे सत्य क्या है? आप क्या मानते है? और यह लीला, माया, आविष्कार, वगैरा जो भी हो किसलिअे है?

अु०—यह विश्वकी आत्माका स्वभाव ही है।

प्र०—परन्तु अुसकी आत्माका स्वभाव अैसा क्यों है? अिस स्वभावका प्रयोजन क्या है?

अिस प्रकार अखूट प्रश्नमाला चलाते रहने पर भी संभव है हम जहां थे वही रहें।

क्योकि अिस प्रश्नका सच्चा अुत्तर यह है कि हम "जानते नही।"

परन्तु "जानते नही" यह कहनेसे मनको तृप्ति नहीं होती। हम जिसे अनुभवसे नही जानते, अुसके सम्बन्धमें कल्पना करनेको मन अुतावला वनता है। "कुछ खुलासा नही दे सकते", अैसा कहनेमें स्वाभिमानको वक्का लगता है। फिर चतुर व्यक्ति विविध कल्पनाअें

करके अुनका जवाव ढूढते है। अूपरकी प्रश्नोत्तरीमें अतिम अुत्तर था, "आत्माका यह स्वभाव ही है।" वस्तुत यह "जानते नही" का ही अनुवाद है। क्योकि अतिम प्रश्नका अुत्तर अितना ही दिया जा सकता है कि "स्वभावका अर्थ ही अैसा गुण है, जो पदार्थके साथ अविच्छिन्न रूपसे जुडा हुआ हो।" गायके गलेमें झालर क्यो है? क्योकि वह गाय है, झालर नही होती तो वह गाय नही कहलाती। अुसी प्रकार पैदा होना और पैदा करना, फैलना-फैलाना, समेटना-सिमटना अित्यादि विश्वके मूलमें रहे हुअे तत्त्वका स्वभाव ही है। अैसा अुसका स्वभाव नही होता, तो अुस तत्त्वका अस्तित्व ही क्या रह जाता?

मतलव यह है कि व्यक्तिका जीवन, मानव-जीवन, अितर जीवन या जड सृष्टि — सव कुछ विश्व-जीवनका अेक अश ही है; और वह अुत्पत्ति, स्थिति, प्रलयके चक्रमें चलता रहता है, यह हमारा अुसके विषयमें अनुभव है। यह चक्र यदि किसी हेतुसे चलता हो, तो अुस हेतुके विषयमें हम निश्चयपूर्वक कुछ भी नही जानते। और हेतुको नही जाननेके कारण, अुसके विषयमें कोअी कल्पना करनेके वदले अैसा कहना ज्यादा ठीक है कि वह अुसका स्वभाव ही है।

मनुष्य अुत्पन्न होते है, जीते है और मरते है। अपने जीवन-कालमें वे समाजो और सभ्यताओको जन्म देते है, अुनका विस्तार करते है और अुन्हे समेट लेते है, अथवा अुनकी अुत्पत्ति, विस्तार और संकोचनके निमित्त वनते है। अंतमें वे स्वयं ही विलीन हो जाते है। अिस प्रकार अनेक वार हो चुका है, अैसा हमने अितिहास द्वारा सुना है। अिस परसे "घानीका वैल सौ कोस चले फिर भी जहाका तहा" अैसा अनेक वार लगता है। अिस कारणसे यह प्रश्न अुठा करता है कि आखिर अिस सारे निर्माण और नाशका मतलव क्या है? अिसके अुत्तरके रूपमें निश्चित ज्ञान तो मिलता नही है, केवल कोअी कल्पना अुत्पन्न होती है। अुससे कुछ व्यक्तियोका चाहे तात्कालिक समाधान हो जाय, परन्तु अतिम समाधान नही होता। क्योकि अंतिम समाधान कल्पनासे नही, वल्कि अनुभवसिद्ध ज्ञानसे होता है। और अुसकी

शक्यता न हो तो वस्तुका स्वभाव तथा अुस स्वभावके नियमोको जानकर अुनके आधार पर जीवन-निर्माणके नियमोकी शोध करनेसे होता है।

*　　*　　*

व्यक्ति स्वयं जीवनको निमंत्रित नही करता। कमसे कम अुसे अैसा करनेका स्मरण नही है। वह हमें विना मांगे मिलता है। और फिर भी, शायद ही कोअी मृत्युको न्योता देना चाहता है। कुछ व्यक्ति क्षणिक आवेशमे भले अैसा करे, परन्तु अधिकतर मनुष्य अनिच्छासे ही मरते हैं।

पुराणोमें लिखा है कि अेक जमानेमें हजार या दो हजार या अिससे भी अधिक वर्षोंकी सामान्य आयु थी। ये बाते सच्ची होगी अैसा मान लें, तो भी अुस आयुका अंत तो आखिर आया ही। पाच हजार वर्ष तक जीवित रहनेवाले भी अधिक जीवित रहनेकी अिच्छा न रखते हो अैसा निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। कुछ व्यक्तियोकी धनसे कदापि तृप्ति नही होती, परन्तु अमुक सीमाके वाद अुससे संतुष्ट होनेवाले बहुतसे व्यक्ति मिलेगे। परन्तु अधिक वर्षोका जीवन न चाहनेवाले थोड़े ही होते हैं।

बिना मागे मिली हुअी चीजको छोड़नेकी अिच्छा न हो, तो कहना चाहिये कि वह हमें मनपसंद भेंट ही लगती है। तव जीवन किसलिअे है यह प्रश्न ही अप्रस्तुत हो जाता है। वह आपको अच्छा लगता है, अितना ही कहना पर्याप्त है। अच्छा न लगता हो तो अुसे छोड़ देनेका मार्ग सबके लिअे खुला है।

परन्तु जीवन हमे अच्छा लगता है, अिसलिअे वह सदैव कायम रहे अैसा भी संभव नही है। कुछ लोग चिरंजीव है, अैसा कथाअें कहती हैं। परन्तु हम अुनसे कभी मिले नही; या वे हमारे परिचितोंमें से किसीको मिले हो, अैसा विश्वसनीय प्रमाण नही है। यह लेख पढ़नेवालोमें से कोअी चिरजीव रहनेकी आशा रखता होगा या नही, अिसमें भी शंका ही है। अिसलिअे यह बिना मांगी भेट आखिर छोड़नी

ही पड़ेगी, अैसा मान कर चलना चाहिये। रोग, घिसाअी* या हिंसासे नही, तो किसी दिन दुर्घटनासे ही अुसे छोड़ना पड़ेगा। जिस जमीन पर हम खड़े हैं वही नष्ट हो जायगी, तो फिर हमारी तो वात ही क्या?

अधिकसे अधिक मनुष्य अितनी खोज कर सकता है कि रोग, घिसाअी या हिंसासे अुसकी मृत्यु न हो। यह सिद्धि अभी सबके लिअे सुलभ नहीं है। अिसके विपरीत मनुष्य जिस प्रकारका जीवन जीता है, वह अैसा है मानो रोग, घिसाअी तथा मृत्यु दूसरो तक पहुचानेका ही अुसका अुद्देश्य हो।

वस्तुतः जीवनका अर्थ क्या है, अिस प्रश्नका काल्पनिक अुत्तर पानेके प्रयत्नकी अपेक्षा जो अेक मार्ग हमारे सामने खुला है, अुसीको अपनाना अधिक महत्त्वपूर्ण होगा। वह यह कि हम विना मांगे मिली हुअी भेंटके स्वरूपकी जाच करे, अुसके अचल और चल नियम जानें, और अुसका अधिकसे अधिक तथा अच्छेसे अच्छा अुपयोग करनेका तथा अुस भेंटको अंतिम क्षण तक यथासंभव ताजी और नवीन रखनेका प्रयत्न करे।

नवीन वुनी हुअी चादरके साथ जीवनकी तुलना करके कवीर कहते हैं :

सो चादर सुर-नर-मुनि ओढी,
ओढ़िके मेली कीनी चदरिया,
दास कवीर जतनसे ओढी
ज्यो की त्यो धरि दीनी चदरिया।

* * *

---

* यहा वुढापेके वजाय घिसाअी शब्द जानवूझकर काममें लिया गया है। अधिक अुमर हो जानेके फलस्वरूप होनेवाली घिसाअी सृष्टिके नियमके अनुसार शायद अनिवार्य भी हो सकती है। वह वुढापेकी जरा या जर्जरता है। परन्तु भुखमरी, अत्यन्त परिश्रम, स्वच्छन्द या नियमहीन जीवन वगैराके कारण किसी भी अुमरमें पैदा होनेवाली जर्जरता घिसाअी कही जायगी।

मनुष्य बुद्धिमान होनेका घमण्ड करता है। परन्तु यह घमण्ड तो वैसा ही है जैसा दो वर्षका वालक माचिसकी पेटी जेवमें रखने और अुसे सुलगानेका ज्ञान रखनेका घमण्ड करे। माचिसकी पेटी अुसके पास है और वह माचिस जलाना जानता है, अिसकी अपेक्षा ज्यादा महत्त्व अिस वातका है कि माचिसका सही अुपयोग करनेका विवेक अुसमें है या नही। अुसी तरह मनुष्य वुद्धि रखता है अर्थात् तरह तरहका वैज्ञानिक ज्ञान और युक्तिया जानता है और खोज सकता है, अिसकी अपेक्षा अुसका सही अुपयोग करते आना अधिक महत्त्वका है।

आज हम अपनी प्रगतिके लिअे फूले नही समाते। देखते देखते विज्ञानका कितना विकास हो गया है और शीघ्रतासे होता जा रहा है! यहा तक कहा जाने लगा है कि पंद्रह मिनटमें सारी सृष्टिमें भयंकर अुथल-पुथल मचायी जा सके अिस हद तक विज्ञानका विकास होगा। पुराणोने भगवानकी महिमा गाते हुअे कहा है कि "अुसकी भ्रकुटिके विलासमात्रसे ब्रह्माण्डोंका प्रलय होता है।" यह सिद्धि आज मनुष्योके हाथमें आने लगी है। चंद्र और मंगल, गुरु और शनिके साथ सम्पर्क साधनेकी कला वैज्ञानिक शोध सकेगा, अैसी अुसे आशा होने लगी है। भोगसिद्धि और रोगके भी अनेक अिलाज खोजे जा रहे है। हिंसा करने और अुससे वचनेके भी नवीन नवीन मार्ग शोधे जा रहे है।

परन्तु रोग, घिसाअी और हिंसाका जीवनमें स्थान ही न रहे, न खुदको अिनकी छूत लगे और न दूसरोको — अिस प्रकारके जीवनके नियमोको ढूंढने और अुनके अनुकूल संस्कृतिको विकसित करनेकी बुद्धि अभी तक खोजी नही जा सकी है।

* * *

जीवन किसलिअे मिला है, यह हम जानते नही। परन्तु जीवनके साथ जीवित रहनेकी वासना भी मिली है, अितना ही अनुभवपूर्वक हम जानते है। यह भी कहा जा सकता है कि जीवनकी अभिलाषाके साथ कमसे कम पांच दूसरी भेटोंका भी मनुष्यको अनुभव होता है।

वे है जिज्ञासा, कल्पनाशीलता, सर्जकता, सकल्प और श्रद्धामय आशा। प्राणी मात्रको विना मांगे जीवनकी भेंट मिली है; मनुष्यको जीवनके साथ ये अतिरिक्त भेंटें मिली है। ये भेंटें भी विना मागी मिली है, और ये किसलिअे है यह निश्चित रूपसे नही कहा जा सकता। अत. अितना ही कहा जा सकता है कि ये मनुष्यत्वके स्वभावभूत अग है।

जीवनकी तरह यह विना मागी पूजी भी स्थूल रूपमे अनन्त नही है। अुसका भी नाश होता है। अिसलिअे अुसका अर्थ और प्रयोजन ढूढनेकी अपेक्षा नाश होनेके पहले ही अुसका अच्छेसे अच्छा अुपयोग कर लेनेकी और अुससे अधिकसे अधिक सतोष देनेवाला लाभ प्राप्त कर लेनेकी बुद्धिमत्ताका विकास करना, अुसके अनुकूल परिस्थिति निर्माण करना और हो सके तो दूसरोको भी अुसका मार्ग दिखाना ज्यादा महत्त्वकी बात है।

अितना तो निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि अिन पाच प्रकारकी शक्तियोको अनियत्रित रूपसे वहनेके लिअे खुली छोड़ देना मानवकी सुख-शाति या अुसके सतोषका सही अुपाय नही है। अिसलिअे सयमकी तो आवश्यकता होगी ही। जिज्ञासा, कल्पनाशीलता, सर्जकता, सकल्प और आशा तथा अुनके परिणामस्वरूप अुत्पन्न होनेवाले भोगो और प्रवृत्तियो पर सयम रखना आवश्यक होगा।

सयम आवश्यक है, अिसलिअे विवेक आवश्यक है। किसी निश्चित नापसे क्या योग्य है और क्या अयोग्य है, अिसकी परीक्षा और पसदगी करनेकी शक्ति होना जरूरी है।

और, सयम तथा विवेककी जरूरत है अिसलिअे की हुअी परीक्षा और पसदगीके मुताविक व्यवहार करनेकी आदतें डालना जरूरी है। केवल वुद्धिसे समझ लेनेसे काम नही चलेगा।

आदतें डालने-डलवानेमे मेहनत करनी होगी, सब कुछ सरलतासे नही हो सकेगा। जैसे जैसे आयु वढेगी, वैसे वैसे यह करना अधिक

कठिन होता जायगा। समझके अनुसार आचरण न कर सकनेकी दुर्बलता पद-पद पर खटकती रहेगी और वह कभी भी शाति तथा संतोषका अनुभव नही होने देगी।

असलिअे, संयम और विवेकपूर्वक जीनेकी आदत डालनेकी मेहनत शुरूसे ही करना और कराना चाहिये; अिसे जीवनका आधारभूत नियम कहा जा सकता है। यह परिश्रम कठोर न मालूम हो, अैसे तरीके खोजनेका प्रयास भले ही किया जाय; परन्तु कठोर मालूम होने पर भी अुसे करना तो होगा ही; दूसरा कोअी अुपाय नही।

*   *   *

हमने अूपर देखा कि साधारण तौर पर मनुष्य जीना ही चाहता है, मरना नही चाहता। फिर भी मनुष्य अिस प्रकार आचरण करता दिखाअी देता है मानो रोग, घिसाअी और हिंसाको अपने लिअे न्योतना और दूसरो तक पहुंचाना ही मानव जीवनका अुद्देश्य हो।

'आत्मवत् सर्वभूतेषु'—अैसा आचरणका नियम बताया जाता है; परन्तु कभी कभी यह नियम बहुत मार्गदर्शक नही होता है।

व्यसनका सेवन करनेवाला दूसरोको भी व्यसनकी छूत लगानेका प्रयत्न करता है, और प्रेमसे करता है। वह अपने जैसा दूसरोंको बनाना जाननेवाला तो जरूर कहा जा सकता है। परन्तु अुसका यह काम रोग और घिसाअीको दूर रखनेवाला नही है।

अिसलिअे 'समाजके हितके लिअे' अर्थात् दूसरोको रोग, घिसाअी और चोट न पहुचे, अैसा आचरण करनेका नियम होना चाहिये।

रोग और घिसाअी होनेके बाद अुन्हे सुधारनेके अिलाज ढूढ़ना आवश्यक हो सकता है, परन्तु अिससे भी अधिक महत्त्वकी बात यह है कि अुनका निर्माण ही न होने दिया जाय। यही बात हिंसाके सम्बन्धमें है।

परन्तु हम अुनका निर्माण करनेके पीछे ही रात-दिन लगे रहते है। अुसे ही हम विज्ञान और सभ्यता मान बैठे है। अेक ओर हम अधिकसे अधिक आनन्दके अुपभोगके लिअे व्यर्थ प्रयत्न करते है, अुसके लिअे चाहे जितनी मारकाट मचाते है, और दूसरी ओर कालके

मुखमे दौडते जाते है और दूसरोको वेगसे अुसी ओर धकेलते है। अैसी हालतमें किसी दिन जीवनमे निराशा ही निराशा दिखाअी दे और जीवन निरर्थक लगे तो आश्चर्य क्या?

* * *

जीवन किसलिअे है, अिसका नि.शक अुत्तर जब मिलना होगा तब मिलेगा। अुसे संतोषकारक बनानेका नियम है "सामनेवाले जीवके हितके लिअे जीना"। अर्थात् भोगमें सयम रखना, भोगप्राप्तिके साधन प्राप्त करनेमें सामनेवाले जीवके हितको हानि न पहुचे अैसा सदाचार पालना, रोग, घिसाअी और हिंसाके कारण दूर करनेवाले विज्ञानका विकास करना, अित्यादि।

और, संतोषके लिअे मनमें यह भी दृढतासे बैठा लेना आवश्यक है कि अिस बिन-मांगे जीवनका अत आवेगा ही। वह भी अनसोचा और कदाचित् बिन-मागा होगा। अुसके लिअे सदैव तैयार रहना और सामनेवाले प्राणीके हितके लिअे हसते हसते मृत्युके सामने जाकर भी अुसका आलिंगन करना सीखना चाहिये।

यदि हम यह समझ सकें और अुसे जीवनमे अुतार सकें, तो जीवन किसलिअे मिलता है, टिकता है और नष्ट होता है, तथा वह किस दिशामें जा रहा है, अिसकी कल्पना करनेका बहुत कुतूहल भी नही रह जायगा। पृथ्वी यह नही पूछती कि मै किसलिअे सूर्यके चारो ओर फिरती ही रहती हू। गुलाब और पारिजातक पूछते नही कि किसलिअे हमें प्रात.काल होने पर खिलना, सुगध फैलाना और संध्या होते समय कुम्हला जाना पडता है। चिडिया पूछती नहीं कि किसलिअे हमें घोसले बाधने, अण्डे रखने और सेने तथा बच्चोंके पंख आने पर अुन्हे छोड देना होता है। अिसी प्रकार हमें भी यह पूछनेकी आवश्यकता नही है कि किसलिअे हमें जीवित रहना चाहिये, समाज-रचना करनी चाहिये, सस्कृतिया विकसित करनी चाहिये, बलिदान देने चाहिये और नीति-नियमोकी रक्षा करनी चाहिये। अपना अपना कर्म बराबर करनेमें ही प्राणीमात्र संतोषका अनुभव करता है।

३१–१–'४६

३

संसारमें रस*

"अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य . . . ."[१] (गीता २–१८)

"नाऽहं जातो जन्ममृत्यू कुतो मे?
नाऽह चित्तं शोकमोहौ कुतो मे?"[२]
(शकराचार्य, आत्मपञ्चक – ६)

अर्थात्, आत्मा अजर-अमर है, तथा अेक ही अमर आत्माके ये सब शरीर है, और मेरा स्वरूप वह आत्मा है, शरीर नही। अैसा अुपदेश देने पर भी ये ही ग्रन्थ या अिनके जैसे ही दूसरे ग्रन्थ यह भी कहते हैं:—

---

* गुजराती 'जीवनशोधन' की पहली आवृत्ति अी० स० १९२९ मे प्रकाशित हुअी, अुसके पहले अुसका 'मरणोत्तर स्थिति' नामक प्रकरण लिखा गया था। प्रकरण ३, ४ और ५ में आये हुअे विचार सर्व प्रथम १९४२ में मुझे सूझे थे और अुन्हे मैंने दो लेखोमें विकसित किया था। अिन प्रकरणोमें अुन दो लेखोका बहुतसा भाग आनेके सिवाय अिस विचारका अधिक विकास हुआ है। 'जीवनशोधन' में और अिन लेखोंमें मृत्युके विषयमें ही विचार होने पर भी दोनोमें भिन्न-भिन्न दृष्टिसे विचार किया गया है। यह वाचकको पढते ही मालूम हो जायगा।

१. नित्य, अविनाशी और अप्रमेय आत्माके ये सब देह नाशवंत बताये गये हैं।

२. मैंने कभी जन्म ही नही पाया, तो मुझे जन्म-मृत्यु कैसे हो? मै चित्त नही हू, तो मुझे शोक-मोह कैसे हो?

"जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दु ख-दोपानुदर्शनम् । . . .
"अेतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥"*
(गीता १३ – ८, ११)

"पुनरपि जनन, पुनरपि मरण, पुनरपि जननी जठरे शयनम् ।"
(शंकराचार्य, चर्पटपञ्जरिका, स्तोत्र – ८)

(पुन पुनः जन्म, पुन. पुनः मृत्यु, और पुनः पुन· माताके अुदरमें गर्भवास ।)

ये विचार केवल हिन्दू धर्ममें ही नही है। सभी धर्मोके सतोने संसारके प्रति वैराग्य पैदा करनेके लिअे मृत्युरूपी अवश्य होनेवाली घटनाका अुपयोग कर लिया है।

"जावु जरूर मरी, मेलीने सर्वे जावु जरूर मरी."[1]
(निष्कुलानन्द)

"कर प्रभु सगाथे दृढ प्रीतडी रे, मरी जावु मेली धनमाल,
अतकाले सगु नही कोअीनु रे."[2] (देवानन्द)

"आ तनरग पतग सरीखो जाता वार न लागे जी."[3]
(ब्रह्मानन्द)

"अिस तनधनकी कौन बडाअी, देखत नैनोमें मिट्टी मिलाअी,
अपने खातर महल बनाया,

* जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, और दु खादि दोषोंका ठीक अवलोकन — यह ज्ञान है, अिससे विपरीत अज्ञान है।

१ मरना तो अवश्य होगा, सब कुछ यहीं रखकर मरना अवश्य होगा।

२. हे मनुष्य, तू प्रभुके साथ दृढ़ प्रीति कर! सब धन-माल छोड कर तुझे मरना ही होगा। अन्तकाल आयेगा, तब सगे-सम्बन्धी कोअी काम नही आयेंगे।

३. अिस शरीरका रग पतिंगे जैसा क्षण भरमें नाश हो जानेवाला है।

आप ही जाकर जगल सोया;
कहत कवीरा सुनो मेरे गुनिया,
आप मुअे पीछे डूव गअी दुनिया ।"
"अै मुसाफिर कूचका सामान कर,
अिस जहामें है वसेरा चंद रोज,
याद कर तू अै 'नजीर' कवरोके रोज
जिन्दगीका है भरोसा चन्द रोज।"
"मिट्टी ओढावन, मिट्टी विछावन,
मिट्टीमें मिल जाना होगा।" (कमाल)

अिस तरह सैकड़ो सन्तोके अैसे सैकड़ो अुद्‌गार यहां दिये जा सकते है। मेरी अपनी मनोवृत्ति भी अिससे भिन्न प्रकारकी नही थी। मनुष्य मृत्युपर्यंत संसारके कामोमे दिलचस्पी लेता रहे, यह मुझे ठीक नही लगता था। अैसा लगा करता था कि अिसमें अज्ञान तो है ही। हमेशा अैसा खयाल बना रहता था कि जिस तरह होशियार मुसाफिर रेलगाड़ीके आनेके पहले ही अपना सारा सामान तैयार रखता है, अुसी तरह मृत्यु अभी आनेवाली है, अैसा मानकर मनुष्यको अपना कामकाज समेट कर रखना चाहिये। मेरी अैसी कुछ मनोवृत्ति वन गअी थी कि जीवनके आखिरी दिनोमे संसारके कामोसे हट जाना चाहिये, नअी जवावदारिया नही लेनी चाहिये और निवृत्ति लेकर शात वैठ जाना चाहिये ।

दूसरी तरफ, वहुतसे मनुष्योके जीवनको ध्यानसे देखने पर अैसा भी अनुभव हुआ है कि जैसे जैसे मनुष्यकी अुमर वढती जाती है, वैसे वैसे अुसकी ज्यादा जीनेकी अभिलाषा और संसारकी चिन्ता घटनेके वजाय वढ़ती जाती है। पच्चीस वर्पकी अुमरमें निश्चयपूर्वक यह कहनेवाले कि पचास या पचपन वर्षकी अुमरमे निवृत्त हो जाना चाहिये अथवा ज्यादा वर्षो तक जीना ठीक नही है और पचास-पचपन वर्पके मनुष्यको 'वूढ़ा' या 'वुढ़िया' कहनेवाले जव खुद अिस अुमरमें पहुंच जाते है, तव कुछ वर्ष और जीनेकी अिच्छा रखते हैं और कोअी अुन्हे वृद्ध कहता है तो नाराज होते हैं। और यह अिच्छा अुमरके

साथ वढ़ती ही जाती है। यह वृत्ति केवल अज्ञानीकी ही होती है, अैसा भी नही। संसारको अच्छी तरह 'माया', 'स्वप्न', 'मिथ्या' समझनेवालोकी भी होती है। शरीरकी अशक्तिके कारण भले ससारसे निवृत्त होना पड़े या मरना पड़े, परन्तु वह अच्छा नही लगता। सौ वर्ष तक जीवित रहनेकी अिच्छा चालीसवें वर्षमें जितनी तीव्र होती है, अुसकी अपेक्षा ८० वें वर्षमें ज्यादा तीव्र होती है। अपने बाद अपनी प्रवृत्तियोकी और अपनी रची हुअी 'माया' की व्यवस्था किस प्रकार होनी चाहिये, अिस विषयमें भी अुनके आग्रह और अभिलाषाअें होती हैं। अत्यन्त पिछड़े हुअे आदिवासीसे लेकर अतिशय विद्वान् तत्त्वज्ञानी तक किसीका भी जीवन देखिये, हरअेकके मनमें अपने शरीरके नाशके बाद रहनेवाले अिस जगत्के लिअे कुछ न कुछ रस दिखाअी देता है। अेक व्यक्ति सततिके द्वारा अपनी जीवन-लताका विस्तार चालू रखना चाहता है। (संततिका अर्थ ही विस्तार होता है।) दूसरा अपनी खुदकी संतानके अभावमे किसीको दत्तक लेकर पुत्रका सतोप प्राप्त करनेकी कोशिश करता है। तीसरा दान-धर्मादिसे अपनेको अमर करना चाहता है। चौथा अपने ग्रथों और कला द्वारा, पाचवा अपने वीर कर्मों द्वारा, छठा अैसी सस्थाअें स्थापित करके अपनेको अमर बनाना चाहता है जो मृत्युके बाद ससारमें प्रकाश और आश्वासन फैलानेका काम करे। सातवा अपने अुपदेशो द्वारा अैसी सभी प्रवृत्तियोको अज्ञान-युक्त और जगत्को मृगजलके समान झूठा समझाता तो है, परन्तु वह भी अिसी ससारमे अिन्ही सिद्धान्तोका पीढी दर पीढी बराबर प्रचार होता रहे, अिसके लिअे सम्प्रदाय स्थापित कर जाता है। अिस बारेमें हिन्दू, मुसलमान, ओसाअी, पारसी, आस्तिक, नास्तिक, गोरा, काला, पीला, लाल, कोअी भी अपवाद नही है। ज्ञानियोने साधना और भावना कर करके अिस रसका नाश करनेकी कोशिश की है। परन्तु जिन्होने बहुत प्रखर साधना की है, वे ही अपने पीछे अधिक कीर्ति या सम्प्रदाय या शिष्य छोड गये हैं!

अैसा विरोध क्यो है? धर्म और तत्त्वज्ञानकी सामान्य मान्यताअें अिसका संतोषकारक अुत्तर नही दे सकती। जिस तरह हम साधारण

तौर पर जगत्के धर्मो और तत्त्वज्ञानको समझते है, अुस परसे हमने अैसा माना है कि शरीर तो मरता है और मरने ही वाला है; परन्तु हरअेकका जीवात्मा अर्थात् व्यक्तित्व अमर है। 'हिन्दू धर्मके अनुसार वह अमर जीवात्मा पुनः जन्म और पुनः मृत्युके चक्रमे पड़ता है। अुसकी मोक्षरूपी अेक अवधि है जरूर; परन्तु वह तो 'किसी सिद्ध यति' के लिअे ही है। अहिन्दू धर्मोके अनुसार अुस अमर जीवात्माको शरीरके नाशके वाद कयामतकी राह देखते हुअे कवरमे वास करना पड़ता है। परन्तु दोनोंमे से अेक भी मान्यता अैसी कोअी आशा नही दिलाती कि वह जीवात्मा जिस संसारमें शरीर धारण करके रहता था, अुस संसारके साथ वह अवश्य किसी तरह जुड़ा रहेगा। पुनर्जन्मकी मान्यताके अनुसार तो मरनेवालेका पहला निवास प्रेतलोक या स्वर्गलोक या नरकमें होता है; और वादमें अपने कर्मानुसार वह किस अच्छी या वुरी योनिमें जन्म लेगा, यह कहा नही जा सकता। वह कीटाणुसे लेकर ब्रह्मा तक चाहे जिस योनिमें पैदा हो सकता है। परन्तु अपने परिचित संसारके साथ अुसका सम्वन्ध रहेगा, अैसा अुसे विलकुल विश्वास नहीं होता।

अिस तरह जीवात्माका व्यक्तित्व अमर है, अिस सिद्धान्तसे जीवात्माका मृत्युके वाद अिस संसारके लिअे जो रस रहता है, अुसका खुलासा नही मिलता। और यह रस तो सवमें किसी न किसी प्रकार रहा हुआ दिखता ही है।

अिसके लिअे हमे मनुष्यकी चित्त-शक्तिका अधिक गहरा अभ्यास करना होगा। हम आत्मा या परमात्माका स्वरूप वरावर समझने-समझानेके काविल हों या न हो, मनुष्यकी चित्त-शक्ति (मन और वुद्धि) तो सवके परिचयकी वस्तु है। जैसे जैसे यह शक्ति वढ़ती है, वैसे वैसे अुसके रसो और कामोमें कैसा फर्क पड़ता जाता है, यह हम देख सकते हैं। प्राणी विकसित होकर वाल्यावस्थासे तारुण्यमें आता है तव कैसा फर्क पड़ता है, और संकुचिततामें से विशालताकी तरफ जाता है तव कैसा फर्क पड़ता है, अुसे हम समझ सकते है। अुस परसे हम देख सकते है कि मनुष्यको अपने शरीर पर चाहे जितना मोह हो, अुसे वलवान, सुखी और दीर्घायु वनानेके लिअे वह चाहे जितना

प्रयत्न करे, तो भी जैसे जैसे अुसकी दृष्टि (वुद्धि) और रस (मन) खिलते जाते हैं और विशाल होते जाते हैं, वैसे वैसे अुसे मानो यह लगता जाता है कि मेरा यह प्राणवान शरीर ही मेरा जीवन नही है, परन्तु समग्र सृष्टिका जितना अंश वह अपना वना सकता है, वह सब मानो अुसका अपना ही जीवन है; शरीर पैदा होते हैं और मरते हैं, अुसी तरह मेरा शरीर भी कभी मरेगा; परन्तु जगत् तो चलता ही रहेगा और अिसके जिस अंगमें मेरा ममत्व है, वह अंग भी कायम रहेगा। अुसके मन तथा वुद्धिके विकास और शुद्धिके अनुसार यह अंश देश, काल तथा गुणके अधिक भागमें व्याप्त होता है; अर्थात् अपने शरीरसे ज्यादा वड़े भागके साथ अुसकी आत्मीयता होती है, वह ज्यादा लम्बी निगाहसे देखता है, और अधिक अूचे तथा विविध गुणोंका खयाल करता है। और अिस विकासके प्रमाणमें वह अपने शरीर या सुखके लिअे जो कुछ करता है, अुसकी अपेक्षा अपने पीछे रहनेवाले जगत्के सुखके लिअे अधिक मोह रखता है। और यह मोह अितना वलवान हो जाता है कि मौका आने पर वह अुसको अपने व्यक्तिगत सुखोंका और शरीरका भी वलिदान करनेकी शक्ति देता है।

कभी कभी मनुष्य अपने जीवनकी मर्यादा अपनी शारीरिक आयु तक ही वांधता जरूर है। परन्तु वुद्धिका विकास होनेके वाद कोअी भी मनुष्य जीवनको हमेशा अुतनी ही मर्यादामें रहा हुआ नही समझता। शास्त्रोंके आधार पर वह स्वर्ग, नरक, मोक्ष अित्यादि परलोकोंमें श्रद्धा रखता है तथा वहा अपने अलग अस्तित्वको टिका हुआ देखनेकी श्रद्धा भी रखता है। अुसी तरह स्वप्न, निद्रा, मूर्छा अित्यादि शारीरिक अवस्थाओंके भेदके कारण संसारको मिथ्या, माया, अिन्द्रजाल, भासमात्र माननेका प्रयत्न करता है। कभी योगाभ्यास करके समाधिमें भी लीन होता है। परन्तु जाग्रत जीवनमें अनुभव किये जानेवाले विश्वव्यापी जीवनको अपने जीवनकालमें — और चित्तभ्रम न हुआ हो तो सदाके लिअे — भूल जानेमें वह कभी सफल नही होता। अिस व्यापक जीवन-सम्बन्धी अुसकी दृष्टि अल्प हो सकती है; परन्तु शरीरसे परे और शरीरके पीछे रहनेवाले संसारमें वह फैले विना नहीं रहती।

भले संसार क्षण-क्षणमें वदलता रहता हो, फिर भी जिस तरह नदीके पानी, किनारो, वहावके वेग और मार्गके सदैव वदलते रहने पर भी अुस प्रवाहकी अखंडितताकी प्रतीति और रस वना रहता है, अुसी तरह सदैव वदलते रहनेवाले संसारमे भी वह प्रवाहकी अखण्डता देखता है, और अुस कारणसे ससारसे अुसका रस हट नही सकता। अैसा हो सकता है कि अपने संसारकी मर्यादा और अुसके हिताहितका विचार करनेकी अुसकी शक्ति अल्प हो और अुसके रस अशुद्ध हो; और अिससे वह अेक छोटेसे क्षेत्रको सारी दुनिया तथा अल्प हितको ही समग्र हित मान ले। अल्पता और अशुद्धिके ये दोष ज्ञान और योग्य शिक्षा द्वारा तथा अनुकूल परिस्थिति पैदा करनेसे कम होते हैं। परन्तु मनुष्यत्वका विकास अिस रसका नाश करनेके प्रयत्नमें नही, वल्कि अुसका अुचित पोषण करनेमें है।

४

जीवनमें मृत्युका स्थान

"अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।।"

—जिससे यह अखिल जगत् व्याप्त है, अुसे तू अविनाशी जान। अिस अव्ययका नाश करनेमें कोअी समर्थ नही है।

"न जायते म्रियते वा कदाचित्-
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।"

—यह कभी जन्मता नही है, मरता नही है। यह था और भविष्यमें नही होगा अैसा भी नही है। अिसलिअे यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है, पुरातन है। शरीरका नाश होनेसे अिसका नाश नही होता।

"अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥"

—हे भारत, भूतमात्रकी जन्मसे पहलेकी और मृत्युके बादकी अवस्था देखी नहीं जा सकती; वह अव्यक्त है, बीचकी ही स्थिति व्यक्त होती है। अिसमें चिन्ताका क्या कारण है?

"देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥"

—हे भारत, सबकी देहमें विद्यमान यह देहधारी आत्मा नित्य अवध्य है, अिसलिअे भूतमात्रके विषयमें तुझे शोक करना अुचित नहीं है।
(गीता २–१७, २०, २८, ३०)

विश्वके विस्तार और क्षण-क्षणके सर्जन-विनाशमें दिखाअी देनेवाला व्यापक जीवन शारीरिक जीवनके जितना ही जीवनका महत्त्वपूर्ण रूप है। यह व्यापक जीवन जिस तरह किसी शरीरके धारण, पोषण तथा चित्तके विकास द्वारा प्रभावित होता है, अुसी तरह नाशके द्वारा भी प्रभावित होता है। अुदाहरणके लिअे, असाध्य रोग, बुढापा या पागलपनसे निकम्मा बना हुआ शरीर केवल अुसके धारण करनेवालेको ही भाररूप नहीं होता है; परन्तु अुसके आसपास फैले हुअे जीवनके रास्तेको भी रोकता है। अुसकी मौतसे थोडी देरके लिअे खेद होता है या बनाअी हुअी कुछ योजनाअें बिगड जाती हैं, परन्तु परिणाममें मृत्यु खुद मरनेवालेके लिअे तथा आसपासके जीवनके लिअे राहतरूप और आगेके विकासके लिअे अेक आवश्यक घटनाके समान ही होती है। जब अनिच्छासे अथवा तथाकथित 'कुदरती कारणोंसे' मौत होती है, तब भी अैसा ही होता है। बलात्कारसे होनेवाली मौतके नतीजे अिसमें भी ज्यादा स्पष्ट दिखाअी देनेवाले होते हैं। अैसा न होता तो कभी खून या लडाअी करनेकी वृत्ति ही पैदा न होती। जीवित प्राणियोंको मारा जाता है, क्योंकि मारनेवालेका यह सही या गलत खयाल होता है कि मरनेवालेके देह-धारणकी अपेक्षा अुसके देह-नाशसे पीछे रहनेवालोंका जीवन—अर्थात् व्यापक जीवन—अधिक अच्छी तरहसे

विकसित होगा। यह सहज ही समझमे आनेवाली वात है। अुदाहरणके लिअे, मौत खुद अेक रोज घटनेवाली घटना है, फिर भी यदि किसी सयोगसे अेकाध महायुद्धके किसी मुख्य पात्रकी मौत हो जाय तो युद्धमें हुअी सभी मौतोका विशाल जीवन पर जो अेकत्रित असर होता है अुसकी अपेक्षा भी अिस मौतका असर वढ जाता है। अिसी तरहसे अपनी अिच्छासे की हुअी या स्वीकारी हुअी मौत भी जीवनकालमें अुन प्राणियोंके द्वारा की हुअी प्रवृत्तियोकी तरह ही व्यापक जीवनको विकसित करने या अुसे अूपर अुठानेमे वलवान साधन वन सकती है। कुछ अैसे प्रसगोकी भी कल्पना की जा सकती है, जव जीवित प्राणियोकी अत्यन्त वुद्धिपूर्ण और तीव्र प्रवृत्तिकी अपेक्षा अुनकी मौतका वल ज्यादा प्रभावशाली होता है। अैसा अनुभव न होता हो तो शहीद वननेका किसीमे अुत्साह या श्रद्धा ही पैदा न हो। अैसा लगता है कि अैसे प्रसग पर होनेवाली मौत जीवनकी किसी प्रकारकी गुप्त अथवा रुकी हुअी शक्तिको प्रकट या मुक्त करती है। वह शक्ति देह-धारणकी अवधिमें सभी प्रयत्न करने पर भी सफल नही हो सकती थी। परन्तु देह छूट जानेके वाद थोडे ही समयमे वह जीवनकी प्रगतिको रोकनेवाली वाधाको दूर कर देती है।

प्राणी मृत्युको जीवनका शत्रु ही समझता है। परतु जीवनका अनुभव हरअेकको धीरे धीरे समझाता है कि वह जीवनका मित्र भी है। योग्य समयमे मृत्यु न हो, तो वह प्राणी अपने-आपको तथा दूसरोको अप्रिय लगने लगता है और भाररूप हो जाता है, तथा दूसरोंके विकासमे वाधक भी होता है। वहुत थोड़े आदमी अैसे भाग्यशाली होते हैं, जो अपनी अुपयोगिता पूरी होते ही तुरत चले जाते हैं। परन्तु मृत्युकी यह सेवा अुसकी घटनाके समय ध्यानमे नही आती। अिसलिअे प्रियजनों पर अुस समय तो शोककी छाया फैल जाती है। परन्तु धीरे धीरे अनुभव होता जाता है कि मौतने जो काम किया, वह दस वर्षके अधिक जीवनसे भी शायद नही हो पाता। विशाल जीवनको अुन्नत करनेके लिअे मौत कितनी जवरदस्त शक्ति निर्माण कर सकती है, अिसके दृष्टान्तके तौर पर हजरत अीसा और

अुनके पहले गिर्ग्योंके, कुछ सिक्ख गुरुओंके तथा साधु टेलेमैक्सके आत्म-वलिदान पेश किये जा सकते है। अिन सवने मानव-जीवनका प्रवाह कितना ही वदल डाला है।

अिस तरह तटस्थतासे विचार करने पर मृत्यु जीवित दशाकी तरह ही जीवनको विकसित करनेवाली मालूम होती है। जव किसीको अैसा साफ मालूम हो जाय कि किसी कारणसे मेरी प्राणगक्ति प्रभाव-गाली ढगसे काम नही कर सकती अथवा आसपासके जीवनमें योग्य शक्तिका निर्माण करनेमें निष्फल रहती है और जीवनकी अुन्नतिके लिअे वैसी गक्तिका निर्माण होना जरूरी है, तव स्वेच्छासे मृत्युको निमत्रण देना कर्तव्य हो सकता है। मोक्ष अथवा स्वर्गप्राप्ति जैसे किसी व्यक्ति-गत लाभकी दृष्टिसे यह कदम अुठानेकी जरूरत नही है, अथवा न होनी चाहिये। फोडे पर नश्तर लगानेकी गारीरिक गस्त्रक्रियाकी तरह ही अिसका निश्चय होना चाहिये। व्यापक जीवनके साथ अत्यत आत्मीयताका अनुभव हो, तभी अैसा निश्चय हो सकता है।

यह निश्चय हो जाय तभी अैसी स्थिति आ सकती है कि —

"गतासूनगतासूश्च नानुगोचन्ति पडिता: ॥"[1]

(गीता २–११)

और

"एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥"[2]

(गीता २–७२)

---

१ पडित मृत और जीवितोका गोक नही करते।

२. हे पार्थ, ब्रह्मको पहचाननेवालेकी स्थिति अैसी होती है। अुसे पाने पर फिर वह मोहके वग नही होता और यदि मृत्युकालमें भी अैसी ही स्थिति वनी रहे तो वह ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करता है।

५

मृत्यु पर जीत

अव सोचने योग्य प्रश्न यह है कि यदि मृत्यु भी जीवनका ही अेक रचनात्मक बल और जीवनको विकसित करनेवाला साधन हो, और किसी प्राणीने अपनी मृत्यु कभी देखी ही नही यह वात सत्य हो, तो प्राणी मात्रको मृत्युसे अितनी ज्यादा नफरत और डर क्यो होता है? प्राण-धारणसे सच्चा वैराग्य मुश्किलसे ही क्यो हो सकता है? संसार दु:ख-रूप ही है अैसा कहनेवाला और ससारमें दु:खका ही ज्यादा अनुभव करनेसे वारवार मृत्युकी अिच्छा प्रकट करनेवाला मनुष्य भी आत्महत्याका प्रयत्न करनेके वाद जव मौत अुसके सामने आकर खडी होती है, तव दो क्षण अधिक जीनेकी अिच्छा रखता हुआ तथा वचनेके लिअे निष्फल प्रयत्न करता हुआ देखा जाता है।* हमारा स्नेहीजन वीमारीसे अुठ सके अैसी अुसकी हालत नही होती; सिर्फ पीडा सहन करता रहता है; अुसकी अुमर वगैराको देखते हुअे वह मर जाय तो अुचित समयमें ही चल वसा माना जायगा— अैसा समझते हुअे भी डॉक्टर और सगे-सम्वन्धी अुसकी आयुष्य-डोरीको दो घण्टे तो भी ज्यादा लम्वी करनेके लिअे छटपटाते हैं

* यहां मुझे अेक पाठ्यपुस्तककी वार्ता याद आती है। अेक वूढा गरीव लकड़हारा लकडीका वोझ लेकर जंगलसे आ रहा था। रास्तेमें थक जानेके कारण वोझको जमीन पर फेंक कर गहरी आहके साथ "हे राम! अव तो मौत आ जाय तो अच्छा।" कहता हुआ वैठ गया। तुरन्त ही सामने अेक पुरुष आकर खड़ा हुआ और पूछने लगा: "क्यो भाअी! मुझे कैसे याद किया?" लकड़हारेने पूछा, "तुम कौन हो?" अुसने कहा, "मृत्यु — तुमने अभी मुझे याद किया था न?" लकड़हारा थोडा घवराया परन्तु चालाकीसे वोला, "भाअी, जरा यह वोझ मेरे सिर पर चढा दो न!"

और वैसा करनेमें ही स्वधर्म मानते हैं। शास्त्र भले यह कहे कि जीव अजर-अमर है और बार बार जन्म लेता है, अर्थात् अपना व्यक्तित्व कायम रखता है, फिर भी मनुष्यका वर्ताव तो अैसी ही श्रद्धा प्रकट करता हुआ मालूम होता है कि जीवनके मानी आयुष्य और आयुष्यके मानी जीवन है; तथा आयुष्यके अन्तमें व्यक्तित्वका नाश हो जाता है और व्यक्तित्वके नाशके मानी हैं अन्धकार! अिस तरह मरनेवालेका या स्नेहियोंका मृत्युसे समाधान नही होता, अिसका कारण क्या है?

यह बात सत्य है कि असमाधानका अेक कारण पारस्परिक स्नेह है। वियोगका दुःख होता है और वह होना स्वाभाविक है। परतु जिसके साथ स्नेहका कोअी संबंध नही होता, अुसे भी हम मौतसे बचानेका प्रयत्न करते हैं और अुसे मरता हुआ देखकर खेद करते हैं। यह समभाव है। और अिसके पीछे अेक ही श्रद्धा काम करती हुअी मालूम होती है। वह यह कि 'जीता नर बसाता घर', मरने-वाला नहीं। 'मृत्यु मंगल-स्वरूप है' अैसा अनुभव करना बहुत कठिन है।

अैसा मानना ठीक नही कि तत्त्वज्ञानके सिद्धान्तसे विपरीत अैसी अुलटी मनोवृत्तिका कारण केवल अज्ञान ही है। अिसका अेक कारण यह हो सकता है कि जिस अवस्थाका अभ्यास या अनुभव नही होता, अुसका डर लगता है। जिसे अंधेरेका अभ्यास न हो अुसे अंधेरेसे डर लगता है; जंगलका अभ्यास न हो अुसे जगलका और शहरका न हो अुसे शहरका डर लगता है; पानीमें मुसाफिरी करनेका अभ्यास न हो अुसे स्टीमरका डर लगता है। मृत्युका पहले कभी अनुभव किया हो अैसा किसीको याद नही होता, तो फिर अुसका अभ्यास तो हो ही कैसे सकता है? यह वस्तु अतमें अच्छी और सुखप्रद हो, तो भी जिस तरह अंधेरेमें अथवा पहली बार पानीमें अथवा पेरेशूट लेकर हवामें कूदते समय डर लगता है, अुसी तरह अिसका डर लगना सभव है।

परतु अिससे भी गहरा और महत्त्वपूर्ण अेक दूसरा कारण भी अुसके पीछे रहता है। वह है मरनेवाले व्यक्तिकी असिद्ध कामना।

जब तक प्राणीको अैसा लगता है कि कुछ जानना, भोगना और करना बाकी रह गया है और अुसके पहले ही शरीर-यंत्रके रुक जानेका डर पैदा हो गया है, तब तक श्रद्धालु भक्त हो, वेदांती ज्ञानी हो, या सच्चा नास्तिक हो, किसीकी भी जीनेकी अभिलाषा मिट नही सकती। मुसाफिरी बाकी हो और मोटरका पेट्रोल खतम हो जाय या टायरमें छेद हो जाय, तो मुसाफिर ज्ञानी हो या अज्ञानी वह निराश हुअे बिना कैसे रह सकता है? लेकिन संभव है मुसाफिरी पूरी होनेके बाद मोटरका चाहे जो हो जाय तो भी अुसको शोक न हो।

जीनेकी अभिलाषा कामना और शरीर-यंत्रके बीच मेलके अभावका परिणाम है। "मारो हंसलो[1] नानो ने देवळ[2] जूनुं तो थयु।" (मीराबाअी) अर्थात् कामनाअें बाकी रही और शरीर अुन्हें सिद्ध करनेके लायक नही रहा और अुसके पहले ही टूटने लगा। कभी अिससे अुलटा होने पर शरीर-धारण भाररूप है, अैसा भी अनुभव होता है। खुद जो कुछ करनेकी अुमंग रखता था वह कर चुका, अब ज्यादा सोचनेकी या कामना करनेकी ताकत भी नही रही, शरीर भी जर्जरित हो गया है; परंतु हृदयका मासपिण्ड अैसा मजबूत है कि अुसकी गति थमती नही और वह वर्षो तक शरीरको टिकाये रखता है। अिसकी तुलना कुम्हारके चक्रकी गतिके साथ की जा सकती है। 'हंसलो' छोटा रहे और 'देवळ' पुराना हो जाय, अुस स्थितिसे यह अुलटी है।

परंतु 'हंसलो' भी छोटा और बलवान हो और 'देवळ' भी मजबूत हो और फिर भी 'देवळ'को तोड़ डालने या टूटने देनेका अर्थात् मृत्युसे भेटनेका प्रसंग आने पर हिंमत और समाधान रहे, तब "मृत्यु मरी गयु रे लोल"* (मृत्यु मेरी मर गअी रे) गानेकी योग्यता आयी, अैसा कह सकते हैं। यह कब होता है?

जब किसी मनुष्यके जीवनका ध्येय अैसा दीर्घकालीन और निःस्वार्थ हो कि अुसकी ही जिंदगीमें अुसका पूरी तरह सिद्ध होना असंभव हो; अुलटा अपनी सार्वजनिकता और कठिनाअीके कारण

---

१. हंसलो = आत्मा। २. देवळ = शरीर।

* गुजराती कवि नरसिंहरावकी कविताकी अेक पंक्ति।

वह अनेक व्यक्तियोंके समग्र जीवन-कर्म और वलिदानोंकी भी अपेक्षा रखता हो, तो वैसा ध्येय और ध्येयोकी तरह पूर्णतया अुदात्त न होने पर भी अपने साथ ओतप्रोत होनेवाले व्यक्तिको अपना शरीर हिम्मत और संतोषपूर्वक छोड़ देनेकी शक्ति देता है। अुस मनुष्यको अुस ध्येयकी सिद्धिके लिअे जीनेकी भी अुमग रहती है और अुसके लिअे यदि मरना जरूरी हो तो अुसमें मरनेकी भी हिम्मत आ जाती है। परंतु जो ध्येय चाहे जितना अुदात्त और कठिन होने पर भी सार्वजनिक न हो, अर्थात् समष्टिके जीवनको व्याप्त करनेवाला न हो, वल्कि अुस मनुष्यकी व्यक्तिगत कामना ही हो — जैसे कि मोक्षकी — तो जव तक वह आदमी अपने ध्येयकी सच्ची या झूठी सिद्धि नही देखेगा, तव तक वह संतोष और हिम्मतके साथ मृत्युका स्वागत नही कर सकेगा। शरीरके थक जाने पर अनशन करके अुसका अंत करनेमें ही श्रेय है, अैसा विचार करके अनशन शुरू करनेवालेकी भी अुस अनशनमे डिगनेकी सभावना रहती है।

जो मनुष्य सार्वजनिक ध्येय रखते हुअे भी अुसकी सिद्धि अपनी आखोसे देखनेकी व्यक्तिगत कामना रखता हो, वह मनुष्य भी संतोषपूर्वक शरीरका अंत देखनेमें असमर्थ होता है।

परतु जिसका ध्येय तुलनामें कम अुदात्त — आध्यात्मिककी अपेक्षा आधिभौतिक माना जानेवाला हो, परतु ज्ञानपूर्वक अथवा सिर्फ परपरागत संस्कारोसे या जडतासे भी सार्वजनिक हो, वह व्यक्ति जीवनके दूसरे क्षेत्रोमें मामूली आदमी लगता हो तव भी अुस ध्येयकी सिद्धिके लिअे जरूरत पडने पर ज्यादा हिम्मत और सतोषके साथ मर सकता है।

व्यक्तिगत मोक्षके लिअे अनेक साधु पुरुषोने वहुत वडा पुरुषार्थ और त्याग किया है और वे सिद्धिके पहले ही मर भी गये है। परतु यदि वह मोक्ष काल्पनिक ही हो, तो मोक्षसिद्धि जैसा लगनेके वाद जो थोड़े समयमे ही मर गये वे तो संतोषपूर्वक मरे है; परतु जो अुसके वाद लम्बे समय तक जीते रहे, वे मरनेके समय जीवित रहनेका प्रयत्न करते देखे गये है। क्योंकि काल्पनिक

मोक्षकी कृतार्थता मिट जानेके वाद कोअी वाकी रही हुअी कामना या ज्यादा आगे जानेकी कामना नवीन ध्येय वनती है; और वह जीवित रहनेकी अभिलाषा अुनमें कायम रखती है।

परतु जिसके जीवनका ध्येय जान या अनजानमें विश्वके जीवनको किसी दिशामे ज्यादा समृद्ध वनानेवाला होता है, और अुसीमे जो अपना व्यक्तिगत श्रेय भी समझता है, अुसे अुस ध्येयके लिअे अपना जीवित रहना भी जिस तरह प्रयोजनरूप लगता है, अुसी तरह मरनेकी जरूरत होने पर मरना भी प्रयोजनरूप लगता है; और काम करते करते कुदरती मौत आवे, तव भी शाति और सतोप रहता है। अिस तरह कअी वार किसी धर्मके संस्थापककी अपेक्षा अुसके प्रचारक ज्यादा हिम्मत और संतोषके साथ अपना वलिदान देते हुअे पाये गये हैं। लडाअी, समाजसेवा, स्वामिभक्ति, देशभक्ति वगैरा सव क्षेत्रोमें अैसा अनुभव होता है।

मृत्युको जीतनेका यही निश्चित मार्ग मालूम होता है। जीवनका ध्येय स्वलक्षी नही, व्यक्तिगत नही, परन्तु विश्वलक्षी, सार्वजनिक रखा जाय; अुसे ध्येय माने या अपने श्रेयका साधन मानें; अथवा अपने श्रेयको ध्येय मानें और सार्वजनिक जीवनकी समृद्धिको अुसका अनिवार्य साधन माने; यदि अपने श्रेय और विश्वजीवनकी समृद्धिके वीच विरोध नही पर सुमेल साधा होगा; यदि अुस ध्येयका कुछ अग अपने ही जीवनकालमें और अपने ही हाथो या अपनी ही रीतिसे सिद्ध करनेका आग्रह नहीं रखा जाय वल्कि वह अितना लंवा और सार्वलौकिक हो कि अनेकोंके हाथोसे दीर्घकालमें ही अुसकी सिद्धि शक्य हो, तो वैसे ध्येयके लिअे सतोपपूर्वक जीने और मरनेकी वहुत वडी संभावना रहती है। कोअी दूसरा ध्येय यह परिणाम नही ला सकता।

विश्वजीवन गगोत्रीसे निकलकर समुद्रकी तरफ वढनेवाले गगाके प्रवाहके समान है। व्यक्ति अुसके पानीकी अेक अेक वूद जैसे हैं। सव वूदे अेक-दूसरेके साथ मिलकर और सतत मिली हुअी रह कर लगातार आगे ही आगे वढती रहती हैं; पीछेसे आनेवाली वूदोका प्रवाह आगे गअी हुअी वूदोको ढकेलता रहता है। और

पीछेकी तथा आगेकी बूंदें पृथ्वीके गुरुत्वाकर्षणसे समुद्रकी ओर वेग-पूर्वक दौडती ही रहती है। अैसा होता है तभी गंगा बड़ी नदीका रूप धारण करती है और अुसे समुद्र तक पहुचनेकी सिद्धि मिलती है।

परतु यदि अुस गगाकी हरअेक बूदके बारेमें अलग अलग विचार करें तो हरअेक बूद समुद्र तक पहुचती ही है, अैसा नही कह सकते। कितनी ही बूदोको आसपासकी और नीचेकी जमीन सोख लेती है; कुछको वनस्पतिया चूस लेती है या जीव-जतु पी जाते है; कितनी ही अधबीचमें ही सूखकर भाफ बन जाती है; कितनी ही अनेक पदार्थोके साथ मिलकर रासायनिक द्रव्योका रूप ले लेती है। अिस तरह अगणित बूदें समुद्र तक पहुचती ही नही। दूसरी ओर, जिसे हम गगाका प्रवाह कहते हैं, अुसे अपनी समृद्धि और सिद्धि यमुना, सोन, सरयू, गंडक, गोमती जैसी कितनी ही बडी बडी नदियो और सैकडो छोटे छोटे नदी-नालोंके अपने व्यक्तित्वका नाश करनेवाले स्वार्पणसे प्राप्त हुअी है। अिन अगणित बूदोका और अिन सैकड़ो नदी-नालोका अिस तरहका सतत बलिदान न होता रहता, तो गगाके प्रवाहको समुद्र तक पहुचनेकी सिद्धि नही मिलती, अथवा मिलती तो भी जगत् अुसकी ज्यादा कीमत नही करता। क्योकि गगा हमें भव्य और माताके समान पालन करनेवाली अुसके समुद्र तक पहुचनेवाले जलप्रवाहकी अपेक्षा अुसकी जज्ब होनेवाली, चूसी जानेवाली, पी जाने-वाली, सूखनेवाली और रसायन बननेवाली बूदोंके कारण तथा अनेक नदी-नालोको अपनेमें समा लेनेकी शक्ति रखनेके कारण लगती है।

फिर भी समुद्र तक पहुचनेवाली या न पहुचनेवाली हरअेक बूद और नदी-नाला सपूर्ण रूपसे पानी ही है न? वह समुद्रमे पहुचा नही है या अलग अलग प्रवाहके रूपमे बहता नही है, और अुनका व्यक्तित्व रहा नही है, अिसमे क्या अुसके और समुद्रके बिन्दुओंके स्वरूपमें रत्ती भर भी अतर पडता है? अथवा समुद्र तक न पहुचनेके कारण या वहा पहुचने तक अलग व्यक्तित्व न रख सकनेके कारण, क्या अुनका जलत्व कम कृतार्थ या कम सिद्ध हुआ माना जायगा? परतु यदि कोअी बिंदु या नाला खुद ही व्यक्तित्वकी रक्षा करके

समुद्र तक पहुंचनेका आग्रह रखे, तो अुसे कृतार्थताका अनुभव नही होगा। तटस्थ न्यायाधीश अिसे अुसका मूढाग्रह समझेगा।

यदि हमे व्यक्तिगत सिद्धिया प्राप्त करनेका तथा हमारे व्यक्तित्वको सदाके लिअे अलगसे सुरक्षित रखनेका आग्रह न हो, तो हमारे जीवन और मृत्युके वीचका भेद मिट सकता है। अनासक्ति और अलिप्तताकी सिद्धि अिसके विना सभव नही है अैसा कहिये, अथवा अिस स्थितिकी प्राप्तिको ही अनासक्ति या अलिप्तता कहिये। अिसी अर्थमे नीचेके श्लोक चरितार्थ हो सकेंगे :

"आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥"[1]

"विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥"[2]
(गीता २–७०,७१)

---

१. नदियोंके प्रवेशसे भरता रहने पर भी जैसे समुद्र अचल रहता है, वैसे ही जिस मनुष्यमें संसारके भोग शान्त हो जाते है वही शान्ति प्राप्त करता है, न कि कामनावाला मनुष्य।

२. सव कामनाओंका त्याग करके जो पुरुष अिच्छा, ममता और अहंकाररहित होकर विचरता है, वही शांति पाता है।

६

जीवन सुखमय या दुःखमय ?

"न जाने संसारः किममृतमयः किं विषमयः ॥"

(भर्तृहरि, वैराग्यशतक, ८८)

संसार—जीवन दुःखमय ही है, अैसा सब धर्मों और दर्शनोंका तथा सामान्य रूपसे गभीरताके साथ अपना अनुभव प्रकट करनेवाले मनुष्योंका निश्चित मत मालूम पड़ता है। सांख्यकारिकामें कहा है कि :

"(अूर्ध्व, मध्य और अधः—तीनों लोकोंमें) चेतन पुरुष जरा-मरणसे होनेवाला दुःख भोगता है। . . . अिसलिअे दुःख स्वभावसे ही है।" (कारिका ५५)

योगसूत्र भी कहते हैं कि :

"सुख भी अस्थिरता, चिन्ता और संस्कारोंके दुःखोंवाले तथा गुण और वृत्तियोंके विरोधवाले होते हैं, अिसलिअे विवेकी पुरुष सबको दुःखरूप ही मानता है।" (२–१५)

गीता भी दो जगह अिसका समर्थन करती है। नवें अध्यायमें कहा है कि :

"अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।"[१]

(९–३३)

तथा तेरहवें अध्यायमें "जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोषानु-दर्शनम्"[२] (१३–८) को ज्ञानका अेक लक्षण बताया है।

---

१. अिसलिअे अिस अनित्य और सुखरहित लोकमें जन्म लेकर तू मुझे भज।

२. जन्म, मरण, जरा, व्याधि, दुःख और दोषोंका निरन्तर भान।

वौद्ध, जैन अित्यादि धर्मो और दर्शनोका भी यही अभिप्राय है। अीसाअी और मुसलमान सतोने भी अिन्ही विचारोको पोसा है। वैराग्य और संन्यास मार्गकी अुत्पत्ति भी अिसी मतमें से हुअी है।

साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक अित्यादि दर्शन सुखके अस्तित्वका ही अिनकार करते हुअे मालूम होते हैं। दुःखके आत्यन्तिक नाशका ही नाम सुख है। सुख या आनदकी प्राप्तिका या अुसकी शोधका प्रयत्न केवल मिथ्या प्रयास है। वहुतसे अद्वैत वेदान्तियोने भी आत्माका स्वरूप बतलानेवाले तीन शब्द सत्, चित् और आनंद असत्, अचित् और शोकका निरास करनेके लिअे ही माने हैं; अर्थात् असत् नहीं अिसलिअे सत्, जड नही अिसलिअे चेतन, शोकरूप नही अिसलिअे आनदरूप। आत्मा तो सुख और आनदका सागर है, अुसमे निरतिशय आनद है, अित्यादि वर्णन प्रत्येक वेदान्तीको मान्य नही हैं।

पुराणोंमे मार्कण्डेय मुनिकी कथा है कि वे चिरंजीव मुनि अनेक सृष्टियोमे घूमे तथा अुन्होने अनेक सृष्टियोकी अुत्पत्ति, स्थिति और प्रलय देखे, परतु कही पर भी अुन्हे यह अनुभव नही हुआ कि जीवन सुखमय है।

केवल सुभाषितोंमे भर्तृहरि ही कही पर आनंद और कही पर दु.खके दृश्य देखकर यह शका प्रकट करते है कि कुल मिलाकर अिस ससारमे अमृत है या जहर, यह समझमे नही आता।

भर्तृहरिको अेक ही समयमे परतु जुदी जुदी जगहो पर सुख-दु ख दोनोके दृश्य देखकर शका पैदा हुअी है। अर्थात् सारे ससारके विषयमे यह शंका है। परतु अपना व्यक्तिगत या समष्टिका जीवन कुल मिलाकर सुखरूप है या दु.खरूप, यह भी विचारने जैसी वात है।

क्या सचमुच हरअेकको निजी अनुभवसे संसार अथवा जीवन हमेशा दु खरूप ही मालूम हुआ है? क्या अिसके सुख भी दु ख देनेवाले और दु.ख भी दु ख देनेवाले ही हमेशा सावित हुअे हैं? क्या मनुष्यकी संसार-सबधी अनुभवोकी स्मृति हमेशा भौतिक, मानसिक, वौद्धिक, आध्यात्मिक — किसी भी प्रकारके सुखके अशसे रहित ही होती है? क्या अुसने दु:खके साथ सुखका भी अनुभव नही किया है?

क्या हरअेक सुख बादमें दुःखरूप ही मालूम हुआ है? या अुनकी स्मृति दुःख ही पैदा करती है? अिनने अुलटा, क्या अैसा भी नहीं हुआ है कि कुछ दुःख भी बादमें सुखकारक निकले है अथवा दुःख-कारक होने पर भी स्मृतिरूपमें सुख देनेवाले मालूम हुअे है?

और अैसे कितने आदमी हमने देखे है, जिन्होने जीवनको दुःखरूप माननेके बाद भी अुसमें से सुख प्राप्त करनेकी या अुसे सुखकर बनानेकी आशा रखी ही न हो? कोअी अुपाय कोशिश करने जैसा मालूम हुआ हो और अुसे आजमानेकी शक्यता हो, फिर भी आजमाअिश न की हो? अुपाय मालूम न होने पर अुसकी शोध करना अुचित न माना हो? और जो कहते है कि हमने तो जीवनमें दुःख, दुःख और केवल दुःख ही देखा है और हम जीवनसे बिलकुल निराश हो गये है, अुनके सामने कोअी अुन्हें तत्काल गोलीसे अुड़ानेके लिअे तैयार हो, तो अुनमें से कितने अुसका कृतज्ञतापूर्वक स्वागत करनेके लिअे तैयार होगे? यह बात सच है कि बलवान विरोधी परिस्थितियोंके कारण, आलसके कारण या पुरुषार्थ करनेकी शक्ति न होनेके कारण, अथवा सोची हुअी सफलता न मिलनेके कारण बहुतसे लोग दुःखमें सडते रहते है, और अपने नसीबको दोष देते है अथवा ससार दुःखमय ही है अैसा बोध लेते है। परंतु वह निराशाका परिणाम है। और निराशाका स्वभाव ही अैसा है कि चाहे जितना टीपटीप कर अुसका सस्कार मजबूत बनाओ, तो भी वह आशाकी अपेक्षा अल्पजीवी ही रहती है। जिस तरह गहरा अंधेरा छोटीसी दियासलाअीके सामने भी टिक नहीं सकता, अुसी तरह निराशा आशाकी किरणके सामने टिक नहीं सकती।

परतु अंधकारको दूर करनेके लिअे आप अेकके बाद अेक दिया-सलाअी जलाते जायं, तो अैसा अनुभव होगा कि अंधकार ही गाढ है और दियासलाअीसे अुसे दूर करनेका प्रयत्न बेकार है। अुसके बदले मोमबत्ती, लालटेन या मशालका प्रयत्न अधिक सफल होगा। परंतु मोमबत्तीके खतम हो जानेके बाद क्या, लालटेनका तेल खतम हो जानेके बाद क्या? यदि 'विवेकी' पुरुष अैसे ही सवाल पेश करता रहे,

तो मैं अुन सवालोंको विवेक नहीं मानूंगा। अिसके लिअे तो दूसरी मोमबत्ती या मशाल लाना अनिवार्य है, अैसा समझकर ही चलना चाहिये।

बुद्धने पहला आर्यसत्य यह गिनाया है कि जरा, व्याधि, मृत्यु, अप्रियका योग और प्रियका वियोग ये पांच दुःख प्राकृतिक हैं। बात सच है। अिनके सिवाय दूसरे सब दुःख तृष्णाजन्य हैं; वे तृष्णाको छोड़ देनेसे दूर हो सकते हैं। परंतु क्या तृष्णा छू करने मात्रसे छूट सकती है? हम जीर्ण होकर मर जायं और सब सत्पुरुषोंके ज्ञानामृतको रात-दिन पीते रहे फिर भी अेक दिन अचानक अैसा मालूम पड़ता है कि वह निर्मूल नहीं हुअी है।

और जो पांच प्राकृतिक दुःख गिनाये गये हैं, अुनके साथ ही जन्म, युवावस्था, आरोग्य, प्रियका योग और अप्रियका नाश अिन पांच आनंदोंको भी प्राकृतिक ही क्यों न कहें? और तृष्णाकी सिद्धिके समय अुसका सुख भी मिलता है, अैसा भी क्यों न कहे?

वस्तुतः संसार और जीवनके प्रति देखनेकी हमारी दृष्टिमें और अुसके संबंधमे हमारी अपेक्षामे ही दोष है।

गीताके दूसरे अध्यायका १४ वा श्लोक संसारके स्वरूपको ज्यादा सच्ची रीतिसे प्रकट करता है:

"मात्रास्पर्शास्तु कौंतेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्ता तितिक्षस्व भारत॥"*

जीवनमें सुख तथा दुःख दोनों अनित्य है, सुखरूप तथा दुःखरूप दोनों प्रकारके विषय आते हैं और जाते हैं। हम दोनोंको सहन कर लें। अनित्यमे नित्यकी आशा करना, और फिर कहना कि सुख अनित्य है अिसलिअे दुःख ही नित्य है, यह संसारका जो स्वभाव नहीं है, अुसकी अुससे आशा रखनेसे पैदा होनेवाली निराशा है। यह ठीक वैसा ही है जैसे गरम जलसे शरीर जल सकता है, यह जाननेके कारण अुसे

---

* हे कौन्तेय, अिन्द्रियोंके स्पर्श सर्दी-गर्मी, सुख और दुःख देनेवाले होते हैं। वे अनित्य होते हैं, आते है और जाते है। अुन्हें तू सहन कर।

अग्नि पर डालकर अग्निको और ज्यादा प्रज्वलित करनेकी हम आशा करें और वैसा न होने पर कहे कि गरम पानी जला सकता है यह बिलकुल झूठ है। गरम पानी जला सकता है यह सत्य है, परंतु वह अमुक वस्तुको ही। अिससे ज्यादा आशा रखी जाय तो दोष आशा रखनेवालेका है, पानीका नही। अुसी तरह ससारमे सुख भी अमुक मात्रामे और परिस्थितियोमे ही है, अुससे ज्यादाकी आशा रखनेवाला भूल करता है। जो बात सुखके लिअे सच है, वही दु:खके लिअे भी है।

सुख और दु:खके बीचमें अेक दूसरा भी फर्क है। यदि ससारके विषयमें हम अैसी कल्पना कर रखे कि वह अैसे ढालकी तरह होना चाहिये, जिन परसे बगैर किसी कोशिशके और आरामसे हम नीचे खिसकते आ सकें तो वह निराशा ही पैदा करावेगी। ससारका यह स्वभाव ही नही है। क्योंकि अनित्य ससार और नित्य आत्माके बीच चाहे जितना भेद मालूम होता हो, तो भी ससार आत्मामें से पैदा हुआ है। और आत्मा हाथमें से छूटते ही खटसे नीचे गिरनेवाले पत्थरके जैसी नही है, बल्कि हमेशा अूपर ही अूपर अुडनेकी कोशिश करनेवाले गरुड़ जैसी है, और अुडनेकी क्रिया ही अैसी है कि अुसमें कोशिश और मेहनतके बगैर चल नही सकता। अुसी तरह ससारमें सतत पुरुषार्थ, सतत मेहनत जीवनको आगे बढानेकी अनिवार्य शर्त है। अिस शर्तका पालन न किया जाय तो नीचे गिरना ही होगा; और वह तो दु:खमय ही होता है। अिस शर्तका पालन करने पर भी कदाचित् निष्फलता मिले और दु:ख हो, परन्तु सफलता भी मिल सकती है और सुख भी मिल सकता है। अैसा होनेसे सुख सयोगवश तथा प्रयत्नाधीन और दु:ख स्वभावसिद्ध मालूम होता है। परन्तु अुसका अर्थ यह नही है कि ससार केवल दु:खमय ही है। हिमालय पर चढनेमें सतत परिश्रम करना पडता है; नीचे गिरनेमें सतत परिश्रमकी जरूरत नही होती; बगैर कोशिशके — अनिच्छासे भी — कभी वह हो सकता है। यह सभव है कि चढनेका परिश्रम करने पर भी कभी निष्फलता मिले। परन्तु अिससे पृथ्वीको घाटियो और पर्वतोवाली न कह कर केवल घाटियो और गड्ढोंवाली ही कोअी कहे तो वह ठीक नही है।

और, वहुत विचारने जैसी वात तो यह है कि संसार दु:खरूप ही है अैसा तत्त्वसिद्धान्त होने पर भी, प्राणीके हृदयमे से संसारको सुखरूप वनानेकी आगा और प्रयत्नोंका कभी अुच्छेद ही नही होता, अिसका कारण क्या है? अिसका यह जवाव दिया जाता है कि आत्मा सुखरूप है, और अिस आत्मसुखका संसारको लगा हुआ रंग अज्ञानके कारण संसारमे सुखका भास कराता है; वस्तुत: अपनेमे रहे हुअे सुखके अनुभवके वारेमे प्राणी भूलसे अैसी कल्पना करता है कि वह वाहरसे आता है। अपनी नाभिमें रही हुअी कस्तूरीको जिस तरह हिरन वाहर खोजता है, अुसीके जैसी यह भूल है। मेरे विचारसे यह जवाव अधूरा है। विचार करने पर मुझे अैसा लगता है कि आत्मामें से ही अिस संसारका अुद्‌भव है, और आत्मा तथा संसारके स्वरूपमें परस्पर विरोधकी कल्पना करना गलत है। आत्मा अनंत शक्तिमान है, अिसलिअे संसार भी अनतरूपी है; आत्मा सतत क्रियावान, गतिमान है, अिसलिअे संसार भी सतत वदलनेवाला है; आत्मा सतत ज्ञानरूप है, अिसलिअे संसार सतत नये नये अनुभवोसे भरा हुआ है। संक्षेपमें, निरतर नये नये रूपोमें अपनेको प्रकट हुआ देखना आत्माके स्वरूपमें से पैदा होनेवाला अवश्य स्वभाव है। ये अनंत रूप अलवत्ता अेकसे नही हो सकते; परस्पर विरोधी भी हो सकते हैं। और अिसलिअे कभी सुखकी वेदना करानेवाले और कभी दु.खकी वेदना करानेवाले होते है। सुखकी वेदना पैदा करके वहां स्थिर रहना आत्माके स्वभावमे नही है; अिसलिअे नवीन वेदना ज्यादा सुखकी या कम सुखकी होती है अथवा दु:खकी भी होती है। दु:खकी वेदना पैदा करके अुसमें संतोष मानना या हमेगाके लिअे निराग होकर वैठ जाना भी आत्माका स्वभाव नहीं हो सकता। क्योंकि अेक ही जगह और अुसमें भी निष्फल स्थल पर स्थिर रहना अुसके ज्ञान-क्रियागील स्वभावके विरुद्ध है। अिसलिअे जहां जहां दु.खका अनुभव हो, वहां वहां अुसके साथ झगड़ना और अुसमे से निकलनेके लिअे प्रयत्न करना, और सुखका अनुभव हो वहां अुसे समृद्ध करनेके लिअे प्रयत्न करना अुसके स्वभावका परिणाम-

रूप धर्म है। अुसके स्वभावके विरोधी तत्त्वज्ञानका चाहे जितना प्रचार हो, और कोओी विरला योगी वैसे तत्त्वज्ञानमें दृढ रूपसे स्थिर दिखाओी दे, तो भी वैसा तत्त्वज्ञान जगत्‌में कभी स्थायी नही मालूम होगा। अिसलिअे जरा, मृत्यु, रोग, अप्रिय परिस्थितियोंके योग और प्रिय परिस्थितियोंके वियोगके अनिवार्य दु:खोंको दूर करना तथा बल, आरोग्य, दीर्घायु, प्रिय परिस्थितियोंके योग और अप्रियके वियोगमें प्राप्त होनेवाले सुखोंको सिद्ध करनेके लिअे प्रयत्न करना ही अुचित पुरुषार्थ और जीवनका ध्येय हो सकता है। अलबत्ता, अुसमें विवेक तो होना ही चाहिये, अर्थात् ज्ञान होना चाहिये। ज्ञानकी कमीके कारण पुरुषार्थकी निष्फलताके वार बार प्रसंग आयेंगे। और विवेक चाहिये, यानी अुन प्रयत्नों तथा अुनके परिणामोंके विषयमें गलत आशा नहीं रखनी चाहिये; नही तो निराशा होगी ही। गलत आशायें ये हैं: प्रयत्नको सोचा हुआ यश मिलना ही चाहिये; वह प्रयत्न तथा अुसका परिणाम सुखरूप ही होना चाहिये, दुख:रूप होना ही नही चाहिये, अुसमें मेहनत होनी ही नही चाहिये अथवा हो भी तो बहुत कम होनी चाहिये। अैसी अैसी गलत आशाओंका नाम ही फलासक्ति है।

परन्तु मिथ्या आशायें न रखते हुअे भी अितना तो जानना चाहिये कि आत्मा सत्यकाम और सत्यसंकल्प है। अिसलिअे वह जिस स्थितिको प्रकट करनेके लिअे विवेकपूर्वक प्रयत्न करती है और अुसके पीछे सतत लगी रहती है, वह योग्य कालमें सिद्ध होती ही है। अिसलिअे संसारको सशुद्ध, समृद्ध और निर्दोष बनानेवाला पुरुषार्थ सतत करते रहना और वैसा करते हुअे सुख-दु:ख, लाभ-हानि, यश-अपयश वगैरा जो कुछ भी आ पड़े अुसे सहन करनेके लिअे तैयार रहना, अुसके लिअे जीवनको टिकाये रखने जैसा और जरूरत पडे तो अुसकी बलि देने जैसा भी समझना — अिसीमें विवेकी और पुरुषार्थी मनुष्यके लिअे अपना तथा विश्वके जीवनका श्रेय तथा ध्येय प्राप्त करना संभव हो सकता है। अिसमें से ही मानवधर्म और व्यक्तिका स्वकर्म प्राप्त होगा।

परिशिष्ट

'जगमें जीना दो दिनका'?

जब मै सन् १९४२ मे रायपुर जेलमे कैदी था, मेरे वार्डके बाजूमें ही स्त्रियोका वार्ड था। वहासे सुबह-शाम प्रार्थनाकी आवाज सुनाअी देती थी। अुसमे अेक भजन रोज गाया जाता था। अुसका ध्रुवपद था — 'जगमें जीना दो दिनका'। मेरा खयाल है कि वह भजन ब्रह्मानन्द-भजनमालाका है। अिसी भावके हमारे भक्ति-साहित्यमें सैकडो भजन है। कबीरका 'अिस तन धनकी कौन बडाअी' प्रसिद्ध ही है। अिन भजनोंमे सत्याश और बोध लेने लायक कुछ भाग तो है। फिर भी मुझे ये विचार कुछ अखरते थे। कअी दिन तक अुसे सुनते रहने पर मेरे साथ रहनेवाले श्री तुकड़ोजी महाराजसे मैंने अेक दिन विनोदमें कहा — "ये बहनें कैसे मान सकती है कि 'जगमे जीना दो दिनका' है? मास-डेढ मास तो हमे ही सुनते-सुनते हो गया।" खैर, यह तो मजाक था, लेकिन अुसके प्रत्युत्तररूप नीचेका भजन है:

क्यों कहो जी साधो, जगमे जीना दो दिनका?
गलत खयाल न बांधो, जगमे जीवन दो दिनका।

तन लघुजीवी, जग चिरजीवी अविनाशी जीवनका;
जगके कार्यालयमे तन है साधन केवल जीवनका। — क्यो०

देह मरे दो दिन या युगमें, अन्त नही वह जीवनका;
न कार्य ही नाश सभी होता, किया जो तनने जीवनका। — क्यों०

चरित्त-बुद्धि-वीर्य-मृत्युसे विकास जगके जीवनका;
गुण-विद्या-कीर्ति-धन-वंशज दान है तनके जीवनका। — क्यों०

तन जानेसे डूब गअी दुनिया, सत्य नही यह जीवनका;
तन जावे और जगत् डूबे, पर तू स्वरूप अक्षय जीवनका। — क्यो०

फरवरी, १९४४

संसार और धर्म

दूसरा भाग

ओीश्वर

१
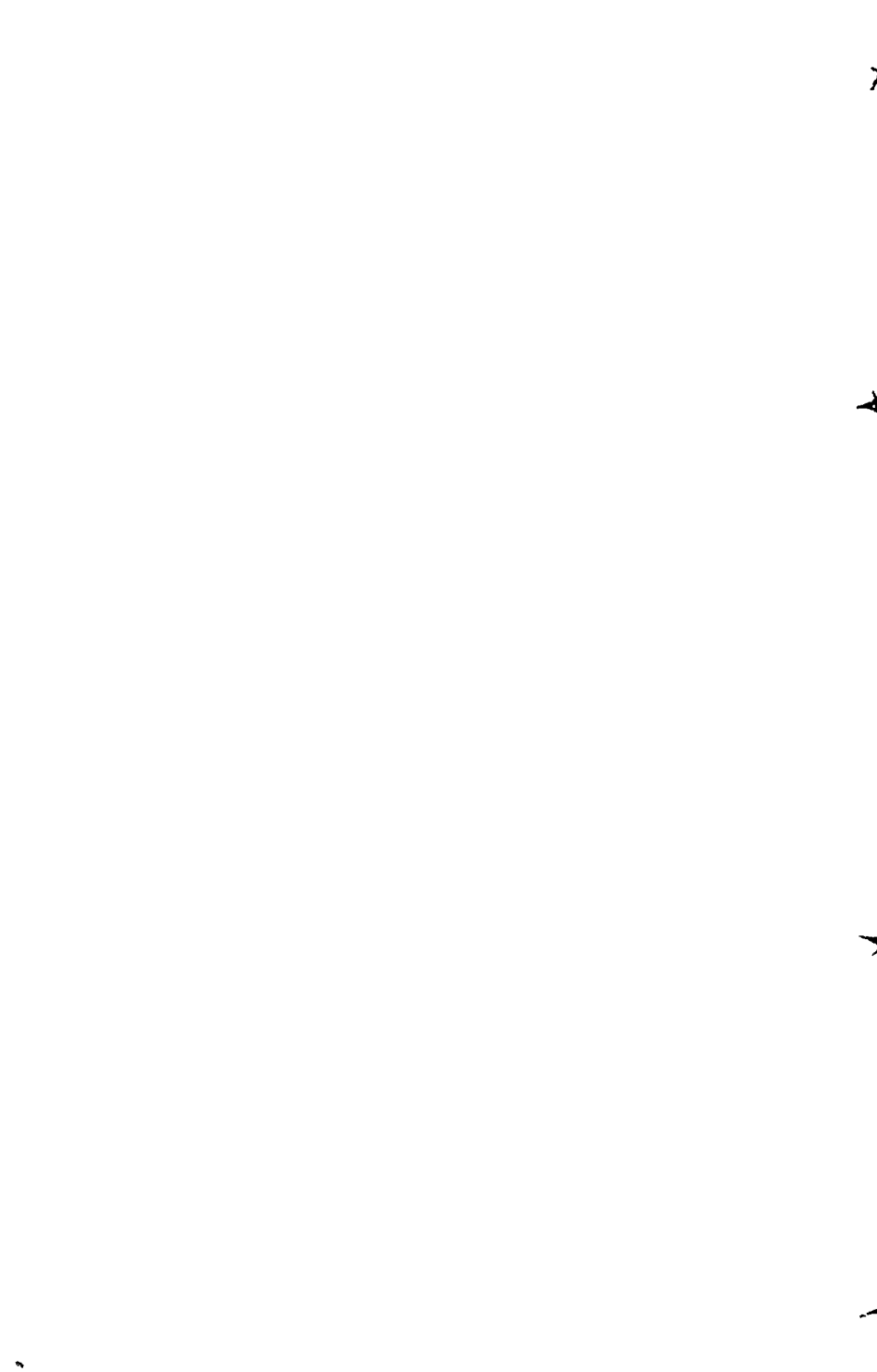
अवतार-भक्ति

जड़ या चेतन — अैसी कौनसी वस्तु है जो परमात्मासे भिन्न है? वस्तुत. हरअेक सत्त्व या पदार्थ परमात्मा ही हैं। फिर भी सनातनी हिन्दू हरअेक सत्त्वकी अुपासना या भक्ति नही करता; प्रतापवान और प्रतापहीन सत्त्वका भेद करता है और थोड़ेसे प्रतापवान सत्त्वोमे विशेष रूपसे परमात्माके भावकी प्रतिष्ठा करता है; जैसे कि अवतार या अपने सद्‌गुरु आदिमें। अुन्हे वह परमात्मारूप मानकर अुनकी अुपामना तथा भक्ति करता है।

वहु-जनसमाज अवतारमें परमात्मभाव रखता है, और शिष्य अपनें सद्‌गुरुमें।

आम तौरसे लोकमत अैसे व्यक्तिको अवतारका पद देता है, जिसका प्रताप वहुत व्यापक तथा प्रसिद्ध हो तथा जिसके द्वारा वहुत लोककल्याण हुआ हो। सद्‌गुरुका प्रताप अपने शिष्यमण्डलके वाहर ज्यादा फैला हुआ नही होता। अुसके हाथो हुआ लोककल्याण अेक ही क्षेत्रमें और वह भी मर्यादित होता है। फिर भी दोनो परमात्माकी तरह अुपासना और भक्तिके पात्र माने जाते हैं।

परमात्माकी अुपासना — भक्ति तो अीसाअी, मुसलमान, पारसी अित्यादि सभी अीश्वरवादी धर्मोंको मान्य है। फिर भी वे लोग किसी भी सत्त्वको परमेश्वरके समान नही मानते तथा किसीकी अैसी भावना या भक्तिमे अुपासना भी नही करते।

प्रश्न यह है कि अवतार या सद्‌गुरुकी परमात्मारूपसे अुपासना — भक्ति करना क्या अुचित है? क्या राम, कृष्ण, शंकर आदि अैतिहासिक या रूपकात्मक अवतारों या देवोको या अपने सद्‌गुरुको 'साक्षात् परब्रह्म' समझना और अिस भावनासे अुनकी अुपासना या ध्यान-भजन करना अुचित है?

मै अद्वैत सिद्धान्तको माननेवाला हूं, सद्‌गुरुके द्वारा मैंने लाभ अुठाया है और गुरुभक्ति करता हू। तो भी मै यह कहना चाहता

हू कि अुपासना करनेकी यह रूढ़ि और किसीमें अैसी श्रद्धा रखनेके संस्कार छोड़ दिये जाने चाहिये। तत्त्व तथा प्रत्यक्ष परिणाम — दोनो दृष्टियोसे अिस प्रकारकी अुपासना दोषपूर्ण है।

तत्त्वकी दृष्टिसे अिसलिअे कि सत्त्वमात्र — पदार्थमात्रमें परमेश्वरकी अंशमात्र शक्तिका ही दर्शन होता है। कोअी पूरा नमूना हो ही नही सकता। सिर्फ मनुष्यको ही लें तो मनुष्यताका भी पूर्ण और सर्वकालके लिअे पूर्ण स्वरूप किसी अेक सत्त्वमें नही आ सकता। और मनुष्य तो जड़-चेतन सृष्टिका अेक अणुमात्र अंग है। 'विष्टभ्याऽहमिदं **कृत्स्नमेकांशेन** स्थितो जगत्।' (अिस सारे ससारको मैंने अेक अंशके द्वारा ही धारण कर रखा है: गीता १० – ४२) अिसमें राम, कृष्ण आदि सब आ जाते हैं।

प्रत्यक्ष परिणामकी दृष्टिसे अवतार या गुरु द्वारा अीश्वरकी सगुणोपासना बहुत कल्पनाप्रधान, भ्रामक और विपरीत मार्गकी ओर बहती हुअी देखनेमें आती है।

हजारो वर्ष पहले हो गये अिन अवतारोके सच्चे चरित्र हम नही जानते। जिन ग्रन्थोमें अिनके पूरे या अधूरे अंश मिलते हैं, वे क्षेपकोसे भरे हुअे हैं, खास अुद्देश्यसे अुनमें घट-बढ़ की गअी है। वे अंश परस्पर विरोधी बातोंसे भरे हुअे हैं और अुन्हे दिव्यताका जामा पहनाया गया है। अिसलिअे ये पुरुष सचमुच कैसे थे, अिसकी सच्ची कल्पना नही आ सकती। हरअेक सप्रदाय या भक्त अपनी कल्पनाके राम, कृष्ण आदि बनाकर अुनकी पूजा करता है। और सिर्फ पूजा ही करता है। अुनके अनुयायी अुनके चरित्रके अनुसार अपना चरित्र नही बनाते।

भूतकालमें हो गये कृष्णका कोअी भक्त स्वयं पुरुष होने पर भी गोपी बननेकी कल्पना करता है, कोअी अुद्धव और कोअी माता यशोदा बननेकी कल्पना करता है। कृष्णकी काल्पनिक मूर्तिको सत्य-स्वरूप मानकर वह अुसके प्रत्यक्ष दर्शन करनेकी साधना करता है। प्रत्यक्ष जीवनके कर्तव्योंको और प्रत्यक्ष माता, पिता, बालक, पति तथा समाज आदिको मिथ्या — झूठे मानता है और अिस काल्पनिक पति या

बालकके लिअे रोता है, हसता है, नाचता है और नैवेद्य रखता है और फिर मानता है कि यही भक्ति है, साधना है और मोक्षकी सीढ़ी है।

किसी भी प्रतापी सत्त्वमें वही परमात्मा है, जिस तरहकी श्रद्धा रखनेसे जो भक्तिमार्ग पैदा हुआ है, अुसमें बहुत ही कृत्रिमता आ गअी है, और कअी बार तो वह बहुत भद्दा रूप धारण कर बैठता है। पुराने समयमें हुअे कृष्णके नामके साथ गोपियोंके व्यवहारकी बातें निर्दोष बालक्रीडाअें थीं या शृंगार रससे रंगे हुअे कोअी रूपक थे या प्रताप और विलास दोनों भावोंको अेकसाथ रखनेवाले किसी राष्ट्र-पुरुषका सच्चा जीवन था, अिसका हमें निश्चित पता नहीं है। संभव है ये तीनों रंग अिन बातोंमें हों? परंतु जो अेक संस्कार अवतार-भक्त या गुरुभक्त सम्प्रदायोंमें स्थिर हुआ है, वह यह है कि जिस किसीमें अिस प्रकारकी श्रद्धा हो, अुसके कार्यों और व्यवहारोंकी विवेक-दृष्टिसे जांच की ही नहीं जा सकती और अुसकी किसी भी मांगको पूरा करना ही सच्ची भक्तिका लक्षण है। स्त्रियां अपना शील तक अर्पण कर दें, अिस हद तककी श्रद्धा अिसमें आ गअी है, और अुसके शरीर या मूर्तिको तरह तरहके भोग चढानेमें ही सारी भक्ति समा गअी है।

अिस तरहकी भक्तिने अवश्रद्धाको, पंगुताको और पुरुषार्थ-हीनताको बहुत बढाया है। अवतार या गुरु परमात्माका ही स्वरूप है, यह सिद्धान्त अितने अंशमें ही सत्य है कि विश्वमें जो कुछ है वह परमात्माका ही स्वरूप है। अिसलिअे जिसे अवतार या गुरु मानते हैं, वह भी अिसका अपवाद नहीं हो सकता। परंतु जिस तरह हम दूसरे सत्त्वोंका आश्रय लेकर परमात्माकी अुपासना नहीं करते, अुसी तरह कोअी पुरुष कितना ही प्रतापी, विभूति–अैश्वर्य–पराक्रम आदि अनेक गुणोंवाला तथा ज्ञानी और तत्त्वदर्शी क्यों न हो, अुसके आश्रयसे परमात्माकी अुपासना — भक्ति करना अयोग्य है। यहां आश्रयका अर्थ अुसकी मदद नहीं, बल्कि अुसे अुपास्य मानना है।

अिसका यह मतलब नहीं कि अिन विचारों द्वारा मैं सगुण भक्तिका निषेध करता हूं। अवतार या गुरुरूप अीश्वरमें श्रद्धा न

रखते हुअे भी अिस्लाम, ओसाओ अित्यादि धर्मोमे सामान्य रूपसे परमात्माकी दृष्टि सगुणसे परे नही गओ है। मुसलमान, ओसाओ, जैन, वौद्ध, सिक्ख वगैरा अपने अपने पैगम्वर, मसीहा, तीर्थङ्कर, गुरु अित्यादिमें अवतार या सद्‌गुरुवादी हिन्दूके जितनी ही श्रद्धा, भक्ति और तारकवुद्धि रखते है, फिर भी अुनको अैसा नही लगता कि वे अपने पैगम्वर आदिको परमात्मा समझकर अुनका ध्यान — अुपासना करते है। कोओ अैसा तो हरगिज नही कहेगा कि सामान्य मुसलमान या सिक्खकी अपेक्षा सामान्य हिन्दू अधिक मंदवुद्धिवाला या 'पामर' होता है, और अिसलिअे अन्यधर्मी सामान्य मनुष्य जो कुछ कर सकता है वह हिन्दू नही कर सकता।

परतु हिन्दू धर्मके प्रवर्तक ज्ञानी होने पर भी प्रायः वड़े कल्पना-प्रधान कवि हो गये है। रम्य कल्पनाओ, रूपको और रससे भरपूर वर्णनोके विना तथा सूक्ष्म अमूर्त तत्त्वोको मूर्तरूप दिये विना अुन्हे चैन नही पडता था। कल्पनाविलास अुनका स्वभाव ही वन गया था। अुन्होने धर्मग्रन्थोके नामसे तरह तरहके अुपन्यासोकी रचना की। अैसी कथाअें लोगोंका मनोरंजन करनेवाली हो तो अिसमे आश्चर्य नही होना चाहिये। अिसलिअे वे अिन कथाओ द्वारा लोगोके मन आकर्षित करनेमे सफल हुअे। परतु लोगो पर अिसका क्या असर हुआ? लोगोने कल्पनाओ और रूपको अित्यादिको अितिहास — सच्ची घटनाओके वर्णन — माना। राहुका ग्रहण. वलिका पातालवास, रावणके दस सिर और वीस भुजाअे, नरसिंहका मनुष्य और सिंहका मिश्ररूप, कृष्णका चतुर्भुज स्वरूप आदिको वे अैसी ही सच्ची घटनाअें समझते है, जैसी कि वर्तमान युद्धकी किसी घटनाको। अिस सस्कारने हिन्दू जनताकी वुद्धिका विकास करनेके वदले अुसे कल्पनासेवी वना दिया है।

अिस कारणसे मैं किसी भी सत्त्वकी परमात्माके नामसे अुपासना — भक्ति करनेकी प्रथाका निषेध करता हू। यह सच्चा मानवधर्म नही है।

सेवाग्राम, ११-८-'४५ ('प्रस्थान', १९४५)

२

दो दृष्टियां

मैं तीसरे दर्जेके अेक डिब्बेमे बैठा हुआ था। नीचे दी हुअी कतारके मुताबिक आदमी बैठे हुअे थे·

१ २ ______________ १ – २ मुसलमान मा – बेटा

३ ______________ ३ अेक पण्डित, ४ मैं

४

५ ______________ ५ अेक वयोवृद्ध मुसलमान

अिसके अलावा दूसरे बहुतसे मुसाफिर थे। लेकिन अुनका अिस बातसे कोअी सबध नही।

मा-बेटेके बीच शायद कुछ तकरार चल रही होगी। मेरा ध्यान जब अुस तरफ गया तब पडित बेटेसे कह रहा था.

"देखो भाअी! खुदा-खुदा तो सब करते हैं, पर क्या कोअी खुदाको देख सकता है? वह तो अगोचर है। अिसलिअे जिसे हम देख सकें, पूज सकें अैसे खुदाका विचार करना चाहिये। बेटेके लिअे अैसा खुदा अुसकी मा है, और स्त्रीके लिअे अुसका पति है। अिसलिअे माकी ओर तुम्हें खुदाकी दृष्टि रखनी चाहिये।"

यह मैंने सक्षेपमे लिखा है। अुसने तो अच्छी तरह विस्तारसे अुपदेश किया था, और अैसा मालूम होता था कि मा और बेटेको वह बात अच्छी लग रही थी। अुन्हें अिस बातसे चोट पहुची हो, अैसा नही दिखाअी दिया।

परतु अुनके पीछे बैठे हुअे वृद्ध मुसलमानको यह निरूपण बहुत विचित्र लगा। थोडी देर तक तो वह सुनता रहा। पर बादमें वह चुप नहीं रह सका और कुछ रोषपूर्वक अुसने पण्डितको फट-कारना शुरू किया:

"तुमने कभी कोअी खुदाअी किताव पढ़ी भी है या सिर्फ वकवास करना ही आता है। क्या खुदा किसी भाजी-वाजारकी शाक-मूली है कि अुसके विषयमें जिसके मनमें जो आवे वैसा वह वोल सकता है? खुदाके मानी क्या है? जो सारे आलमको वना सकता है और तोड सकता है, जिसमें जान पैदा करनेकी तथा मारनेकी ताकत है, वह खुदा है। जिसमें पैदा करनेकी और नाश करनेकी शक्ति नही है, अुसे खुदा कैसे कह सकते हैं? वच्चेके लिअे मां और औरतके लिअे अुसका खाविंद खुदा है——यह कैसी वेहूदी, कितनी नादानीकी वात तुम करते हो?"

अिस चर्चामें कुछ तीखापन आ जानेका डर था। पर अेक विनोदी मुसाफिरने समय-सूचकताका प्रयोग करके मियां साहवको कुछ अुलटी-सुलटी दलीलोमे फंसा कर चुप कर दिया और अुनका स्टेशन आने तक अुन्हें खुश करके विदा कर दिया। अिस तरह वह चर्चा वही रुक गअी।

चर्चा तो वन्द हुअी। परन्तु यह छोटीसी वात मुझे रहस्यमय मालूम हुअी और मैं विचारमें पड़ गया। किसी हिन्दूको गुरु, माता, पिता, पति वगैरामें अीश्वरवुद्धि रखनेका विचार अितना सहज और सीधा लगता है कि वह अुसे विना किसी दलीलके स्वीकार कर लेता है। परन्तु मुस्लिम-वुद्धिको यह नास्तिकताके वचन जैसा चोट पहुंचानेवाला लगता है। मां, वाप, गुरु, पति अित्यादिके प्रति मनुष्यकी चाहे जितनी भक्ति हो, अुनके प्रति चाहे जितने फर्ज अदा करने हों; फिर भी वे अीश्वर हैं या अीश्वरके प्रत्यक्ष स्वरूप हैं अैसा कहना सत्य, सनातन, सर्वकर्ता-हर्ता परमेश्वरकी कितनी वड़ी अवज्ञा है!

अिन दोनों दृष्टियोंमें कहां भूल होती है? अथवा दोनों सत्य हों, तो अेकको दूसरेके विचार सुनकर चोट क्यो पहुंचती है?

कदाचित् वेदांती हिन्दू अिसका यह जवाव देगा कि मुसलमानको अुसकी जड़ताके कारण चोट पहुंचती है; दूसरा कोअी कारण नही है। अुसे परमात्माके स्वरूपका सच्चा ज्ञान नही है, अिसलिअे वह अुलझनमें

पड़ जाता है। हिन्दू अज्ञानी हो तो अुसे भी अैसी बात सुनकर चोट पहुचते देखा गया है। तुकारामको जब तक भक्तिमार्गमें ही आनन्द आता था, अुस समय किसी वेदान्तीने अुन्हें 'तत्त्वमसि' का अुपदेश देना शुरू किया। तब अुन्हे भी अुस वृद्ध मुसलमान जैसी ही चोट लगी थी और रोष आया था। पर पिछली अुमरमें वे भी वेदान्तका ही अुच्चारण करने और सर्वत्र परमेश्वरको ही देखने लगे थे। अिसलिअे हिन्दुओंके अिस विचारमें कुछ सुधारने जैसा नही लगता।

परन्तु कुछ गहरे अुतर कर अिस प्रश्नका विचार करे। जब हम कहते है कि गुरु, माता-पिता, पति वगैरा शिष्य, बालक या पत्नीके परमेश्वर है, तब हम यह अक्षरश· सत्य है अैसा कहना चाहते है या लाक्षणिक अर्थमें अथवा आलकारिक भाषामे ही अैसा कहते है? यह बात तो साफ है कि हम अिस कथनको अक्षरश. सत्यके रूपमें समझना नही चाहते; क्योंकि मेरे गुरु आपके लिअे परमेश्वर नही है, मेरे माता-पिता आपके परमेश्वर नही है; मेरी बडी बहनके पति छोटी बहनके परमेश्वर नही है, अितना ही नही अुसके लिअे तो वे पर पुरुष होनेसे छोड़ने योग्य है। यह बात तो तय है कि जिसे परमेश्वर— अर्थात् प्राणीमात्रके लिअे अेक सर्वसामान्य अीश्वर—कहा जा सकता है, वह ये लोग नहीं है। तो फिर जब अुन्हे परमेश्वर कहा जाता है, तब केवल लक्षणासे या अलकारसे ही कहा जाता है, अैसा मानना चाहिये। लक्षणासे अर्थात् अिस अर्थमें कि वे दिव्याश है, अिसलिअे अशकी पूर्णके नामसे पहचान कराकर; अलकारसे अर्थात् अुनके और परमेश्वरके बीचमे रूपक, अुपमा, अुत्प्रेक्षा वगैराकी योजना करके। सुननेवालेके मनमें भ्रम पैदा न हो, अिस तरहसे बोलना हो तो हम अधिकसे अधिक अितना ही कहना चाहते है कि "अपने गुरु, माता-पिता या पतिका सच्चा भक्त परमेश्वरके भक्त जितना ही पवित्र है;" अथवा "अुनकी भक्तिके द्वारा परमेश्वरकी भक्तिका सम्पूर्ण फल मिल सकता है;" अथवा "गुरु अित्यादिका द्रोह करनेवाला परमेश्वरभक्त नही हो सकता है;" अथवा "वह परमेश्वरका भी द्रोह करता है।"

अिस तरहसे यदि कोअी माता-पिता वगैराकी भक्तिकी महिमाका वर्णन करे, तो अुसके खिलाफ कोअी मुसलमान सभवतः अेतराज न अुठावेगा।

२

पर कोअी कहेगा कि :

"वेद तो अेम वदे, श्रुति-स्मृति शाख दे कनक कुंडल विषे भेद न्होये,
घाट घडिया पछी नाम-रूप जूजवा, अते तो हेमनुं हेम होये।"*

अर्थात् जैसे कङ्कण सोना है, कुण्डल सोना है—ये वाक्य अक्षरशः सत्य हैं, वैसे ही गुरु, माता-पिता आदि परमेश्वर हैं अैसा कहना भी अक्षरशः सत्य है; अिसमें लक्षणा या अलंकार है ही नहीं।

परन्तु यह बात या यह दृष्टान्त संपूर्ण रूपसे मेल खानेवाला या सही नहीं है। कङ्कण या कुण्डल सापेक्ष रूपसे सुवर्ण नहीं हैं। अर्थात् अेक आदमीके लिअे तो वह सोना हो, पर दूसरेके लिअे नहीं— अैसा नहीं है। सब लोगोंके लिअे वह सोना ही है। अूपर बताये सम्बन्धियोंके लिअे अैसा कहनेका दावा नहीं किया जाता। सार्वजनिक अुपासनामें अिन्हें सबके लिअे समान रूपसे पूज्य मनवानेका प्रयत्न नहीं है। अिसमें कङ्कण-कुण्डल जैसे रूपभेदके अलावा दूसरे सम्बन्धदर्शक भेदोंकी भी कल्पना रही हुअी है। अिसके लिअे कदाचित् कुरते और चोलीका दृष्टान्त दिया जा सकता है। कुरता भी कपड़ा है और चोली भी कपड़ा है। परन्तु अेक पुरुषके लिअे है और दूसरा स्त्रीके लिअे है। पुरुषके लिअे चोली व्यर्थ है, स्त्रीके लिअे कुरता बेकार है। अुसी तरह हरअेक व्यक्ति तत्त्वतः परमेश्वर ही है, फिर भी विशेष सम्बन्धसे बताया हुआ व्यक्ति अुस सम्बन्धसे बंधे हुअे लोगोंके लिअे ही शिष्ट या पूजनीय होता है, सबके लिअे नहीं।

---

* वेद बताते हैं और श्रुति-स्मृति अुसका अनुमोदन करती हैं कि कनक (सुवर्ण) और कुण्डल (सुवर्णके अलंकार) के बीच कोअी भेद नहीं है। सुवर्णको अलग अलग आकार देने पर ये अलग अलग नाम हो गये हैं। मूलमें तो सिर्फ अेक सुवर्ण ही है।

और कङ्कण तथा कुण्डल दोनो सुवर्ण है, अैसा हम कहते तो जरूर है; परन्तु अिसमें भी कुछ अव्याहृत (कहना बाकी) रहता है। कङ्कण और कुण्डल दोनो सुवर्ण है अैसा कहनेमे हम सोनेके सम्बन्धमें थोडा पक्ष ही पेश करते है, पूरा नही। यदि कोअी अिसका अर्थ अैसा करे कि कङ्कण और कुण्डल ही सोना है, दूसरा सब सोना नही है, तो हम तुरन्त कहेगे कि हमारा कहनेका यह आशय नही है। सुवर्ण अुससे अति अधिक है; कङ्कण-कुण्डल तो अुसकी दो छोटीसी आकृतियां ही है। अैसी तो सोनेकी असंख्य आकृतिया बन सकती है, और फिर भी जिनका नाम नही दिया जा सकता अैसी आकृतियोमे रहा हुआ अपार सोना बाकी रहेगा। अिसलिअे कङ्कण और कुण्डलके सपूर्ण रूपसे सुवर्ण होते हुअे भी किसीको हम अैसा खयाल नही कराना चाहते कि अिन दोमें ही वह सोनेकी अथ-अिति (आरभ और अन्त) मान ले। यही बात व्यक्तियोको परमेश्वर कहते या मानते समय ध्यानमें रखनी चाहिये। गुरु, माता-पिता, पति वगैरा परमेश्वर है, या सूर्य, चन्द्र वगैरा परमेश्वर है, अैसा कहते या मानते समय यह नही समझना चाहिये कि अिन्हीमें परमेश्वरकी अथ-अिति हो जाती है। अितना ही समझना चाहिये कि ये परमेश्वरके अपार रूपोंमें से कुछ लोगोको प्रिय या अिष्ट लगनेवाले थोडेसे रूप है।

साराश यह है कि समग्रता और तात्त्विक पूर्णता ये दो भिन्न वस्तुअें है। परमेश्वर समग्र पूर्ण तत्त्व है; परन्तु अुसके किसी विशिष्ट रूपका विचार करे, तो वह तत्त्वसे भले ही पूर्णरूपमें वही हो परन्तु समग्रताकी दृष्टिमे वह यह वस्तु नही है। छोटासा बिन्दु और समुद्र दोनो तत्त्वसे पूर्णतया जल है। परन्तु जलकी समग्रता बिन्दुमे नही है, समुद्रमें भी नही है। दूसरे शब्दोमें कहे तो बिन्दु जल है, समुद्र जल है; परन्तु जल न तो केवल बिन्दु है और न केवल समुद्र। सोना, जल वगैराके लिअे हमारे पास अैसे शब्द नही है, जो अुनकी तात्त्विकता और समग्रता दोनोंके वाचक हो। 'आजन्म' शब्दकी तरह 'आ' (=समग्र)· अुपसर्ग लगाकर कहे, तो अैसा कह सकते है कि बिन्दु, समुद्र अित्यादि जल है, परन्तु आजल नही। कङ्कण, कुण्डल आदि

सुवर्ण है, परन्तु आसुवर्ण नही। अीश्वरके विषयमें हमारे पास अीश्वर-परमेश्वर, ब्रह्म-परब्रह्म, आत्मा-परमात्मा, पुरुष-पुरुषोत्तम, देव-महादेव वगैरा शब्दोकी जोड़िया है। छोटी वस्तुको बड़ा नाम दिया गया है, जब यह मालूम हुआ तब पर और सूक्ष्म वस्तुके लिअे पिछले शब्द अुत्पन्न हुअे अैसा दिखाअी देता है। पहले तो देव ही था। परन्तु जब कोअी अल्प सत्त्व देवके नामसे पहचाना जाने लगा अथवा जिसे देवके नामसे पहचानते, थे अुसकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म तत्त्वकी खोज हुअी, तब महादेव शब्द अुत्पन्न हुआ। अिसी तरह परमेश्वर, परब्रह्म, परमात्मा वगैरा शब्द अत्पन्न हुअे। अिसका ठीक अुपयोग किया जाय तो अैसा कह सकते है कि व्यक्त पदार्थ देव है, महादेव नही; अीश्वर है, परमेश्वर नही; ब्रह्म है, परब्रह्म नही। परन्तु अिस तरह विवेकसे शायद ही अिन सब शब्दोका प्रयोग होता हो। ये सब पर्यायवाची हो, अिसी तरह प्रायः अिनका प्रयोग होता है। अिसलिअे अिस भूलको अेकबारगी रोकना हो तो अैसा कहना चाहिये कि व्यक्त रूप देव है परन्तु आदेव नही; ब्रह्म है पर आब्रह्म नही, सत्य है पर आसत्य नही; पुरुष है पर आपुरुष नही अित्यादि।

अिसके अलावा, अेक दूसरी बात भी स्पष्ट होनी चाहिये। मनुष्यके श्रेयके लिअे गुरु, माता-पिता आदिकी भक्ति चाहे जितनी साधनरूप और आवश्यक हो और अिसलिअे वह अिनके विषयमे चाहे जितनी देवबुद्धि रखता हो, फिर भी आदेव — समग्र देव — मे निष्ठा और भक्ति रखे बिना काम चल ही नही सकता। अिसलिअे बालक या शिष्यके लिअे माता-पिता या गुरु ही अीश्वर है, अिस कथनमें कुछ अतिशयोक्ति है। अिसमें से अुसे आगे बढ़ना ही पडेगा। अिस-लिअे पहलेसे ही अैसा कहना चाहिये कि गुरु, माता-पिता अित्यादिकी भक्ति स्तुत्य है, परन्तु यह आभक्ति — समग्र भक्ति — नही है; यह तो आदेवमें ही होनी चाहिये।

अुस वृद्ध मुसलमानकी भाषामें खुदा शब्दका अेक ही अर्थ था: आदेव, आसत्य। अिसलिअे जब हिन्दू पंडितने कहा कि बालकके लिअे माता और स्त्रीके लिअे पति अुसका खुदा है, तब माता और पतिको

यह समग्र सत्य कहना चाहता है अैसा समझकर अिस प्रकारके निन्दात्मक शब्दोंसे अुसे चोट पहुचे तो अिसमे क्या आश्चर्य है?

हिन्दुओमे अपर पदार्थोंके लिअे परतावाचक शब्द लागू कर देनेका अेक दोष है। अिस कारणसे पर शब्दोंके अर्थ अुतरते ही जाते हैं और नये आचार्योंको नये शब्द दाखिल करने पडते है। देव और स्वर्ग अेक समय परमतत्त्व और परमगतिका निर्देश करते थे; परन्तु अिन शब्दोंके आसपास वधी हुअी कल्पना वादके विचारकको असतोष-कारक लगी। अुसने अैसा नही कहा कि देव और स्वर्गके विषयकी प्रचलित कल्पना प्राकृत और स्थूल है, पर यह कहा कि ये कल्पनायें भी सच्ची हैं; परन्तु अिनसे अधिक अूची कल्पनावाले परमतत्त्व और गतियां भी हैं, और अुनके लिअे अुसने अिन्द्र–अिन्द्रलोक, ब्रह्मा–ब्रह्मलोक आदि नये शब्दोकी रचना की। अुसके वादके विचारकको अिन कल्पनाओमें भी विचारदोष लगा। अुसने भी सिर्फ कल्पनाको सुधारनेके वदले नये देव और नयें लोक वढाये। अिस तरह विष्णु-वैकुण्ठ, महादेव-कैलास, कृष्ण-गोलोक, पुरुपोत्तम-अक्षरधाम वगैरा अुत्तरोत्तर तत्त्वो और गतियोकी वढती होती ही गअी, और हरअेक पथवालेके लिअे अलग परमतत्त्व और अलग तरहकी परागति पैदा हुअी। हरअेक पथवालेकी वेदात परिभाषामें भी अिस तरह माया-महामाया, प्रकृति-महाप्रकृति, काल-महाकाल, कारण-महाकारण, ब्रह्म-महद्ब्रह्म-परब्रह्म, क्षरपुरुष-अक्षरपुरुष-पुरुपोत्तम और पुरुषोत्तम भी जव अधूरा मालूम हुआ तव पूर्ण पुरुषोत्तम, प्रकट पुरुषोत्तम अित्यादि शब्द अुत्पन्न होते ही गये। अिस तरह अूपर सुझाये हुअे आदेव, आब्रह्म, आसत्य अित्यादि शब्दोकी भी अैसी ही दशा होनेकी पूरी संभावना है। अिसलिअे ज्यादा सही तो अिस्लामका यह नियम लगता है कि किसी भी नामरूपको खुदा कहना ही नही चाहिये। तत्त्वज्ञानी भले तत्त्वसे नामरूप तथा खुदामें अभेद देखे, परन्तु भाषामें वह किसी भी नामरूपका खुदाके रूपमें वर्णन न करे। ज्यादासे ज्यादा अुसे खुदाका नूर, अथवा हिन्दू ग्रन्थोकी परिभाषामे अुसका अश कहे, परन्तु मूल शब्दोमें समग्रताका भाव होनेसे मूल शब्दोका प्रयोग हरगिज न करे।

आदम खुदा नही, खुदा आदम नही;
लेकिन खुदाके नूरसे आदम जुदा नही।

अर्थात् मनुष्य समग्र देव नही, समग्र देव मनुष्य नही; परन्तु समग्र देवके तत्त्वसे मनुष्य अलग नही है। समग्रताके वगैर देवका विचार किया ही नही जा सकता, अैसा समझकर समग्र शव्द निकाल डाले तो अैसा कहना चाहिये कि मनुष्य देव नही है, देव मनुष्य नही है; परन्तु देवके तत्त्वसे मनुष्य अलग नही है।

३

अुस वृद्ध मुसलमानने कहा कि खुदामें तो सृष्टिकी अुत्पत्ति और प्रलय करनेकी शक्ति रही हुअी है। किसी भी मानवके लिअे अिस शव्दका प्रयोग कैसे किया जा सकता है? व्रह्मसूत्रोमे भी व्रह्मनिष्ठ और व्रह्मके वीचके अिस भेदके लिअे 'जगद्व्यापारवर्जम्' (४–४–१७) सूत्र है।

अिसी तरह —

सत्यपि भेदाऽपगमे नाथ तवाऽहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो ही तरंगः क्वचन समुद्रो न तारग ॥*
(षट्पदीस्तोत्र – ३)

अैसा कहते समय शंकराचार्यको अिस वातका घ्यान था। परन्तु भक्तिमार्गी सम्प्रदायोंमें अिस विचारको भुला दिया गया है। और अिसके परिणाम-स्वरूप लगभग सव हिन्दू सम्प्रदाय अिस श्लोकका अुच्चारण करते हैं.

गुरुर्व्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरु. साक्षात् परव्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

और वहुतसे सम्प्रदायोमें प्रत्यक्ष अथवा अेक समयके गुरु या आचार्य ही परमेश्वरकी जगह लेते है। अिस श्लोकको मैंने आज तक स्वीकार किया था। परन्तु अुस वृद्ध मुसलमानको पहुची हुअी चोट पर विचार करनेके वाद मुझे लगा कि अपने व्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरुके प्रति हमारी चाहे जैसी अुत्कट भक्ति हो, फिर भी अिस श्लोकमें वताअी हुअी भावना रखना

* हे नाथ, भेदका नाश हो जाने पर भी मै आपका हूं, आप मेरे नही। तरंग समुद्रकी होती है, समुद्र कभी तरगका नही होता।

ठीक नही है। विद्वानोकी सूक्ष्म तार्किक बुद्धिकी अपेक्षा अुस वृद्धकी अुलटा-सुलटा कर सोचनेके लिअे मना करनेवाली सहज अेकमार्गी बुद्धि अधिक सच्ची है।

जो विचार गुरुको लागू होता है, वह माता-पिता-पतिको विशेष रूपसे लागू होता है, अिसमे तो समझाने जैसी कोअी वात नही है। क्योंकि अुनके सम्बन्धमे तो मानवी गुणोकी पूर्णताका भी दावा नही किया जाता। अुन्हे हमेशा नरोत्तम भी नही कह सकते, तो फिर परमेश्वर तो कैसे कह सकते हैं? वे सिर्फ अुत्कट प्रेमके दावेसे ही आराध्य बनते हैं। परन्तु जो न्याय गुरुको लागू होता है, वही अवतारो, पैगम्बरो, तीर्थंकरो, बुद्धो अित्यादिको भी लागू होता है। किसीको भी — घासके तिनकेको भी — समग्रदेवका अवतार — अुसका 'तेजोऽशसभव' व्यक्त रूप — कह सकते हैं, परन्तु समग्रदेव — आदेव नही कह सकते। परमात्मा राम, कृष्ण आदि है, परन्तु राम, कृष्ण परमात्मा नही है।

हिन्दू अुपासना और विचारमें अितनी शुद्धि होनेकी जरूरत है।

४

हिन्दू धर्ममे परस्पर-विरोधी मालूम होनेवाले अनेक सम्प्रदायोंके अुत्पन्न होनेका अेक कारण अूपरका कुतर्क है। मैं हिमालय हू, मैं गगा हू, मैं राम हू, शकर हू, अर्जुन हू वगैरा हम गीतामें पढते हैं। परन्तु हिमालय परमात्मा है, गगा परमात्मा है, राम, कृष्ण, शंकर, अर्जुन वगैरा परमात्मा हैं, अैसा गीतामे भी नही कहा है।* यह वेदान्तने — अर्थात् भिन्न भिन्न मतके वेदाती गुरुओने सिखाया है। पहले सम्प्रदायके अिष्टदेवके विषयमे सिखाया और आगे चलकर अपने विषयमे अैसा मानना सिखाया। अिस तरह घर घरके अलग परमेश्वर माननेका सिलसिला पैदा हुआ। अिसमे मायावादीने मायावादकी, लीलावादीने लीलावादकी, अनुग्रहवादीने अनुग्रहवादकी सहायता ली। अिसमें कौन

* समुद्र कहता है कि मैं तरग हू, बुदबुदा हू, तो वह अेक वात है; वह ठीक है। परन्तु तरग या बुदबुदा कहे कि मैं समुद्र हू तो वह ठीक नही है। यह भेद यहा सूचित किया गया है। (८-९-'४७)

किसे झूठा कहे? अिसलिअे सर्वधर्म-समभावके दुरुपयोगसे जिनका स्थान जम गया हो वे सभी सच्चे है, अैसा समाधान निकाला गया।

यह कुतर्क ही साम्प्रदायिक पाखण्डोका मूल है। अत. विचारशील मनुष्यको समझना चाहिये कि परमेश्वरके सब रूप है; परन्तु अेक रूप या सब रूप मिलकर परमेश्वर नही बनता। अिसलिअे राम या कृष्ण या क्षको परमेश्वरके रूप, विभूति या अश कहे, भले अुनके विषयमे पूज्यभाव रखे, परन्तु अैसा नही कहना या मानना चाहिये कि राम या कृष्ण या क्ष परमेश्वर है। ये सब अिकट्ठे मिलकर भी परमेश्वर नही है। परमेश्वर सब नाम-रूपोसे हरअेक बातमें और हरअेक दृष्टिसे अनत गुना अधिक है। वह किसी अेक रूपमे अपनेको समग्र रूपमें समा सके, अैसा नही है। सर्वशक्तिमानकी यह अशक्ति है, अैसा कहे तो भी कोअी हर्ज नही है। अिसलिअे अमुक व्यक्ति पूर्णावतार है, अमुकमे परमात्माकी सोलहो कलाये है, अमुक प्रकट पुरुषोत्तम है, अमुक अवतारोका अवतारी है, वगैरा भाषा शब्दजाल — साम्प्रदायिक माया है। विश्वमे अभी तक अैसा कोअी व्यक्ति प्रकट नही हुआ, और भविष्यमे भी प्रकट नही होगा, जिसे समग्रदेव कह सके।

माता, पिता, गुरु वगैरा सब वदनीय, पूजनीय, सेवनीय है, अुनकी धर्मयुक्त आज्ञाओका पालन करनेमे कल्याण है। परन्तु यह भाषा अतिशयोक्तिपूर्ण है कि वे अपने बालक या शिष्यके लिअे परमेश्वर है। अर्थात् अजानपनमे भी असत्य वचन है। अिस भाषाको और अैसे शब्दोको छोड देना चाहिये।

अिस समग्रदेवको नाम-रूपमे लाना और साकाररूपसे अुसके ध्यानका प्रयत्न करना ठीक नही है। जो भी प्रयत्न किया जायगा, वह अुसे मर्यादित करनेवाला होगा। नीचेके श्लोकोके द्वारा अुसकी कल्पना या ध्यान करना हो तो कर सकते है:

अनादिमत्पर ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ।।
सर्वत. पाणिपाद तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।।

सर्वेन्द्रियगुणाभास सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्त सर्वभृच्चैव निर्गुण गुणभोक्तृ च ।।
वहिरन्तश्च भूतानामचर चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेय दूरस्थ चान्तिके च तत् ।।
अविभक्त च भूतेपु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेय ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ।।
ज्योतिपामपि तज्ज्योतिस्तमस. परमुच्यते ।
ज्ञान ज्ञेय ज्ञानगम्य हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ।।

(गीता १३, १२-१७)

(वह अनादि परब्रह्म है। अुसे न सत् कह सकते है, न असत्। सब ओर अुसके हाथ और पैर है, सब ओर आख, कान, मुह, सिर आदि है, और सबको अपनेमे समाकर वह विद्यमान है। अुसमें सब अिन्द्रियोंके गुण भासमान होते है, फिर भी वह सर्व अिन्द्रियोसे रहित है। वह किसीसे — कही भी लिप्त नही, फिर भी सबका भरण-पोषण करनेवाला है। वह निर्गुण है, फिर भी सब गुणोका भोक्ता है। वह सर्व भूतोंके बाहर भी है, भीतर भी है। वह अचर-स्थिर भी है, और चर-जगम भी है। अति सूक्ष्म होनेंसे अुसका विज्ञान नही किया जा सकता। वह दूर भी है, नजदीक भी है। अुसके भाग नही हो सकते, फिर भी वह भूतोमें अिस तरह विद्यमान है, मानो अुसके भाग हो गये है। अुसे सर्वभूतोका भर्ता-पालक-पति, सबका ग्रास करने-वाला और सब पर प्रभाव रखनेवाला समझा जाय। वह सूर्य-चंद्र-नक्षत्र आदि सब प्रकाशमान ज्योतियोको प्रकाश देनेवाला है, और अधकारसे भी परे है। यही ज्ञान है, यही ज्ञेय है, यही ज्ञानसे प्राप्त करने योग्य है। वह हरअेकके हृदयमें बसा हुआ है।)

अुसके किसी प्रिय रूप, मूर्ति या विभूतिका भले आप वदन-कीर्तन कीजिये, भले अुसका और अुसके चरित्रोका बार बार स्मरण करके मनको पवित्र रखने और अुन्नत करनेकी कोशिश कीजिये। परतु अिसके लिअे अुसे परमेश्वर कहनेकी जरूरत नही है; अिसलिअे अैसा

न कहे। वे परमेश्वर हरगिज नही हैं। अुनका आधार लेकर कदाचित् आप अमुक हद तक अूचे अुठ सकेंगे; परतु अुसके वाद तो अुन्हें छोड़कर ही आगे वढ़ सकेंगे।

('प्रस्थान', जुलाअी-अगस्त १९३७)

३

अुपासना-शुद्धि*

मेरी रायमे जीवनको धार्मिक वनानेके लिअे अनेक धर्मग्रन्थोका अथवा अपने अिष्ट धर्मग्रन्थका भी अतिशय पाण्डित्यपूर्ण अभ्यास करनेकी जरूरत नही है। नामदेव, तुकाराम, नरसिंह महेता अित्यादि सतोंके जीवनको देखें, तो अैसा नही मालूम होता कि वे वहुत विद्वत्ता प्राप्त करके धार्मिक वने थे अथवा विशेष प्रकारकी धार्मिक दृष्टि प्राप्त कर सके थे। कमसे कम मेरी धार्मिक प्रगति तो अिस तरहसे नही हुअी।

मेरे कहनेका मतलव यह नही है कि मैंने धार्मिक ग्रन्थोका और विभिन्न धर्मोंके ग्रन्थोका विलकुल ही अभ्यास नही किया। परंतु अेक भी धर्मोंका — हिन्दू धर्मके ग्रन्थोका भी — मैंने पाण्डित्यपूर्ण अभ्यास नही किया। मै सत्याग्रहाश्रममे रहने गया, तव मेरी अुमर २७-२८ वर्षकी थी। १७ वें या १८ वे वर्षमे मैंने पहली वार गीता पढी। मिशनरी सस्थाओमे पढ़नेके कारण मैंने वाअिवलके कितने ही भाग लाजिमी तौर पर पढे थे। परंतु अिन दो पुस्तकोको छोड़ दें, तो जिस सप्रदायमे मेरा जन्म हुआ था अुस संप्रदायके ग्रथोंके सिवाय अनेक धर्मग्रथोंको देखनेका आश्रममें रहने आया तव तक मुझमें कोअी अुत्साह ही नही था। स्वामी रामतीर्थ और स्वामी विवेकानन्दके ग्रथ मेरे पास थे जरूर; परंतु अुनमें से दो-चार व्याख्यानोंसे ज्यादा मैंने पढे

* वर्धाके कुछ ग्रामसेवकोंके सामने दिया हुआ व्याख्यान।

हो अैसा मुझे याद नहीं आता। 'गीता-रहस्य' के प्रकाशित होते ही मैंने अुसे खरीद लिया था और अुसी समय पढ भी डाला था, परतु अुसे पढकर 'निकाल दिया' था; 'पचाया' था अैसा नहीं कह सकता। अुस समय अुसे पचाने जितनी मुझमे ताकत भी नहीं थी। आश्रममे आनेके बाद वहा लिये जाते वर्गोमें मुझे अनायास ही अुपनिषद्, ब्रह्मसूत्र वगैरा ग्रन्थोका परिचय हुआ।

सारांश यह है कि अनेक शास्त्रोका अध्ययन करके मेरी वृत्ति धार्मिक नही हुअी है, और आज भी मुझे अैसा लगता है कि धार्मिक वृत्तिके पोषणके लिअे अनेक ग्रंथोका और अनेक धर्मोका विद्वत्तापूर्ण अध्ययन आवश्यक नही है। अितना ही नहीं, परंतु बहुत बार अैसे अध्ययनका शौक धार्मिक वृत्तिके लिअे बाधक भी होता है। संगीत-शास्त्रके विषयमें मेरी जो राय है वही धर्मशास्त्रके विषयमे है। अेकाध भजन या धुन शास्त्रीय सगीतके अनेक प्रकारके आलाप वगैराके साथ बोली जाय, तो अिकट्ठा हुआ जनसमूह नाचने और झूमने लगता है, यह मैंने अनेक बार देखा है। अिससे भजनमण्डली गानलीन जरूर होती है, परतु भक्तिलीन भी होती ही है, अैसा विश्वासके साथ नही कहा जा सकता। 'अखिया हरिदर्शनकी प्यासी' भजन बहुत अच्छी तरहसे गाया जाय, तो करुणरसका आनद अवश्य अुत्पन्न होता है; परतु यह रस न तो हरिदर्शनकी प्यास पैदा कर सकता है और न अुसे बुझा सकता है। अिससे अुलटे, जिसको यह प्यास लगी हो, अुसके गानेमे सगीतका खून होता दीखे, फिर भी वह अिस भजनमे लीन हो सकता है। अिसी तरह धार्मिक जीवनके लिअे अूपर बतायी हुअी व्याकुलता हो, तो अेक-दो ग्रन्थोका नित्य अनुशीलन अुसके लिअे जरूरी है, परंतु अैसे अेक-दो ग्रन्थ अुसके लिअे पर्याप्त है। अैसी व्याकुलता न हो तो धार्मिक ग्रथोका अभ्यास करनेकी रुचि सिर्फ अेक तरहका बौद्धिक रस बन जाती है, धर्मकी प्यास नही होती।

मैं हिन्दू हू अैसा आपसे कहनेकी जरूरत है क्या? अेक सयम-प्रधान वैष्णव सप्रदायमें मेरा जन्म हुआ है, अिसलिअे अुमरका बहुत

वड़ा हिस्सा मैंने अुसमे निष्ठापूर्वक विताया है। करीव दस सालसे ही मैंने अिस संप्रदायका अभिमान छोड़ा है। परंतु सप्रदायका अभिमान छोड़ देने पर भी मैंने अिस संप्रदायसे प्राप्त हुअे वहुतसे आचार, विचार तथा संस्कारोंको नही छोड़ा है। और आश्रममे जो आचार-विचार पाले जाते हे अुनकी अपेक्षा भी मेरे अपने वैयक्तिक आचार, विचार, संस्कार आज भी ज्यादा सनातनी और मर्यादावाले है। फिर भी आज मै अपनेको सनातनी हिन्दू कहलवानेके लिअे तैयार नही हूं। आजके हिन्दू धर्मके विपयमें तथा हिन्दू धर्माभिमानी शास्त्री, पंडित, वेदांती वगैराके वारेमें मुझे कठोर भापामें वोलनेकी अिच्छा होती है। अिस कठोर भापाके मूलमें हिन्दू समाजकी सेवा करनेकी मेरी अिच्छा है, हिन्दू जनताके साथ मेरा आत्मभाव है, हिन्दुत्वके विपयमें तिरस्कार या द्वेप नही।

हिन्दू धर्ममे चलते-फिरते सत्य और ब्रह्मचर्यकी जितनी महिमा गाअी जाती है, अुतनी दूसरे धर्मोमें शायद नही गाअी जाती। कभी-कभी मुझे अैसा भी लगता है कि हमारे धर्मोके संतोको हमारे समाजमें दूसरे समाजोकी अपेक्षा अिन गुणोंका अस्तित्व कम लगा होगा, अिसीलिअे अुन्हें अिन पर वारवार भार देना पड़ा होगा। जो गुण समाजमे अच्छी तरहसे विकसित होते है, अुन पर वोलनेकी जरूरत नही होती। जो गुण होने चाहिये, पर दिखाअी नही देते, अुनका ही प्रतिपादन करना पड़ता है।

परतु हिन्दू धर्ममें सत्य और ब्रह्मचर्य पर चाहे जितना भार दिया गया हो, फिर भी मुझे लगता है—और दुःखपूर्वक लगता है कि हिन्दू धर्मकी अीश्वरोपासना वहुत हद तक असत्यनिष्ठ और व्यभिचारी है। ये शव्द आपको तीखे लगेगे। परतु मै अिनका प्रयोग आवेशमें आकर नही कर रहा हूं। दीयेकी ज्योति कभी कभी अैसी स्थितिमें होती है कि वह जलता है या वुझ गया है, यह हम निश्चयपूर्वक नही कह सकते। अिसी तरह हमारे धर्ममें सत्योपासना वुझ गअी है या मंद पड़ कर भी जाग्रत है, यह कहना मुश्किल है।

'ब्रह्म सत्य और जगत् मिथ्या' अिस सूत्रकी रचना शंकराचार्यने की। अुनका यह प्रामाणिक मत होगा, अैसा माननेमे कोअी हर्ज नही। परंतु 'जगत् मिथ्या' के अिस पाण्डित्यका हमारे देशमें विचित्र रूपमें ही विकास हुआ है। जहा सारे जगत्को ही मिथ्या ठहराया गया हो, वहां जगत्के व्यवहारमें या अीश्वरकी अुपासनामें भी सत्या-सत्यका विवेक करनेके लिअे स्थान कहा है? अिसलिअे जगत्के किसी भी पदार्थ, भावना, नीति अथवा व्यवहारको सुविधाके अनुसार असत्य मानकर अुसका खण्डन करनेमें या सत्य मानकर अुसका मण्डन करनेमें या अुसमे सत्यासत्यका मिश्रण करनेमें किसी भी तरहकी बाधा नही आती। जिसको जैसी पुस्तक अच्छी लगे वैसी लिखे, चाहे जिसके नामसे अुसे प्रकाशित करे, अुसमें चाहे जिस तरहसे सकलना करे, चाहे जैसे विधान रचे और सिद्धान्तोका प्रतिपादन करे, अुनके लिअे चाहे जैसी कथाअें गढ ले, तथा चाहे जिन पुस्तकोमें क्षेपक डाले; और यह सब समाजके कल्याणके लिअे, धर्मके अुत्कर्षके लिअे है, अैसा कह कर वह आत्मसंतोष मान सकता है! और जिस ग्रथके विषयमें हमारा यह पक्का निश्चय हो कि अिसमे अैसी गडबड हुअी है, तथा जिस अुपासनाके लिअे हमारा यह मत हो कि यह कपोलकल्पित है, अुसका भी हमें गुणगान करते रहना चाहिये! अवतारी या सत्पुरुषोंके चरित्रोमें भी बिना सिर-पैरकी गलत बातें दाखिल करनेमें साधुकी ख्याति प्राप्त लेखकोको भी शायद ही दोष लगा है। महाभारत, वाल्मीकि रामायण, तुलसी रामायण, मनुस्मृति, पुराण चाहे जो ग्रन्थ लीजिये। अेक भी ग्रथ अैसा नही होगा, जिसमें क्षेपक न हो। सारी भगवद्गीता भी अेक ही व्यक्तिकी रचना होगी या नही, अैसी शका पैदा होनेके कारण भी है। योगवासिष्ठ जैसे कुछ ग्रन्थ तो किसी सप्रदाय-प्रवर्तकने लिखकर किसी दूसरे प्रसिद्ध मुनिके नाम पर चढा दिये है। अिस जगद्रूपी मायाकी अपेक्षा धर्म-प्रचारकोकी माया अितनी बलवान है कि प्रकृतिगत असत्यकी अपेक्षा शास्त्रोंके असत्योमें से सत्यकी ओर ले जानेके लिअे भगवानसे यह प्रार्थना करनेका मन होता है;—'असत्योमें से प्रभु! परम सत्यकी ओर तू ले जा'।

हमारी वहुमान्य वनी हुअी गीताको ही लीजिये। पता नही किस कारणसे अुसके लेखककी कविकल्पनाको यह लगा कि अुसे अपना आध्यात्मिक मत धृतराष्ट्र-संजयके सवादमे कृष्णार्जुनका अुपसवाद रच कर समझाना चाहिये। आगे जाकर अितिहास-संशोधकोने अनुमान निकाला कि कौरव-पाण्डवोका युद्ध किसी वर्षकी मार्गशीर्ष शुक्ल अेकादशीके दिन हुआ होगा। फिर तो अिन दोकी कड़ी जोड देनेमे कौनसी वाधा आ सकती थी? लोगोकी यह मान्यता तो है ही कि कृष्ण और अर्जुनका सवाद अेक अैतिहासिक घटना है। अिस मान्यताका अुपयोग करके मार्गशीर्ष शुक्ल अेकादशीके दिन गीताजयतीका त्यौहार मनानेका कार्यक्रम तैयार किया गया। भले यह काल्पनिक हो पर अिसके वहाने गीताकी महिमा तो वढती है, अैसे हिसावोमे हम फंस जाते है। हिन्दू धर्मकी वहुत वड़ी जनसंख्याके लिअे मान्य अथवा आदरणीय हो सकनेवाला जो अेक धर्मग्रन्थ वाकी रहा है, अुसके साथ भी हम अैसा ढोगका व्यवहार करते है, तो दूसरे ग्रन्थोके वारेमे तो कहना ही क्या?

अिस तरह धर्मके प्रतिपादनमे हमारे देशमे सत्यका वहुत द्रोह हुआ है। अिसके वाद हिन्दू अुपासनामे अुतरे तो व्रह्मचारिणी भक्ति वहुत अशमे लुप्त हो गअी है और अुसके स्थान पर व्यभिचारिणी भक्ति ही मानो सनातन हिन्दू धर्मकी सराहने लायक विशेषता हो वैठी है। व्रह्मचारिणी — अर्थात् व्रह्ममे विचरण करनेवाली — भक्ति तो रही ही नही; परंतु सगुणोपासनामें भी किसी अेक ही स्वरूप पर निष्ठा रखनेकी वात हमे सिखायी नही जाती। आज राम-नवमी है, अिसलिअे रामकी मूर्तिकी स्थापना करके रामनामकी धुन लगाते है; आज जन्माष्टमी है अिसलिअे वालकृष्ण या मुरलीधरको वैठा कर गोपालकृष्णकी धुन जगाते है, आज गणपति-चतुर्थी है, अिसलिअे 'वक्रतुण्ड महाकाय' कहकर तू ही हमे निर्माण करनेवाला देव है अैसा कहकर हाथ जोड़ते हैं; आज गुरुवार है, आज दत्तात्रेयको याद करना ही चाहिये। अिस तरह नागपचमी, दुर्गाष्टमी वगैरा जो त्यौहार आते है, अुनमे से हरअेकके लिअे अेक भिन्न आकृति, भिन्न नाम,

भिन्न चरित्र, भिन्न कर्मकाण्ड रखनेवाला देव है ही। और यदि अिस सारी अुपासनाको योग्य मानते है तो वेचारे भंगियोकी 'मेलडी माता' या रानीपरज (अेक आदिम जाति) के खेतकी सीमा पर तथा झाडोंके नीचे रहनेवाले देवोका निषेध क्यो करना चाहिये? जिस वेदात-विचारसे गणपति, लक्ष्मी, पार्वती, शकर, इन्द्र, वरुण आदि देवोका समन्वय किया जा सकता है, वह हरअेक खेत और झाडमे रहनेवाले देव, भूत, प्रेत वगैराका समन्वय करनेमें भी समर्थ है। 'सव काल्पनिक, मायिक, झूठ, असत्य होने पर भी सव शिव और सुन्दर है' यह कैसा सुन्दर और सुविधाजनक समन्वय है!

अैसा समन्वय भले ही किया जा सके। परतु अुपासना, भक्ति अथवा श्रद्धाका अैसा प्रकार किसी भी साधक या समाजको अूचा नही अुठा सकेगा। कुछ वैष्णव सप्रदायोमे कहे अनुसार यह सचमुच व्यभिचारी भक्ति है, अनन्य अव्यभिचारी भक्ति नही, और ब्रह्म-चारिणी भक्ति तो विलकुल ही नही है।

जो दपती परस्पर मन, वचन, कर्मसे अव्यभिचारी और अेक-निष्ठ रहते है, अुन्हे हम सज्जन और सती—अर्थात् सत्ययुक्त पुरुप तथा स्त्री—कहते है। ब्रह्मचारी तथा ब्रह्मचारिणीकी भूमिका अिनसे अूची है। अिसमें पुरुप तथा स्त्री दोनो निरालम्ब होते है। अुपासनामें हमारा पहले अेकनिष्ठ और अव्यभिचारी होना जरूरी है। आपको सगुण—अथवा केवल सगुण ही नही परतु साकार सगुण—के अवलम्बनकी जरूरत महसूस होती हो तो भी कोअी हर्ज नही है। परतु अनेक देवी-देवताओंके पीछे लगकर और अुनकी पूजा-विधिके आडवरमें पड कर आपका कभी भी कल्याण नही हो सकेगा; अिससे हमारा धर्म कभी भी शुद्ध या प्राणवान नही हो सकेगा।

अमेरिकाके अेक कारखानेका मालिक अेक वार विलायतका अेक कारखाना देखने गया था। अग्रेज व्यवस्थापक अुसे कारखाना दिखा रहा था। अेक यत्र देखकर अमेरिकनको कुतूहल हुआ और अुसके वारेमें अुसने पूछताछ की। व्यवस्थापकने कहा कि यह यत्र बहुत सालोका पुराना है, यद्यपि वहुत अच्छा काम नही देता, फिर भी पुराना होनेसे

अुसे हटाया नही। ‘हमारे कारखानेमे वहुतसे यंत्र पुराने है’, अैसा अुसने अभिमानसे कहा। अमेरिकनने अुतने ही अभिमानसे जवाव दिया, ‘हमारे कारखानोमे शायद ही कोअी यंत्र दो तीन सालसे ज्यादा पुराना होगा। हम तो नअी शोध होते ही पुराने यंत्रोको कचरा समझ कर फेक देते हैं।’ हम हिन्दू लोगोकी वृत्ति वहुत कुछ अिस अंग्रेज व्यवस्थापक जैसी ही है। हिन्दू धर्मको हमने प्राचीन नमूनोंके सग्रहालय जैसा वना रखा है।

पर यह विषयान्तर होगा। मेरे कहनेका मतलव यह है कि यदि आपको साकार सगुणोपासनाकी जरूरत मालूम होती हो तो भले कीजिये। पर आखिरमे किसी अेक ही देव पर अनन्य निष्ठा रखिये। अैसी सच्चारिणी भक्तिमे से ही आप व्रह्मचारिणी — व्रह्ममे विचरने-वाली — निरालव भक्तिकी ओर मुड़ सकेंगे।

मैं निश्चित रूपसे मानता हूं कि जीवनमे मुझे जो अेक प्रकारका सतोप है, अुसका कारण यह नही है कि मैंने धर्मग्रन्थोका वहुत गहरा अध्ययन किया है। परंतु वचपनसे ही मुझ पर अनन्य — अव्यभिचारी भक्तिके संस्कार पडे थे। अनेक देव-देवियोके प्रति मुझमे कभी भक्ति पैदा नही हुअी। राम, कृष्ण वगैरा सव अेक ही अीश्वरके अवतार हैं, अैसी साम्प्रदायिक मान्यता होने पर भी मुझे कुटुम्वमे से जिस अेक देवकी अुपासना मिली थी अुसके सिवाय दूसरे किसी अवतारके प्रति भी मेरी वहुत रुचि नही थी, धर्मग्रन्थोके प्रति भी नही थी। मैंने जव गीताका अनुवाद किया, तव श्री विनोवाकी ‘गीताअी’ की तरह अिसका नाम ‘गीतामाता’ रखना चाहिये, अैसी अेक मित्रने मुझे सलाह दी। परंतु मैंने कहा कि श्री विनोवाने जो नाम दिया है वह अुनके लिअे योग्य है, मेरे लिअे योग्य नही है। मेरे जीवनमे गीताने माताका काम नही किया है। मै अैसा नाम रखूगा तो वह असत्य होगा। अिसलिअे सस्कृत गीताकी अिसमे ध्वनि है अैसा सूचित करने-वाला सादा ‘गीताध्वनि’ नाम मैंने पसंद किया।

मेरा कहना यह नही है कि धर्मग्रन्थोंका अनुशीलन जरूरी नही। अपना कोअी प्रिय ग्रन्थ होना चाहिये। अुसका निरंतर वाचन-चिंतन

करना चाहिये। अुसके आदेशके अनुसार अपना जीवन बनानेका सदैव प्रयत्न करना चाहिये। अिसके सिवाय साधु-संतोंके चरित्र और भजन पढ़ने तथा गानेका भी व्यासंग — अभ्यास — होना चाहिये। परंतु वे ग्रन्थ और चरित्र सत्यकी रक्षा करके रचे हुअे होने चाहिये। अिसके अलावा कोअी ग्रन्थ हाथमें आवे तो अुसे आदरसे पढ़िये, परंतु आपकी निष्ठा तो अेक ही देव पर होनी चाहिये, और अपनी आध्यात्मिक खुराकके लिअे अेक-दो ग्रन्थ ही आपको पर्याप्त लगने चाहिये। दूसरा पठन अचार-चटनीकी तरह अथवा कभी कभी किये जानेवाले नये प्रकारके भोजनके जैसा होना चाहिये।

मुसलमान धर्मका जो विशेष तत्त्व मुझे पसंद आता है, वह यह कि अुसमें अेकेश्वर-भक्ति पर खूब जोर दिया गया है। अिस्लाममें ब्रह्मचर्यको या अव्यभिचारी दंपती-धर्मको बहुत महत्त्व नहीं दिया जाता, अैसा लग सकता है। परंतु अुपासनाके बारेमें अुसकी निष्ठा बिलकुल ब्रह्मचारिणी नहीं हो तो भी बहुत अंशमें सच्चारिणी है।

मैंने आपके सामने सत्य और ब्रह्मचर्यके कुछ भिन्न अर्थ सहज रूपमें रखे हैं। सत्य अर्थात् अव्यभिचारित्व — वफादारी, ब्रह्मचर्य अर्थात् परम तत्त्वमें विचरण। सामान्य रूपसे हम जिस व्रतको ब्रह्मचर्यके नामसे पहचानते हैं, वह अिस परम ब्रह्मचर्यका साधनरूप अेक व्रत है।

भिन्न भिन्न धर्मोंका मुझे जो थोड़ा बहुत ज्ञान है, अुसे आपके सामने रखनेका मुझे अुत्साह नहीं है। अुसका अेक दूसरा कारण भी है। मेरा आज अैसा विश्वास नहीं है कि जगत्में आज जो धर्म या अुनके संप्रदाय प्रचलित हैं, अुनमें से अेक भी हमारा अुद्धार करनेमें समर्थ है। सब धर्मोंका अभ्यास करके, हरअेकका कुछ अंश लेकर चार पंडितों या समझदार लोगोंको अेकाध नये धर्मकी स्थापना करना चाहिये — अैसा यदि कोअी कहे तो अुसे भी मैं व्यर्थ प्रयत्न मानता हूं। नये धर्मकी स्थापना अिस तरह नहीं हो सकती। पंडितोंके द्वारा धर्मका प्रचार (प्रोपेगेण्डा) जरूर हो सकता है; परंतु धर्मस्थापना अिन पंडितोंका विषय नहीं है। धर्मस्थापनाका अर्थ पिछले धर्मोंका समन्वय या काट-छांट नहीं है; वह अनेक धर्मोंका संकर नहीं है,

नये भाष्यकी रचना नही है, पुराने वृक्ष पर नअी कलम वैठानेकी कला नही है। वुद्ध और मुहम्मदने जो धर्म स्थापित किये, अुनके परिणाम-स्वरूप पहलेके धर्मशास्त्र व्यर्थ और निःशेष हो गये। जिस तरह किसी पराक्रमी पुरुषसे नये वशकी स्थापना मानी जाती है और अैसा लगने लगता है मानों अुसके कोअी पूर्वज थे ही नही, अुसी तरह जव स्वतत्र दृष्टिको प्राप्त करनेवाला कोअी पुरुष अुत्पन्न होता है तव नवधर्मकी स्थापना होती है। अुसके धर्ममें पहलेके धर्मोके तत्त्व होते ही नही, अैसा नही, परतु वह पुराने ग्रथोसे नही, वल्कि अुस पुरुषके अपने वचनसे—अनुभवसे प्रमाणभूत माना जाता है। महाराष्ट्रके सत ज्ञानेश्वरने 'अमृतानुभव' मे कहा है अुस तरह, "यही मत शिवने शिवसूत्रमें और कृष्णने गीतामें प्रकट किया है; परतु शिवने या कृष्णने यह मत प्रकट किया है, अिसलिअे मैं अुसे नही कहता, वल्कि यह मेरा अपना अनुभव है अिसलिअे कहता हू।" आपने अेक राजाकी वात सुनी होगी। अुसने अेक दूसरे राजाकी पुत्रीके लिअे मांग की। पुत्रीके पिताने अुसकी वशावली पूछी। राजाने कहला भेजा, "मै अपनी तलवारमे से अुत्पन्न हुआ हूं। मेरी तलवार मेरा आदिपुरुष है।" नवधर्मकी स्थापना अिस तरह होती है। जिस तरह किसी सपूर्ण कायदे (code) के पास हो जानेके वाद अुसके पहलेके छुटपुट कायदे नही देखने पडते, अुसी तरह नवधर्म-स्थापकका निर्माण होनेके वाद वेद, कुरान, वाअिवल वगैरा सव धर्मशास्त्रोको निरुपयोगी वना देनेवाले शास्त्रका निर्माण होगा। अैसे स्थापककी मैं आशा करता हू।

मेरा यह कहना आज आपके गले अुतर ही जायगा, अैसा मुझे विश्वास नही है। अिसका दूसरा पहलू पेश करके अैसी दलीले करना असभव नही है जो आपको अच्छी तरह गडवडीमे डाल दें। परतु मैं आपको अितना तो विश्वास दिलाता हू कि मैं जो कहता हू वह जव तक आपके गले नही अुतरेगा, तव तक आपके चित्तका मोक्ष नही होने-वाला है। फिर "नाऽहं चित्त वधमोक्षौ कुतो मे?" कह कर भले ही आप सतोष मान ले।

('प्रस्थान', अक्तूवर १९३५)

४

ओीश्वर-निष्ठाका बल*

भाषामें अैसे बहुतसे शब्द है, जिनका हरअेक व्यक्ति अुपयोग करता है, फिर भी अुनके अर्थके विषयमे किन्ही दो दर्शनो, सम्प्रदायो या व्यक्तियोका भी कभी अेकमत नही होता। 'ओीश्वर' शब्द अैसे कठिन शब्दोमे से अेक है। कुछ समय पहले जब गांधीजीने यह कहा कि 'सत्याग्रहीकी ओीश्वरमे श्रद्धा होनी ही चाहिये', तब बहुतसे राजनीतिक कार्यकर्ताओंके मनमें दुविधा पैदा हुआी थी। ओीश्वरके अस्तित्वके विषयमें या अुसको अपना आधार माननेके विषयमें कुछ लोग शंकाशील है, कुछ सिर्फ शंकाशील ही नही है, बल्कि निश्चयपूर्वक ओीश्वरका अिनकार करते है, फिर भी सत्याग्रहका अुत्साह और लगन रखते है। अुन्हें गांधीजीके ये शब्द अखरते है। और यदि सत्याग्रही होनेके लिअे ओीश्वरनिष्ठा जरूरी हो, तो यह सवाल भी खडा होता है कि किसके अथवा कौनसे ओीश्वरमें? ज्ञानी — सूफियोंके? स्मार्तके? वैष्णवके? आर्यसमाजके? मुसलमानके? ओीसाओीके? पारसीके? सगुणमें? निर्गुणमे? या गांधीजीके 'सत्यरूपी ओीश्वर' को समझकर अुसीमें? और फिर निरीश्वरवादी सांख्यो, जैनो, बौद्धोका क्या होगा? क्या अुनके लिअे सत्याग्रहका मार्ग बंद समझना चाहिये?

यह वस्तु समझनेके लिअे धर्म और तत्त्वज्ञानकी सूक्ष्म चर्चाअे की जाती है। परन्तु ये चर्चाअें विषयको स्पष्ट करनेकी अपेक्षा अुलझन ही पैदा करती हैं। मेरी दृष्टिसे विचारने योग्य वस्तु यह है :

दुनियाके अितिहासमे हमें सैकडो अुदाहरण अैसे मिलते है, जिनमें अकेला व्यक्ति — किसी समय बालक जैसा छोटा व्यक्ति भी — किसीकी मददके बिना जबरदस्त शक्तियोका निडरता और दृढतासे मुकाबला करनेके लिअे खडा होता है। अिन शक्तियोंके सामने थोडा

---

* १९३९ के 'हरिजनबंधु' मे छपे अेक लेखके आधार पर।

झुक जानेसे जीवन बच सकता हों तथा लाभ भी हो सकता हो, तो भी वह झुकनेकी अपेक्षा टूटना या नष्ट हो जाना अधिक पसंद करता है। अैसे व्यक्तिके हृदयमे अैसी किस वस्तुका अनुभव होता है, जो अुसे अैसा वल देती है? प्रह्लाद अैसी किस वस्तुका अपने हृदयमे अनुभव करता था, जिसके वलपर वह अपने पिताकी कठोर यातनाओंकी अवगणना कर सका? या सुधन्वा तेलमे भुने जानेकी, गुरु गोविन्दसिंहके छोटे छोटे पुत्र दीवालमे जीवित चुने जानेकी और रोमका तरुण जलती हुअी मशालमें अपना हाथ रख देनेकी यातना संतोषपूर्वक सहन कर सके थे? प्राणो और जीवनके सुखोंके विषयमें अैसी लापरवाही वतानेका वल देनेवाली तथा शारीरिक जीवनकी अपेक्षा किसी अशरीरी वस्तुके साथ अधिक आत्मीयताका अनुभव करानेवाली आखिर कौनसी वस्तु है?

अिस तरह वरतनेके लिअे किसी जवरदस्त 'भावना' का अनुभव होना चाहिये, अैसा अनीश्वरवादीको भी स्वीकार किये विना चारा नही है। यह भावना सामान्य अिन्द्रियोंके विषयोकी या संकल्प-विकल्पोकी नही है। परंतु यह अेक अैसा अनुभव है, जिसके कारण अुस मनुष्यका यह विश्वास होता है कि अुसमें कोअी अैसी शक्तिशाली प्रेरणा काम कर रही है, जो दुनियाकी दूसरी सव शक्तियोंसे अधिक वलवान है, अपने शरीर और प्राणोकी अपेक्षा अपने अधिक समीप है।

अिस शक्तिको कोअी 'ीश्वरनिष्ठाका वल' कहना पसंद करता है, कोअी 'अध्यात्मवल' (spiritual force), कोअी 'आत्मवल' (soul-force) कहता है, कोअी 'नैतिक वल' (moral force) कहता है, कोअी 'प्रतीतिवल' (strength of conviction) कहता है। परंतु अिस वलकी परीक्षा यह है: क्या आपको अैसा कोअी वलवान अनुभव होता है, जो कसौटीके समय आपके मनमें अैसी कमजोरी पैदा न करे कि 'मुझे कोअी वचा ले तो अच्छा', अथवा 'जरा सभल कर चलूं'? आपकी भयवृत्ति पर प्रभुत्व रखनेवाले अिस अनुभवको आप चाहे जिस नामसे पहचानें, परंतु यदि अुसका वल आपको अपने नेक मार्ग और काममे दृढ़ रहनेके

लिअे और अुसके लिअे संतोषपूर्वक अपना जानमाल तथा अपनी प्रवृत्तिका अिष्ट माना हुआ फल भी खोनेके लिअे तैयार रखनेवाला हो, तो आप सत्याग्रहके मार्ग पर रह सकेंगे।

अिस विषयमें अेक दूसरी बात याद रखनी चाहिये। स्वदेश-भक्ति, प्रेम, लोभ, साहस वगैराके वेग भी कभी कभी असाधारण हिम्मत पैदा करते हैं। अैसी भावनाओंके आवेग यदि हमारा ध्येय बुरे रास्ते जानेसे प्राप्त हो सकता हो तो अुसे छोड़नेके लिअे तैयार नहीं होंगे। अूपर वर्णन किये हुअे बलका आधार रखनेवालेमें ध्येयकी सिद्धिकी रीतिके विषयमें नैतिकताका भी अेक निश्चित माप होता है। अुस नैतिकताको छोड़कर वह ध्येयको सिद्ध करनेके लिअे कभी तैयार नहीं होता।

अिस तरह "स्वयं आकाश भी टूट पड़े और अपने सब मनोरथ या सांसारिक ध्येय चूर चूर हो जायं, तो भी अपने निश्चय पर अडिगतासे, अकेला हो तो भी, चिपके रहनेकी शक्तिका अपनेमें निहित जो मूल स्रोत है, वही 'अध्यात्मबल', 'आत्मबल' या 'अीश्वर-निष्ठाका बल' है। और अिस बलका वह अंश, जिसके कारण मनुष्य अपने ध्येयको सिद्ध करनेके लिअे अमुक नैतिकता या सदाचारसे चिपका रहता है अथवा अमुक मार्गोंका त्याग करनेके निश्चयको कायम रखता है, अुसका नैतिक बल कहा जा सकता है।"

अैसा बल पैदा करनेवाला विश्वास धर्म, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, बल, तप, नियम, शास्त्रचिंतन, विज्ञान वगैरा चाहे जिन निमित्तोंसे अुत्पन्न हो, वही सत्याग्रहीका अीश्वर या आत्मा है। यह चीज गौण है कि वह अुसे अीश्वर, आत्मा या अध्यात्मके नामसे पहचानता है या दूसरी किसी रीतिसे समझाता है। तात्पर्य यह है कि यह बल अुसे बाहरके साधनों या समाजमें से नहीं मिलता है। वह अपने भीतर ही अुसका अनुभव करता है। जिसको अैसे बलका आधार नहीं होता और जो बाह्य योजना तथा विविध साधनों पर ही सत्याग्रह करनेका आधार रखता है, वह आखिर तक सत्याग्रही नहीं रह सकता।

५

परोक्ष पूजा

"हमें तो अैसा लगता है कि (जिसे) पूर्वजन्मका संस्कार होगा, वह सत्पुरुषके समागमसे प्राप्त हुआ होगा; और आज भी जिसे संस्कार होता है, वह सत्पुरुषके समागमसे ही होता है। अिसलिअे अैसे सत्पुरुषका संग प्राप्त होने पर भी जिसको सत्य समझमें नहीं आता, अुसे अतिशय मंद वुद्धिवाला समझना चाहिये। क्योंकि जैसी श्वेतद्वीपमें . . . और जैसी गोलोक वैकुंठलोकमें . . . और जैसी वदरिकाश्रममें सभा है, अुससे भी मैं अिस सत्संगीकी सभाको अधिक मानता हूं। . . . अिसमें यदि रंच मात्र भी मिथ्या कहता होअूं, तो अिस संतसभाकी शपथ है। यह शपथ किसलिअे लेनी पड़ती है? अिसलिअे कि अैसी अलौकिकता सब कोअी समझ तथा देख नहीं सकते हैं . . . और . . . जैसी परोक्ष देवके विषयमें जीवकी प्रतीति होती है वैसी यदि प्रत्यक्ष गुरुरूप हरिके विषयमें हो, तो जितने अर्थ प्राप्त होनेके लिअे कहा गया है अुतने सब अर्थ अुसे प्राप्त होते हैं।"

(सहजानंदस्वामीके वचनामृत : ग० म० २)

स्वामीनारायण संप्रदायने मुझ पर जो अनेक सुसंस्कार डाले हैं, अुनमें से अेक महत्त्वपूर्ण संस्कार मुझे यह लगा है कि अुसने मुझे परोक्षकी तरह ही प्रत्यक्षकी महिमा समझना सिखाया। मनुष्यकी अेक बड़ी कमजोरी और बेसमझी यह है कि अुसे भूतकालके पुरुष, अुनके काम, अुपदेश और ग्रन्थ बहुत ही दिव्य, भव्य, कीमती और सत्यसे भरे हुअे लगते हैं; और जैसे जैसे वे प्राचीन होते जाते हैं, वैसे वैसे अुनके प्रति अुसका आदर बढ़ता जाता है। और जैसे जैसे कालकी नदीमें वे बहते जाते हैं, वैसे वैसे अुन्हें बचा लेनेकी और अुनकी प्राचीनता खोजनेकी अुसकी प्रवृत्ति तीव्र होती जाती है। सामान्य रूपसे मनुष्यको भूतकालमें सत्ययुग और सुवर्णयुग बीता हुआ लगता है, और वर्तमानकाल सदैव कलियुग ही लगता है। अिस कारणसे वह अपने समयके वुद्धिमान, विद्वान, वीर्यवान, ज्ञानवान, या चारित्र्यवान

पुरुषोंकी महत्ता समझनेमें हमेशा पीछे ही रहता है, अथवा कभी कभी तो विलकुल समझ ही नही सकता। अुनके जीवन-कालमें अुनका विरोध भी करता है, परंतु अुनके मरनेके वाद अुनकी पूजा करने लगता है। यही भूल अुसके वादकी पीढी करती है। अर्थात् दूसरी पीढी अुन मरे हुअे पुरुषोंकी पूजा करना शुरु करती है, और अपने सामने विचरण करनेवाले अुसके वादके नये महापुरुषकी अव-गणना करती है। यह वुद्धि वैसी ही है जैसे कोअी आदमी अुसकी निगाहके सामनेसे हाथी जाता हो, अुस समय तो अुसे हाथी माननेसे अिनकार करे और वादमें अुसके पदचिह्न देखकर कहे कि "अहो! अभी जो गया वह तो हाथी ही था!"

अिस तरह मनुष्य ५–६ हजार वर्ष पहलेके वेदो और वेदर्षियो तथा रामकृष्णादि 'अवतारो', २–३ हजार वर्ष पहले हो गये वुद्ध, महावीर, हजरत अीसा वगैरा धर्मसंस्थापको, डेढ हजार वर्ष पहलेके मुहम्मद वगैरा पैगम्वरो, हजार वर्ष पहलेके शकर, रामानुज वगैरा आचार्यों, तीन सौ-चार सौ वर्ष पहलेके नानक, रामदास, चैतन्य, वल्लभाचार्य वगैरा और अभी अभी हो गये परंतु जीवितावस्थाकी अपेक्षा मरनेके वाद अधिक पूजा पाये हुअे सहजानंदस्वामी, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी दयानद वगैराकी अितनी महिमा समझते है कि अुनके साथ हमारे समयके किसी भी पुरुषकी तुलना करनेकी कल्पना भी सामान्य रूपसे अुन्हें सहन नही होती। जिस मनुष्य या प्रजाको अपनी अुन्नति करनी हो, अुसे यह कमजोरी और नासमझी छोड़नी चाहिये।

प्राचीन कालमें हो गये महापुरुषोंके जीवनको तथा अुनके ग्रंथोको भूलरहित समझनेका कारण वहुत कुछ माता-पिता-गुरु वगैरा पर रहनेवाली श्रद्धा और अुनके समागमसे वधी हुअी श्रद्धा होती है। यदि अुस श्रद्धाकी मददसे हम अपनी आखोंके सामने विचरनेवाले प्रत्यक्ष महा-पुरुषोंकी कदर करनेकी शक्तिका विकास कर सकें, तो वह अेक शुभ सस्कार है। यदि अैसा न हो सके, और हम यही मानें कि दिव्य पुरुष तथा दिव्य ग्रन्थ केवल भूतकालमें ही थे, वर्तमानमें तो कलियुग ही है, तो वह सात्त्विक दिखाअी देनेवाला जडताका ही सस्कार है।

स्वामी मुक्तानंद अेक पदमे जो कहते है, वह मनन करने योग्य है :

" स्वामिनारायणनु समरण करतां, अगम वात ओळखाणी रे;
निगम निरंतर नेति कही गावे प्रगटने परमाणी रे।
मगलरूप प्रगटने मेली, परोक्षने भजे जे प्राणी रे;
तप-तीरथ करे देवदेरां, मन न टळे मसाणी रे।
कथा कीर्तन कहेता फरे छे, कर्मतणी जे कहाणी रे;
श्रोता ने वक्ता वेय समज्या विना, पेटने अर्थे पुराणी रे।
काशी, केदार के दुवारका दोडी, जोगनी जुगती न जाणी रे;
ते पाछो घरनो घरमाही, गोधो जोडाणो जेम घाणी रे।
पीवा विना प्यास नव भागे, पड अुपर ढोळो मर पाणी रे;
मुक्तानद मोहन सग मळता मोज अमुलख माणी रे।"*

प्राचीन ग्रंथोका पाडित्य अत्यंत अुपयोगी या विलकुल आवश्यक ही है, सो वात नही। तत्त्वकी सच्ची समझ तत्त्वज्ञानीके प्रत्यक्ष और जीते जागते परिचयके विना अुत्पन्न नहीं होती। अैसा परिचय किसी अकथनीय रूपसे चिनगारीका काम करता है। अुसी तरह वर्तमान जीवनके कर्तव्योके वारेमें भी समाजके प्रत्यक्ष पुरुप ही मार्गदर्शन करा सकते है। किसी वातके लिअे पुराने महापुरुषोका और ग्रंथोका समर्थन मिलना ही चाहिये, अैसा आग्रह वुद्धिमे जड़ता पैदा करता है।

---

* स्वामीनारायणका स्मरण करते करते अेक अगम्य वात समझमें आअी; निगम हमेशा प्रगटको सच्चा मानकर नेति कहकर अुसका वर्णन करते है। जो प्राणी मंगलरूप प्रगटको छोड़कर परोक्षकी भक्ति-पूजा करता है, वह चाहे तप-तीर्थ करे, देवमंदिर जाय, लेकिन अुसके मनकी दीनता दूर नही होती। कथा और कीर्तन जो कर्मकी कहानी है अुसे पुराणिक लोग अपने पेटके लिअे कहते फिरते है, परतु कहनेवाला और सुननेवाला दोनो अुसे समझते नही। काशी, केदार और द्वारिका जा कर भी जो योगकी खूवीको नही समझे, वे तो घानीके वैलकी तरह घर आकर फिर माया-मोहमें फंस जाते हैं। पानी चाहे जितना शरीर पर डालो, लेकिन पिये विना प्यास नहीं वुझेगी। मुक्तानद कहते है, मोहनका सग मिलने पर मैंने तो अमूल्य आनंदका अुपभोग किया।

६

गलत भावुकता

अेक दिन अेक किसान कार्यकर्ता मिलने आये। प्रणाम करके सामने बिछी हुअी चटाअी पर बैठ गये। कहासे आये, कैसे आये, क्या करते हैं, वगैरा मैंने पूछा। जवाबमें वे अपना नाम, स्थान आदि बता कर बोले. "पवनारमें विनोबा भगवानके दर्शन किये। अुनके पास कुछ दिन ठहरा, और भगवानने खूब लाभ अुठाया। अब (मेरी ओर अिशारा करके) भगवानके दर्शनकी अिच्छासे आया हू।"

अिस भाषासे मुझे अचरज हुआ, दु ख भी हुआ। लेकिन दु.खको दबाकर मैंने पूछा : "तब आपके कितने भगवान हैं ?"

सवाल अुन्हें कुछ विचित्र-सा मालूम हुआ। अुन्होंने शायद सोचा होगा कि यह तो बोलनेकी सभ्य रीति ही है, अुस पर मुझे क्यों अेतराज अुठाना चाहिये ? वे बोले·

"जी, . . भगवान तो वैसे सबका अेक ही है। लेकिन जो कुछ है, वह भी तो सब भगवान ही के रूप हैं अैसा मैं समझता हू। अिसलिअे आप जैसे महानुभावोंके लिअे भगवान शब्दका प्रयोग करना मैं ठीक ही समझता हू।"

"सब भगवानके रूप हैं, अैसा कहनेमें तो कुत्ता भी भगवान होता है, और स्वयं आप भी भगवान हो जाते हैं। क्या कुत्तेके लिअे और खुद अपने लिअे भी आप 'कुत्ता भगवान' और 'मैं भगवान' अैसी भाषा काममें लेते हैं ?"

"जी, . . . लेकिन अुसमें पामर प्राणी और साधु-महात्माका भेद तो करना ही चाहिये। मैं अपने जैसे पामर मनुष्यको किस तरह भगवान कह सकता हू ? कुत्ता हैं तो भगवानका ही रूप, लेकिन वह तो अभी हीन दशामें है, अुसे भी भगवान कहना और आपके जैसोंके लिअे भी वही शब्द काममें लेना तो अनुचित होगा।"

"तब तो दुनियामें कोअी छोटा है, कोअी बडा है, यिस भेद-भावका आपको अच्छी तरह खयाल है। अिसलिअे जो सबसे बडा

और श्रेष्ठ अेक परमात्मा है, अुसके लिअे भी भगवान शब्द वरतना और छोटी-मोटी योग्यताके आदमियोके लिये भी वही शब्द काममें लेना क्या अनुचित नही ? परमात्मा भगवान, गांधी भगवान, विनोवा भगवान, जाजूजी भगवान, मशरूवाला भगवान, राजेंद्रवावू भगवान, जवाहरलाल भगवान आदि सभीको अेकसा भगवान शब्द लगा सकते है ? "

"जी, नही नही ! मैंने जवाहरलालजीके लिअे कभी भगवान शब्द नही वरता। वे हमारे वड़े नेता है। और पू० वापूजी कहते है कि वे अुनके वाद देशके नेता होंगे, और हमारे किसान लोग कहते है कि जयप्रकाश होंगे। लेकिन मैं अुन्हे भगवान नही समझता। मेरी तो वापूजी और विनोवा भगवान और आप भगवानमें ही श्रद्धा है। मैं तो विनोवा भगवानको ही वापूजीका वारिस समझता हूं। आपको सुनकर अचरज होगा कि जयप्रकाशजी हमारे गांवके नजदीक कअी वार आये है, और अुन्होने भाषण दिये है। पर मैंने अभी तक अुन्हें देखा नही, फोटोमें ही देखा है। कभी सुना नही। मैं तो अेक गांधीजीको ही मानता हूं और विनोवा भगवानको और आप भगवानको ! "

"माफ कीजिये, मुझे आपकी श्रद्धा और भावुकता अच्छी मालूम नही होती। और अैसा शब्द न गांधीजीके लिअे, न विनोवाजीके लिअे, और न मेरे या और किसी आदमीके लिअे लगाअिये। पहले आपने कहा कि सब कोअी भगवानके ही रूप है। अब जवाहरलालजी और जयप्रकाशजी जैसे वड़े और वलवान नेताओको तो आप अुस शब्दके योग्य नही समझते, और मेरे जैसे अेक मामूली लेखकको भगवानकी वरावरीमें विठाते है। आपको गांधीजीमें जो श्रद्धा है, वह अिसलिअे नही है कि वे वुद्धिकी वातें वताते है। लेकिन अिसलिअे है कि वे अेक पवित्र महात्मा पुरुष हैं, गरीवोंकी भलाअी चाहते है और अुनमें श्रद्धा रखनेसे जीवका कल्याण होगा। लेकिन आपको यह डर भी है कि गांधीजीकी वाते वुद्धियुक्त न भी हों, और आपमें वुद्धि तो है। कहीं जयप्रकाशजीकी वाते आपकी वुद्धिको जंच जायं और गांधीजी परकी आपकी श्रद्धा कम हो जाय, तो फिर जीवका कल्याण कैसे हो ? अिसलिअे आप जयप्रकाशजीकी वातें कान तक पहुंचने देनेमें

भी डरते है। और यहां हम, वर्धावाले, गाधीजीकी वातोको तरह तरहसे वदलकर या वढा कर समझाते है। अिसलिअे यहाके छोटे-मोटे सवमें कल्पनासे भगवानका खयाल करके आप अपनी श्रद्धाको मजवूत वनाये रखना चाहते है।"

यह वात अुस वक्त तो यही पूरी हुअी। जैसी हुअी वैसी ही सव नही लिखी, केवल अुसका मतलव ही लिखा है। लेकिन अिस सज्जनकी भावुकता और श्रद्धा पर मुझे जितना रज हुआ, अुतना ही अिस विषयमें हमारे सत्पुरुषोकी कायम की हुअी विवेकहीन और गैर-जिम्मेदार परपराका भी हुआ। हमारे देशके सद्‌गुरुओ, महात्माओ, साधु-संतो, आचार्यो और सप्रदाय-प्रवर्तकोने लोगोको श्रद्धाके नाम पर कितने दुर्वल, नम्रताके नाम पर विना कारण पामर, वेदातके नाम पर विवेकहीन और अुल्टी-सुल्टी दलीलें करनेमे होशियार, और सगुण भक्तिके नाम पर अनुचित ढगसे मनुष्य-पूजक वना दिया है! "गुरु. साक्षात्परव्रह्म" अिस सूत्रकी हमने अिस प्रकारकी स्थूल व्याख्या कर दी है, और अिसका हमें अव अितना मुहावरा हो गया है कि अपने शिष्यो और लोगो द्वारा 'भगवान' शव्दसे पुकारे जानेमें, मदिरकी मूर्तिकी तरह पूजा-अर्चा पानेमें, परमेश्वरवाचक सज्ञायें और महिमा अपने नामके साथ जोडे जानेमें, अपनी मूर्तिपूजा भी कायम करनेमे हमें कुछ वुरा — आघात पहंचानेवाला मालूम ही नही होता, वल्कि वही मोक्षका सच्चा रास्ता समझा जाता है! परिश्रम करके शिष्योंके गुणोको वढाने, अुनकी वुद्धिको पैनी करने, अुनकी विवेक-शक्तिको तेज करने, और अुनको स्वतत्र, स्वाधीन मानव वनानेके वदले हम अुन्हे परावलवी पामर रखकर गुरु-भक्तिसे ही मोक्ष पानेकी श्रद्धा रखनेवाले वना छोडते है। स्वयं अपने अहकारको तो 'व्रह्म' — वहुत वडा — वनाते रहते है, और शिष्यके अहकारको दिन दिन क्षुद्र। खुद पुरुषोत्तमके पद पर आरूढ़ होते है और शिष्योको अपुरुष — पुरुषार्थहीन वनाते है।

अिसमें भगवानका द्रोह — यानी गुनाह है, भाषाका द्रोह — यानी अविवेक है, और स्वयं अपने मनुष्यत्वका द्रोह — यानी

अपमान है। ज्ञानी महात्मा ब्रह्मनिष्ठ हुआ हो, तो भी हमें केवल अेक परमात्माको ही भगवान कहना चाहिये। दूसरे किन्हींको भी — वे कितने ही बड़े और पवित्र क्यों न हों — यह शब्द न लगाना चाहिये। वे सब मनुष्य ही हैं।

मनुष्योंमें अुम्र, ज्ञान, पैसा, विद्वत्ता, सद्‌गुण, अधिकार वगैराकी कमी-वेशीके कारण छोटे-मोटेके भेद हो सकते है, और अुसके कारण कम-ज्यादा आदर-अदब भी दिखाया जाना अस्वाभाविक नही। लेकिन अुसकी भी अेक हद होनी चाहिये। कुछ शब्द अैसे है जो छोटे-मोटे सबके लिअे अेकसे लगाये जा सकते है; जैसे — 'जी'। गांधीजी, जवाहरलालजी, विनोवाजी, जाजूजी, मौलवीजी, पंडितजी, गुरुजी, रामचंद्रजी, कृष्णजी, भाअीजी, बहनजी वगैरा चाहे जिस स्त्री-पुरुषके प्रति आदर बतानेके लिअे अुसे लगा सकते हैं। लेकिन अुसे हम परमात्माके लिअे लगाकर परमात्माजी, परमेश्वरजी, अल्लाहजी नही कहते और न जानवरोंको लगाकर गायजी, घोड़ाजी, कुत्ताजी कहते हैं। यानी, हमने अुसे मनुष्यके अदबके लिअे ही रखा है।

लेकिन मनुष्योंमें आदरके और भी बहुतसे शब्द है, जो सभी मनुष्योंके लिअे नही लगाये जाते, न भगवानके लिअे ही। जैसे, गांधीजीको 'महात्मा' कहनेकी तो अब अेक रूढ़ि हो गअी है। लेकिन अगर महात्मा नेहरू, महात्मा विनोबा, महात्मा सुभाषचंद्र, महात्मा जिन्ना वगैरा कहने लगे, तो अुन व्यक्तियोंके प्रति आदर होते हुअे भी वह बेढंगा मालूम होगा, और अगर वैसी रूढ़ि चल पडे तो अुसका मतलब अितना ही हो जायगा कि हमने 'महात्मा' शब्दको 'मिस्टर', 'जनाब' या 'श्रीमान्' का पर्यायवाची बना डाला है। फिर बहुत बड़े आदमीके लिअे और कोअी शब्द ढूंढा जायगा। और वैसा हुआ भी है। किसी जमानेमें शायद महात्माका अर्थ भगवान, परमेश्वर ही होता होगा। और महाभारतसे मालूम होता है कि अेक अैसा भी जमाना था, जब महात्मा शब्द किसी भी बड़े आदमीके लिअे बरता जाता था। जैसे, दुर्योधन और कर्णके लिअे भी महात्मा शब्द लगाया गया है और व्यास, कृष्ण, भीष्म धर्मराज, अर्जुन, सात्यकि आदिके

लिअे भी। वैसे ही हम गांधी भगवान, विनोवा भगवान वगैरा कहने लगें, तो अुसका अितना ही मतलव हो जायगा कि 'भगवान' शब्दको हमने 'साहव' या 'महाशय' का अर्थ दे दिया है। अिस तरह हम कितने ही शब्दोको अपनी अूचाअीसे फिजूल ही गिराते रहते हैं, और फिर आदरके नये नये शब्द ढूढते रहते हैं।

मनुष्य जिसे अपनेसे ज्यादा मानता होगा, अुसका आदर करेगा ही। सेवा भी करेगा। लेकिन अगर वह आदर और सेवा खुदको कमीना — क्षुद्र महसूस करानेवाली और अुस वडेको 'देव' मनवानेवाली हो जाय, तो वह अुसे अूचा अुठानेवाली नही रहती। गुरुओका और वड़े लोगोका फर्ज है कि वे अपने अूपर श्रद्धा रखनेवालोंके 'देव' न वन जाय। क्योंकि अुनके मनुष्यरूपमें होते हुअे देवपद स्वीकार करनेके मानी होते हैं, शिष्योंमे मनुष्यत्व होते हुअे पामरता व लघुताका संस्कार पैदा करना।

सेवाग्राम, २५–५–'१९४६

७

ओश्वर विषयक कुछ भ्रम

आजकल दरिद्र समाजका दर्शन करानेवाले छोटे-वडे अुपन्यास अच्छी सख्यामें लिखे जाने लगे हैं। हमारे देशकी अत्यत दु खी, दरिद्री, अन्याय-पीडित जनता अेव स्त्रियोकी शोचनीय दशाके प्रति लेखकोका — विशेषकर तरुण लेखकोका — समभावयुक्त ध्यान आकर्षित हो रहा है, और पढे-लिखे लोगोका हृदय अिस अुपेक्षित मानव-सागरके प्रति हिलानेका प्रयत्न हो रहा है, यह अेक सुचिह्न है।

परतु अिन अुपन्यासोंके दूसरे भी अेक दो अुद्देश्य नजर आते हैं। अेक तो अुपन्यासके चित्रको अिस तरह खीचना, जिससे पूजी-वाद और पूजीपतियोंके प्रति घृणा अुत्पन्न हो। अर्थात् अिस अुद्देश्यसे लिखे जानेवाले अुपन्यासोमे यदि यही वताया जाय कि जहा जहा

दुःख-दारिद्रय-अन्याय है, वहां वहां अुसके कारणस्वरूप पूंजीवाद या पूंजी-पति ही है, तो कोओी आश्चर्य नहीं है। परंतु अिस प्रयत्नके साथ साथ अैसा अुपदेश भी मिलाया जाता है, जिससे अीश्वरके प्रति भी घृणा अुत्पन्न हो और अुसके अस्तित्वमे अविश्वास हो।

जब मनुष्य किसी भी वस्तुकी केवल आसक्तिसे ही नहीं, बल्कि पूर्वग्रह और क्रोधसे भी जांच करता है, तब न तो वह न्यायपूर्ण दृष्टिसे निरीक्षण कर सकता है और न स्वयं भ्रम-मुक्त हो सकता है। अिस कारणसे अिन अुपन्यासोंमें अीश्वरके विषयमे बहुत ही अपूर्ण और भ्रमयुक्त विचार दीख पड़ते है, और अुससे जिस अीश्वरकी लेखक निन्दा करना चाहते हैं, अुस शक्तिके विषयमें स्वयं अुनका ही अज्ञान प्रकट होता है।

मार्क्स आदि युरोपीय लेखकोंने अिस विचारका प्रचार किया है कि अीश्वर और धर्ममत (religion, church, अनुगम) सब सत्ताधारियो द्वारा अपनी सत्ताको मजबूत करनेके लिअे निर्माण की हुअी कपोल-कल्पित माया है। हमारे देशके अनेक तरुणोंने अुस विचारको जैसेका तैसा अपना लिया है और भिन्न भिन्न प्रकारसे अुसको वे हमारे साहित्यमें फैला रहे है। परंतु यह बात अुनके ध्यानमें आअी हुअी मालूम नहीं होती कि यहूदी, अीसाअी, मुस्लिम आदि किसी विशेष व्यक्ति द्वारा स्थापित किये हुअे, अर्थात् पौरुषेय अथवा दूतप्रकाशित (revealed) धर्ममतोंमें और हिंदू, जैन, बौद्ध आदि किसी विशेष व्यक्ति द्वारा स्थापित न किये हुअे, अर्थात् अपौरुपेय अथवा अनुभूत (realized) धर्ममतोंमें अीश्वरके स्वरूपकी समझमें अेक बड़ा महत्त्वका अन्तर है। वह अन्तर यह है कि दूत-प्रकाशित धर्ममतोंमें अीश्वरको आकाशके पार और निराकार होते हुअे भी बुद्धि और भावनायुक्त अेक तत्त्वविशेष माना गया है, और यह माना गया है कि जिस तरह अेक कुम्हार मिट्टीसे अपनी अिच्छानुसार बर्तन बनाता है, परंतु मिट्टी और बर्तन दोनोंमे भिन्न रहता है, वैसे ही अीश्वरने सब सृष्टि बनाअी है, अेवं जिस तरह मिट्टीसे किस स्वरूपका कैसा बर्तन बनाना है अिसका सोच-विचार और निर्णय करके कुम्हार

अुसे वनाता है, अुसी तरह अीश्वरने जगत्के प्रत्येक जड़ पदार्थ तथा चेतन प्राणियोंके विषयमें पहले सोच-विचार और निर्णय करके फिर अुसे वनाया है। अर्थात्, जिसे अुसने जैसा चाहा वैसा वनाया। अुसमें अुस प्राणीके वलावल या अिच्छा-अनिच्छाका कोअी सम्बंध नहीं है। वादमें मनुष्यको यह धर्म समझाया गया है कि वह अीश्वर सर्वज्ञ, न्यायी और दयावान है। अिसलिअे अुसने जो कुछ किया होगा वह ठीक ही किया होगा, अिस श्रद्धासे अुसकी निर्माण की हुअी परिस्थितिमें सन्तोष मानना और अुसकी शरणमें रहना यही अुद्धारका मार्ग है। यह हुआ अुनका अीश्वर-विचार। फिर अीश्वरकी अिच्छाओंको जाननेवाले पैगंवरोंकी कल्पना की गअी है, और अुन्होंने अपने अपने काल और देशमें जो कुछ धार्मिक विधियां और सामाजिक रूढ़ियां कायम की तथा प्रणालिकायें और सदाचारके नियम वाध दिये, वे सव दूतों द्वारा अीश्वरदत्त ही थे, यह श्रद्धा रखी गअी है। अर्थात् वे सव रूढ़ियां, प्रणालिकायें और नियम मिलकर अेक-अेक धर्ममत (religion) – अनुगम – हो गया है।

यद्यपि हमारे देशके भी धार्मिक साहित्य और लोकवाणीमें अूपरके विचार वारवार प्राप्त होते हैं, और वर्णाश्रम-व्यवस्था अीश्वरकी वनाअी हुअी है, वेद अीश्वरदत्त हैं आदि विधान किये जाते हैं, तथापि यह केवल भाषाशैथिल्य है। अिसमें अपौरुषेयका अनुवाद अीश्वर शब्दसे कर दिया जाता है। वास्तवमें हमारे देशके किसी भी धर्ममत या अुसके किसी भी पथमें अीश्वर-स्वरूप, समाज-धर्म तथा विधि-धर्मकी तात्त्विक नींव अुपरोक्त नींवसे विलकुल भिन्न प्रकारकी है। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, सेश्वर, निरीश्वर, वैदिक, जैन, वौद्ध चाहे जिस मतका मनुष्य हो, हिन्दू धर्म-विचारमें अीश्वरको सृष्टिका कुम्हार जैसा कर्ता नहीं समझा गया है। अिसके अतिरिक्त हिन्दू धर्मोंमें अीश्वरके साथ साथ अेक दूसरी शक्तिका भी अस्तित्व माना गया है। अुसे हम 'कर्म' के नामसे पहचानते हैं। यह कहनेमें हरकत नहीं कि सेश्वर मतोंमें अीश्वर और कर्मका किसी न किसी प्रकारका द्विराजकत्व माना गया है। अर्थात् न तो अीश्वर अेक

स्वेच्छाचारी सर्वाधिकारी (autocrat or dictator) है और न कर्म ही संपूर्णतया स्वाधीन है। अिसी कारणसे ओश्वरको केवल कर्मफल-प्रदाता कहते हैं, अथवा साक्षीमात्र और अकर्ता भी कहते हैं। निरीश्वरमतोंमें अीश्वरको स्थान ही न होनेसे अीश्वर पर दोपारोपण करनेवाली भाषा निरर्थक हो जाती है।

साराश यह है कि हिंदू धर्ममें कोअी कितना भी महान् अीश्वर-भक्त हो और अीश्वरको अधिकसे अधिक सर्वाधिकार — कर्मोको नाश करनेका भी अधिकार — देता हो, तो भी वह अीश्वरका सर्वाधिकारित्व अुसके अनन्य भावसे शरणमें गये हुअे भक्तोके लिअे ही मानता है। जो अुसके अनन्य भक्त नही हैं, अुनके अूपर तो भक्तके मतसे भी कर्मोका ही आधिपत्य होता है, और अुसके लिअे अीश्वर केवल फलप्रदाता ही माना जाता है।

अिसका अर्थ यह हुआ कि हिन्दुओंके विचारसे हमारे सुख-दुःखोंके लिअे मुख्य जवावदारी कर्मकी मानी गअी है, न कि अीश्वरकी। वह कर्म चाहे आजका हो, कलका हो, या वहुत पहलेका हो; वैयक्तिक हो, पूर्वजोका हो या समग्र समाजका हो; अिस जन्मका हो या पूर्वजन्म पर आरोपित किया गया हो — किसी न किसी प्रकारके कर्मके कारण ही हमारी वर्तमान अवस्था है, और अुसीके कारण अुसमे परिवर्तन होगा। भक्त अिस मान्यतामे अितनी बात वढा देता है कि यदि मनुष्य अुसके साथ अनन्यभावसे अीश्वरकी शरण ले तो यह परिवर्तन अधिक शीघ्र हो सकता है, वैसा न हो तो कर्मके नियमोके अनुसार ही अुसकी प्रगति हो सकती है। यह विचार ठीक है या नही, अथवा कहा तक ठीक है, अिसकी चर्चा यहा करनेकी जरूरत नही है। यहा केवल अितना ही वताना है कि हिंदुओके विचारसे व्यक्ति या समाजकी आज जो भी अवस्था है, वह वर्तमान या भूत-कालके वैयक्तिक अथवा सामाजिक कर्मोके परिणामस्वरूप है, और वर्तमान तथा भविष्य कालमें वैयक्तिक और सामाजिक कर्म द्वारा ही अुसमे अच्छा या वुरा परिवर्तन होगा। हमारी आजकी अवस्था कोअी स्वेच्छाचारी अीश्वरके खेलका परिणाम नहीं है।

अब मेरी दृष्टिसे अिस कर्मके विषयमें जो भूल हमारे विचारोमें आ गअी है, वह यह है कि हम आम तौर पर केवल वैयक्तिक कर्मोंके अूपर ही सुख-दु खका अुत्तरदायित्व आरोपित करते हैं, और अुसमें भी बहुत ही जल्दी अेकदम पूर्वजन्मके कर्मोका तर्क दौडाते है। यह विचार कुछ गलत है। सृष्टिके सब प्राणी और पदार्थ शरीरके अवयवोकी तरह अेक-दूसरेसे सबंधित हैं, तथा अनादि भूतकालसे भी अुनका सम्बन्ध है। अेक दूसरेसे बिलकुल ही स्वतंत्र और भिन्न और नया अिस जगत्मे कुछ नही है। यदि यह विधान सच है, तो किसीके सुख-दु खका कारण केवल अुसके वैयक्तिक कर्म ही नही, दूसरोके कर्म भी हो सकते हैं। अुसके पूर्वजोके कर्म भी हो सकते हैं तथा अुसके अेव दूसरे समाजोंके कर्म भी हो सकते हैं और सृष्टिकी प्राकृतिक शक्तिया भी हो सकती हैं। अर्थात्, यदि अेक छोटी बच्ची विधवा हो तो अुसके वैधव्यका कारण अुसीका कर्म है, यह मानना गलत है। अुसमें अुसके माता-पिता और आप्तजन, जिस समाजमें अुसका जन्म हुआ अुस समाजकी रूढियां तथा अुस रूढिको अुत्पन्न करनेवाली सारी कर्म-परंपरा ही विशेष कारणभूत है। जब वह रूढि बदल जाती है, तब छोटी लड़कियोको वैधव्य प्राप्त होना असभव हो जाता है। अर्थात्, समाजकी कर्म-परपरा बदल जाने से वैयक्तिक दु ख टल जाता है। यही बात हरिजन आदि दलित और दारिद्र्य-पीडित वर्ग, स्त्री-वर्ग, रियासतोकी जनता और गाय, बैल वगैरा पशुओंके दु खोंके विषय में भी कही जा सकती हैं। अेक जीवको स्त्रीत्व या पुरुषत्व प्राप्त होनेमे और अमुकके घर पैदा होनेमें अुसका पूर्व कर्म भले ही मान लिया जाय। परतु यदि वह स्त्री हो तो अुस पर विशेष बधन डालने, अथवा अुसके घरको अस्पृश्य मानकर अुस पर विशेष प्रतिबध रखने, अथवा वह दारिद्र्य-पीडित हो अैसी परिस्थिति निर्माण करनेमें अुसके पूर्व कर्मकी अपेक्षा अुसके माता-पिताके कर्म या अुसकी सामाजिक कर्म-परपरा विशेष कारणभूत है।

परंतु कर्म-सिद्धान्तकी शुद्ध दृष्टिका विचार करना अिस लेखका अुद्देश्य नही है, और न अीश्वरके विषयमे समुचित दृष्टि कौनसी है,

अिसका पूर्ण विवेचन करना ही अिसका अुद्देश्य है। अिस लेखका अुद्देश्य सिर्फ अितना ही है कि अीश्वरके प्रति नास्तिक भाव पैदा करनेके लिअे अिन अुपन्यासोमें अीश्वर-विषयक जो विचार और निन्दात्मक विधान किये जाते हैं, वे हमारे समाजके लिअे बड़े ही भ्रमसे भरे हुअे होते हैं। वे हमे अपनी दशा सुधारनेमे किसी प्रकारकी सहायता देनेकी जगह केवल हममें निराशा, निर्बलता, और पुरुषार्थशून्य असंतोष निर्माण करनेका ही काम कर सकते हैं। हिंदू जनताकी भावनामे अीश्वर या तो केवल साक्षीरूप, अकर्ता और कर्मफल-प्रदाता है, अथवा यदि वह भक्तोकी दृष्टिमें कर्ता है, तो अुसका कर्तृत्व किसीको पीड़ा पहुंचाने, पीड़ित रखने, या पाप अथवा नरकमें ढकेलनेके लिअे प्रवृत्त नही होता, परतु जो अुसकी अनन्य शरण लेता है अुसके कष्ट और पापोंको हटाने और अुसके ज्ञान, बल, बुद्धि तथा सात्विक संपत्तिको बढ़ानेके लिअे ही प्रवृत्त होता है। जो अीश्वरकी अनन्य भावसे शरण नही लेता अुसके लिअे अीश्वर नहीं-सा ही है, कर्म ही विशेप साधन है; फिर वह स्वकर्म हो या परकर्म हो। दूसरे शब्दोमें कहें तो मनुष्यकी शुभवृत्तियोको जागरित, प्रेरित और बलवती करनेवाले अुसके गूढ़ सत्त्वका ही नाम अीश्वर है, और वह अेक बड़ी बलवान शक्ति है। यदि अपने अज्ञानयुक्त विधानोसे हम जनताकी अिस शक्तिको कुण्ठित करे, तो अैसा ही कहना होगा कि जिस डाल पर हम बैठे हुअे हैं, अुसीको काटना चाहते हैं। अिससे जनतामें बल पैदा न होगा, नवजीवनका संचार नही होगा, बल्कि अुसका विनाश होगा।

'नवराजस्थान', वसंत पंचमी, १९३६

संसार और धर्म

तीसरा भाग

धर्म

१

धर्मका नवनिर्माण

धारा-सभामें जब किसी विषयमें नया कायदा बनाया जाता है, तब अुस विषयके पुराने कायदे और कलमें रद कर दी जाती हैं; बादमें अुस नये कायदेका ही आधार दिया जा सकता है और पुराना निकम्मा हो जाता है। अिसका अर्थ यह नहीं है कि पुराने कायदेकी हरअेक कलममें परिवर्तन किया जाता है और नयेमें अुसका कोअी अंश नहीं दिखाअी देता। परंतु किसी भी नियमकी प्राचीनताका महत्त्व नहीं रहता। अुसकी कीमत तो अिसीलिये है कि अुसे नये कानूनमें स्थान मिल गया।

हिन्दू धर्ममें अेक बड़ा दोष यह रहा है कि यद्यपि हर जमानेमें नये सद्गुरु, स्मृतिकार, आचार्य तथा सुधारक हुअे हैं, तो भी अिनमें से किसीने पुरानी श्रुति-स्मृतियों, भाष्यों और रूढ़ियोंको आगेके लिअे अप्रमाणित—रद्दी नहीं ठहराया। अथवा यह कहा जाय कि किसीको अितनी मान्यता नहीं मिली कि जिससे अुसके अुपदेश या शिक्षणसे भिन्न अथवा विरोधी शिक्षण देनेवाले ग्रंथों, वाक्यों अथवा रूढ़ियोंको अप्रमाणित माना जाय। अिसके विपरीत, पुराना और नया शिक्षण अेक-दूसरेसे विरुद्ध हो, तो भी दोनोंको अेक समान महत्त्व देनेकी और हठपूर्वक दोनोंमें से अेक ही अर्थ निकालनेका प्रयत्न करनेकी परंपरा चली आअी है। अिसका नतीजा यह हुआ है कि हरअेक विषयमें अनुकूल तथा प्रतिकूल प्रमाण दिये जा सकते हैं, और 'नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्' (हरअेक मुनिका अलग अलग मत) जैसी बात होती है।

कदाचित् अिस्लाममें ही यह बात पहले-पहल हुअी है। वहां कुराननें अरबस्तानके सारे पुराने ग्रन्थों तथा रूढ़ियोंको अप्रमाणित ठहरा दिया। अुनमें से जो कुछ स्वीकार करने योग्य लगा होगा, अुसका कुरानमें समावेश करके प्राचीन शास्त्रोंको ढूंढ़ने और अुन पर

विचार करनेकी जरूरत नही रहने दी; वल्कि अैसा करना दोषपूर्ण माना गया। सिक्ख धर्ममे ग्रन्थसाहवने भी धर्मके अेक क्षेत्रमे अैसा ही कुछ किया, परंतु मेरा खयाल है कि अुसने जीवनके सव अगोंके विपयमें अपनी नअी स्मृति नही वनाअी।

मानव-जीवनका, भारतवर्षके जीवनका, कौटुम्विक जीवनका, व्यक्तिगत जीवनका अथवा आसपासके समाजसे संवधित किसी भी सवालका जव जव मै गहरा विचार करता हूं, तव तव मै आखिरमें अिस निर्णय पर पहुंचता हूं कि दुनियाके आजकलके धर्मसंप्रदायोमें से किसीमें भी अिन प्रश्नोको सुलझानेका सामर्थ्य नही रहा है। मनुष्यो पर अुनका अकुश अव ढीला हो गया है। सर्वधर्म-समभावकी दृष्टिसे सव धर्मोमें से थोडे थोड़े अंग लेकर अेक नया मिश्र संप्रदाय बनावें, तो अुसमें भी यह सामर्थ्य अथवा शक्ति नही आ सकती। मनुष्यके लिअे परमात्मा और परमात्मासे अभिन्न अैसे अिस विश्वव्यापी जीवनका नया दर्शन और नया भाष्य (interpretation) प्राप्त होनेकी और अुसके आधार पर मानव-जीवनके हरअेक क्षेत्रमे आवश्यक संशोधन या नअी रचना करनेकी अव जरूरत है।

यह मैं नही कह सकता कि यह कौन करेगा, किस तरहसे किया जा सकेगा और अुसमे कितना समय लगेगा। मैं यह भी नही कह सकता कि अिस नवदर्शन और नवभाष्यमे कुछ भी त्रुटि नही रहेगी अथवा वह यावच्चन्द्रदिवाकरौ चलनेवाली रचना होगी। जिसमें कभी भी कोअी क्रान्तिकारक सशोधन न करना पड़े, जो कभी भी नाश, ह्रास या जीर्णताकी शिकार न हो, या जिसमे कुछ भी अशुभ तत्त्व न हो, अैसी कोअी रचना दुनियामें हो ही नही सकती। परमात्मा सदैव अेकरूप और सनातन है, फिर भी हर युगमे अुसके दर्शनमें नवीनता होती है और नवदर्शनमें से नया धर्म और नया जीवन पैदा होता है। जव नया दर्शन होता है, तव प्राचीन दर्शन और अुस पर खडी धर्मरचनाको पकड़ रखना दोष है। अुस नयेमें भी दोप तो होंगे ही, फिर भी नये युगमें वही काम दे सकता है, प्राचीन नही। अुस नयेमें प्राचीनका सारा स्वरूप नाश नही हो सकता; परंतु अुतना

ही रह सकता है जितनेको अुस नये दर्शन और अुसके विवेचनने मान्य रखा हो अथवा अमान्य न किया हो।

वर्तमान धर्मसप्रदायोके स्थान पर अपने ही सत्यके वलके प्रमाण पर आधार रखनेवाले नये धर्मका निर्माण हुअे विना मुझे कल्याणकी ओर प्रगति होनेकी कोअी आशा नही दीखती।

मेवाग्राम, ७-६-'४२ ('शिक्षण अने साहित्य')

२

नयी समझ

१

दुनियाका आम अनुभव यह है कि किसी कौमकी अुन्नति होनेसे पहले अुसमें अेक नया धर्म, यानी जिंदगीके वारेमे अेक नयी समझ या दृष्टि पैदा होती है। जव तक जीवनमें आशा पैदा करनेवाला अेक नया सत्य लोगोको नजर नही आता, तव तक लोकसेवाकी सारी कोशिशें अूपर अूपरकी दुरुस्तिया ही हो सकती हैं। अपने-आप आगे वढनेवाली ताकत अुनसे पैदा नही होती।

जीवनकी नयी समझके अग ये है.

१ जिन्दगी, अुसके अन्त और अुसके ध्येयको अेक नये अर्थमें समझना और अनुभव करना;

२. सदाचारकी नयी नियमावली वनाना। यह नियमावली अेक तरफ तो प्रचलित आचारोसे ज्यादा व्यापक पैमाने पर वनी हुअी होगी, और दूसरी तरफ अुसमे संयम, सादगी, शरीर और अिर्दगिर्दकी सफाअी तथा मनकी पवित्रताका खयाल ज्यादा सख्त होगा;

३. अिस दृष्टिको अपनानेवालोमें भाअीचारेकी स्थापना,

४. व्यक्तिगत और सामूहिक तौर पर कुछ कामोमें सभीका सहयोग;

५. मानों अेक तरहका संयुक्त परिवार हो, अिस तरह अपने सुख-दुःख और धन-मालमें बराबरीका हिस्सा रखनेवाले मण्डल बनाना; और

६. शराब, व्यभिचार, चोरी, रिश्वत, धोखेबाजी, झूठ, आलस वगैरा बुराअियोंसे मुक्त रहना।

जिन लोगोंकी सेवा करनी है, अुनका नैतिक स्तर जब तक अूंचा नहीं अुठता, तब तक बड़े पैमाने पर अुनकी आर्थिक अुन्नतिको असंभव मानना चाहिये। अगर जनताको जीवनका अेक नया संदेश मिल जाय, और वह अपने नैतिक सुधारकी जरूरत समझ जाय, तो तालीम लेने, साफ आदतें डालने, कुछ बातोंमें कोरकसर करने और दूसरींमें अुदार होने, मेहनती और अीमानदार रहते हुअे भी अपना जीवनमान (स्टॅन्डर्ड) अूंचा करने और पूरा मेहनताना मांगनेका आग्रह रखनेके लिअे अुसकी मिन्नत करनेकी जरूरत न रहेगी। नयी दृष्टि पैदा होते ही मनमें बसा हुआ हीनग्रह (inferiority complex) दूर हो जायगा।

२

नयी समझके साथ नयी तरहके कामोंको अुठाने तथा तालीम, नियम पालन वगैराकी जरूरत तो होगी ही। तब चीजों और कामोंकी कीमत नये ढंगसे आंकी जायगी।

पुरानी जीवन-व्यवस्थामें मनुष्योंकी कीमत अुनकी जाति, कुल, शिक्षा, धन-दौलत, अधिकार आदिमें की जाती है। कामकी कीमत काम लेनेवालेकी ताकत और काम करनेवालेकी मुश्किलसे तय होती है; और चीजोंकी कीमत अुनकी कमी और लुभावनेपनसे आंकी जाती है।

नयी जीवन-व्यवस्थामें मनुष्यकी कीमत अुसके चरित्र और जरूरतोंसे ठहराअी जानी चाहिये, तथा कामकी कीमत वह जीवनकी जरूरतोंको पूरी करनेमें कितना हिस्सा देता है, अिस परसे कायम करनी चाहिये; और वस्तुओंकी कीमत ठहरानेके लिअे यह देखना

होगा कि वे जीवनकी पहली जरूरतें हैं या गौण; और जो पहली जरूरतें हो अुन्हें अमूल्य कर दिया जाना चाहिये — यानी वे ज्यादासे ज्यादा आसानीसे सवको मिल सकनी चाहिये।

मतलव यह कि मनुष्यमात्र समान माना जाय। परंतु जो अूंचे चरित्रवाला हो अुसकी साख (क्रेडिट) या प्रतिष्ठा कम चरित्रके आदमीसे ज्यादा हो। तंगी और दु:खमें पडे हुअे आदमी, स्त्री, वच्चे, अपंग और वीमारकी जरूरतोंका ताकतवर आदमीके मुकावले ज्यादा खयाल किया जाय। खुराक, पानी और कपडे जितने हो सकें अुतने सस्ते हों; और अुन्हें पैदा करनेके लिअे की जानेवाली मेहनतकी कीमत दूसरे सव श्रमोंसे ज्यादा मानी जाय। पैसेकी अपने-आपमे (स्वतंत्र रूपमें) कोअी कीमत नहीं हो सकती; यानी अुस पर सूद नही हो सकता। और जमीन पानी और हवाकी तरह ही किसीकी खानगी मिल्कीयत न होनी चाहिये।

यदि अिन सिद्धान्तो पर गांव, संस्थाअें, सहकारी मंडलियां, या दूसरी तरहके तंत्र (organizations) वनाये जायं, तो वे लोगोंके सामने अच्छे नमूने पेश करेंगे।

३

जगत्‌के वडे धर्मोंने व्यक्तिकी जीवन्मुक्ति या विदेहमुक्ति पर (जीतेजी या मरनेके वाद होनेवाले आत्माके मोक्ष पर) और व्यक्तिको दूसरी दुनियामे मिलनेवाले सुखो पर जोर दिया है। नास्तिक भी व्यक्तिको अिस दुनियामें मिल सकनेवाले विपयोंके सुखो पर जोर देते हैं। दोनो व्यक्तिका ही विचार करते हैं।

नयी दृष्टिमें व्यक्ति और समाज दोनोंकी मुक्तिका विचार रहेगा, और अिस दुनियामे स्वर्गको अुतारनेकी कोशिश होगी। यानी वह रोग, तंगी, अज्ञान, विपमता, अन्याय, वैर, स्वार्थ, लड़ाअी, व्यसन, असंयम, वाहरी सत्ताओ और भीतर (दिल)के विकारोंकी गुलामी वगैराका नाश करनेका यत्न करेगी।

पुराने मजहबोंकी यह मान्यता है कि ऊपर बताये हुअे दुःख न हों, अैसी जिन्दगी दुनियामें बसर करनेकी आशा ही न रखनी चाहिये। तंगी, दुःख और मनुष्यका मनुष्य पर जुल्म अिस दुनियामें टल नहीं सकते। अुनका अभाव तो परलोकमें ही हो सकता है। अुन्होंने तो यहां तक कहा है कि अिस दुनियामें जितनी ज्यादा तकलीफें होंगी, अुतना ही दूसरे लोकमें ज्यादा बदला मिलेगा। अिसलिअे जानबूझकर सिर्फ दुःख सहन करनेके लिअे ही दुःख अुठानेके कृत्रिम तरीकोंको भी अुन्होंने कअी बार प्रोत्साहन दिया है। सामाजिक अन्यायों और कुप्रथाओं, दुःखों और रोगों और आदमीके बनाये हुअे रीत-रिवाजों, कानूनों और भेदोंको अज्ञानसे अकसर भगवानके बनाये हुअे समझकर अुन्हें बरदाश्त करते रहनेकी सलाह दी है।

पुराने मजहबोंकी यह समझ अितनी हद तक गलत है अैसा मानना चाहिये।

हमें यह समझना चाहिये कि दुःख ही जहां नियम हो, अैसी दुनिया पैदा करनेका अीश्वरका मकसद हो ही नहीं सकता। लेकिन अज्ञान, व्यसन, अव्यवस्था और कुव्यवस्था बहुतेरे मानव दुःखों और संकटोंके कारण हैं; और चाहे मनुष्य द्वारा निर्माण की गअी हो या कुदरती कारणोंसे हों, जिन्दगीको दुःखभरी करनेवाली शक्तियोंके सामने हमेशा झगड़ते रहना ही मोक्षकी साधना है।

मोक्ष यहीं — अिसी दुनियामें प्राप्त करनेकी चीज है; और वह व्यक्ति और समाज दोनोंके लिअे है। अिस मोक्षका कोअी अन्त नहीं। वह सतत बढ़ता रहनेवाला मोक्ष है। लेकिन जो मनुष्य अुसके लिअे ठीक साधना करता है, अुसे अुसका पूरा-पूरा फल अुसके दिलमें तुरन्त ही मिल जाता है। अुस फलके मानी है चित्तकी शांति और समाधान।

नयी दृष्टिमें :

१. सिर्फ अीश्वरकी ही अुपासना होगी;

२. जीवमात्रका आदर और अुसकी सेवा होगी;

३. अवतारों, पैगम्बरो, गुरुओ तथा अुनकी तस्वीरो वगैराके लिअे आदर हो सकता है, परंतु ओश्वरके वदले या ओश्वरके प्रतिनिधिके रूपमे या ओश्वरकी तरह ही अुनकी अुपासना नही हो सकती। जो पूजा ओश्वरके ही लिअे ठीक हो, वह अुन्हें — भले वे कितने ही पूर्ण और वड़े महात्मा क्यों न हो — अर्पण नही की जा सकती।

४. जिनके लिअे हमारे दिलमें आदर हो, अुनके पास हम आदरभावसे जायें और अुनकी सेवा भी करें, लेकिन अुस आदर और सेवामें यह भाव न होना चाहिये कि हम अुनके आगे नीच, पामर, छोटे और नाचीज आदमी है।

४

तत्वज्ञानकी भापा छोड़कर आलकारिक भापामें कहूं, तो ओश्वर और शैतानके वीच अैसी दुश्मनी नही है, जैसी दुश्मनीकी शास्त्रोंसे हमें कल्पना होती है। कओी वार वे दोनो अेक ही ध्येयके लिअे काम करते पाये जाते हैं। दोनोंके वीच फर्क सिर्फ सावनोका होता है। शैतानको अच्छे साधनोसे ही काम लेनेका आग्रह नही होता। अैसा देखा गया है कि वह वहुत वार वुरे सावनोसे अच्छी चीज पैदा करता है। अिसलिअे सावारण आदमीके दिलमें अुस पर भी गहरी श्रद्धा होती है। दीर्घदृष्टिसे विचारने पर ही शैतानके सयानपन और दृष्टिकी विशालताके वारेमें शक पैदा होता है।

लेकिन दीर्घदृष्टिकी भी अपनी अेक हद होती है। परीक्षाके समय दीर्घदृष्टिवाला मनुष्य भी फिसल जाता है। तुरन्त फलकी नीतिसे समझौता करनेके लिअे तैयार हो जाता है। शैतानके कामोका निषेध करनेकी अुसमें हिम्मत नही होती।

किन्ही भी तरीकोसे काम लेनेके लालचको भी जिन्दगीकी लडाओीका अेक हिस्सा ही समझना चाहिये। अुसमे कभी कभी भूल कर वैठें, तो भी वार वार हमे ओश्वरके पक्षमें ही जानेका प्रयत्न करना चाहिये।

सेवाग्राम, १४-८-'४५ ('कोडियुं') ३६५

३

शास्त्रदृष्टिकी मर्यादा

मैंने अपनी 'व्यवहार्य अहिंसा' शीर्षक लेखमालामें यह लिखा था कि "दुनियाके सब देशों और धर्मोंमें 'भद्र' और 'सन्त' अैसी दो वुनियादी संस्कृतियां प्राचीन कालसे चली आअी हैं। हमारा देश भी अिस वारेमे अपवादरूप नही है।" * जहां तक मुझे पता है, भद्र शब्द किसी भी भाषामें अनादरसूचक नही है। मैंने जिस संस्कृतिका भद्र नामसे परिचय कराया है, अुसके लिअे मेरे दिलमें अनादर नही है। यह प्रकट करनेके लिअे ही मैंने अुसे भद्र कहा है। भद्र संस्कृतिने भी मानव-समाजमे वहुत वड़े वड़े काम किये है, यह वात भी मैंने अपनी लेखमालामें स्वीकार की है। फिर भी भद्र संस्कृतिकी अेक मर्यादा है, जिससे अूपर वह अुठ नहीं सकती। यदि वह अुस मर्यादासे अूपर अुठ जाय, तो सन्त संस्कृतिमें परिणत हो जायगी। भद्र संस्कृतिसे जो अूपर अुठते हैं, वे ही सन्त है।

मेरे अिस कथन पर 'सिद्धान्त' साप्ताहिकके विद्वान् संपादकने आपत्ति अुठाअी है। १० जून १९४१ के अंकमें वे लिखते हैं, "जिन्हें दो वुनियादी संस्कृतियां वतलाया गया है, वे वास्तवमें परस्पर-विरोधी नही हैं। अिन दोनोका मूल, अिन दोनोका आधार, अेक ही है और वह है धर्मशास्त्र।"

दुनियाके सभी धर्मोंके शास्त्रियोंकी रायमें अुनका अपना धर्मशास्त्र ही परम और अंतिम प्रमाण होता हैं। 'नामूलं लिख्यते किंचित्' यह अुनकी प्रतिज्ञा होती है। यानी अुनका यह आग्रह होता है कि किसी भी वस्तुको अुचित या अनुचित ठहरानेके लिअे अपने धर्मशास्त्रसे कोअी-न-कोअी प्रमाण खोजकर निकालना ही चाहिये। अगर अैसा आधार न मिले, तो वह वस्तु मान्य नही हो सकती, चाहे वह कितनी ही वुद्धिग्राह्य और हृदयग्राह्य क्यो न हो।

---

* 'अहिंसा विवेचन', भाग २, लेख २२।

लेकिन अैसी परिस्थितिमें बुद्धि अपनी हार मंजूर करना ज्यादा वक्त तक बरदाश्त नहीं करती। वह कोअी-न-कोअी रास्ता निकालनेकी फिक्रमें रहती है। शास्त्रसे जकडी हुअी बुद्धि अुसके वचनको तोड़कर आगे बढनेकी हिम्मत नहीं करती। लेकिन शास्त्रवचनके नये नये भाष्य लिखनेकी हिम्मत कर लेती है। किसी-न-किसी तरहसे पुराने वाक्योंमें से अपने अनुकूल नये अर्थ निकाल लेती है और फिर अैसा प्रतिपादन करती है कि वह चीज शास्त्र-समत ही है।

अिस प्रकार वे ही श्रुतिवचन और स्मृतिवचन निरीश्वरवादी सांख्यो तथा अद्वैत, द्वैत अेवं विशिष्टाद्वैतवादी वेदांतियों और मीमांसकोंके लिअे आधारभूत होते हैं। वे ही श्रुति-स्मृतियां अस्पृश्यताके स्वीकार और निवारण, दोनो मतोंके विद्वान् शास्त्रियोंके लिअे प्रमाणभूत होती हैं। यावज्जीवन वैधव्य और विधवा-विवाह, स्थायी विवाह और तलाक, मांसाहार और मांस-निषेध, पशुयज्ञ और औषधि-यज्ञ, आदि परस्पर-विरोधी विचार रखनेवाले शास्त्री धर्मशास्त्रोंके आधार पर ही अपने अपने मतोंका समर्थन करते हैं।

कोअी अैसा न समझें कि यह बात हमारे ही देशमें या सिर्फ हिन्दू धर्ममें ही होती है। कुरान या बाअिबलवादी शास्त्रियोंका भी यही रवैया है। बाअिबलका हवाला देकर गुलामीकी प्रथाका समर्थन और विरोध करनेवाले बडे बडे पादरी थे। किसी मौलवीकी क्या मजाल है कि वह कुरानसे परे होकर विचार करनेकी गुस्ताखी करे? अैसी हालतमें अगर किसी बातका समर्थन या निषेध करना हो तो कुरान वगैरा धर्मशास्त्रोंके वचनोंकी अपने अनुकूल व्याख्या करके ही किया जा सकता है।

अिस विचारधाराको माननेवाले धर्मशास्त्रीकी दृष्टिमें कोअी व्यक्ति सिर्फ अिसलिअे सन्त नहीं माना जा सकता कि हमने अपने अनुभवसे अुसे बहुत ही नेक पाया है, बल्कि अिसलिअे कि वैसे पुरुषको सन्त माननेके लिअे धर्मशास्त्रमें प्रमाण मौजूद हैं। नतीजा यह है कि वैदिक धर्मके शास्त्रियोंकी दृष्टिमें अेक जैन महात्मा सन्तपुरुष नहीं हो सकता; क्योंकि वह नास्तिक है। अुसी तरह वेद-धर्ममें पला हुआ

अेक व्यक्ति कितना ही साधु-स्वभाव क्यों न हो, जैन दृष्टिमें वह सन्त नही हो सकता; क्योंकि वह मिथ्या दृष्टिमें पला हुआ है। और न कोअी हिन्दू महात्मा अिस्लाम या अीसाअी धर्मकी दृष्टिमें सत्-पुरुष हो सकता है; क्योंकि वह अुनके पैगम्बरोंका अनुगामी नही है।

जब शास्त्रोंका आश्रय लेनेकी दृष्टि अिस हद तक पहुंच जाती है, तब मेरी नम्र रायमें शास्त्रसे दृष्टि प्राप्त होनेके बदले अन्धत्व प्राप्त होता है, ठीक अुसी तरह जिस तरह कि प्रखर सूर्यकी किरणोंकी तरफ ताकते रहनेसे अन्धत्व प्राप्त होता है।

कअी शास्त्रग्रंथ अवश्य ही बड़े आदरणीय है, लेकिन वे अिस-लिअे आदरणीय नही है कि शास्त्रके नामसे प्रसिद्ध है, बल्कि अिसलिअे कि वे किसी न किसी सत्पुरुष द्वारा लिखे हुअे माने जाते है।

आदि सत्पुरुषका निर्माण किसी शास्त्र द्वारा नही हुआ है, बल्कि आदि सत्पुरुषने ही किसी-न-किसी शास्त्रका निर्माण किया है। और दुनियाके सभी शास्त्रग्रन्थ नष्ट हो जायं, तो भी दुनियामें सत्पुरुष होते ही रहेंगे और नये नये शास्त्रोंका निर्माण होता रहेगा। यदि किसी शास्त्रने किसी सत्पुरुषका बहुमान किया हो या अुसके व्यवहारोंको मान्य किया हो, तो अैसा करके अुसने अुस सत्पुरुष पर मेहरबानी नही की, बल्कि अपनी ही कीमत बढ़ाअी है।

किसी शास्त्रको माननेवाला व्यक्ति अुस शास्त्रमे बड़ा भी हो सकता है और छोटा भी। सर जगदीशचंद्र बसु या सर चंद्रशेखर रामन जैसा कोअी प्रथम श्रेणीका वैज्ञानिक जब किसी दूसरे वैज्ञानिक ग्रन्थका आदर करे या अुसका हवाला दे, तब वह अिस बुद्धिसे हवाला नही देता कि वह अुस ग्रन्थमें लिखी हुअी बातको अिसीलिअे सही मानता है कि वह अुस ग्रन्थमें पाअी जाती है, बल्कि अिस बुद्धिसे कि दूसरे वैज्ञानिकोंका अनुभव भी अुनके अपने अनुभवकी ताअीद करता है। लेकिन विज्ञानके साधारण पंडित, जिन्हें अपना निजका कोअी अनुभव नही है, केवल अुस ग्रंथके आधार पर ही अुस बातको स्वीकार करते है अिसलिअे अुसका प्रमाण देते है। यही बात धर्मशास्त्रों पर भी लागू होती है। श्री ज्ञानेश्वरने 'अमृतानुभव' में अेक

जगह अपना मत बतलाकर आगे लिखा है—"और यही शिवगीता तथा भगवद्गीताका भी मत है। लेकिन अैसा न माना जाय कि शिव और श्रीकृष्णके वचनोंके आधार पर ही मैंने अपना मत बनाया है। अुनके अैसे वचन न होते तो भी मैं यही कहता।"

तुलसीदास और रामदास, नामदेव और तुकाराम, नानक और कबीर ये सभी असलमें वैदिक परपरामें पले हुअे सन्त थे। लेकिन तुलसीदास और रामदासने शास्त्रोंको जितना माना, अुतना नामदेव और तुकारामने नही माना और नानक और कबीर तो अुन्हें पार ही कर गये। सन्तोंकी पहली जोडी भद्र सस्कृतिमें पली हुअी थी और आखिर तक किसी-न-किसी रूपमें अुससे सलग्न रही। फिर भी तुलसीदासजीके राम और वाल्मीकिके राममे कितना अतर है? तुलसीदासजी अपने रामके द्वारा शम्बूकका वध न करा सके और न अुनसे अस्पृश्यता तथा पक्तिभेदके नियमोका पालन करा सके रामदास अिस अूचाअी तक नही पहुच सके। नामदेव और तुकाराम तो भद्रेतर ही थे। नानक और कबीरने साम्प्रदायिक शास्त्रोंका सहारा ही छोड दिया; केवल अुनके सारको ही अपनाया।

और शास्त्रोंको अन्तिम प्रमाण माननें पर भी मनुष्य अपनी विवेकबुद्धि चलानेसे कहा मुक्त होता है? अेक ही शास्त्रके तीन भाष्यकार तीन अर्थ निकालें, जो परस्पर विरोधी हो, तो हरअेक आदमीको अपनी निजकी या किसी गुरुकी विवेकबुद्धिसे काम लेकर अेकको स्वीकार और दूसरेका त्याग करना ही पडता है। मासाहार और मूर्तिपूजाको भी शास्त्र-प्रमाण मिल जाता है तथा मास-वर्जन और मूर्तिनिषेधके लिअे भी प्रमाण मौजूद हैं। हरअेक अपनी अपनी रुचि, सस्कार या विवेकबुद्धिके अनुसार अपने लिअे अेक चीजको ग्राह्य और दूसरीको अग्राह्य मानता है। मतलब यह कि हमारी अपनी या हमारे माने हुअे किसी गुरु अथवा सत्पुरुषकी विवेकबुद्धि ही अमुक शास्त्रको स्वीकार और अमुकको अस्वीकार या कम स्वीकार करती है।

सारांश यह कि विद्वान या सन्त शास्त्रके निर्माता होते है, शास्त्र विद्वान या सन्तके निर्माता नही होते। विद्वान अपनी बुद्धिकी कुशलताके

बल पर विद्वान है; सन्त अपने हृदयकी अुन्नत अवस्थाके कारण सन्त है। सन्तको देखनेके बाद ही किसी शास्त्रकारने सन्तके लक्षण बतलाये हैं। मूल आधार पुरुष है, न कि ग्रंथ। शास्त्रोंकी अिस मर्यादाको समझकर अगर हम अुनका अध्ययन करें, तो वे हमारे जीवनमें सहायक हो सकते हैं; नहीं तो वे जीवन पर भाररूप हो जाते हैं और फिर न केवल कबीर जैसोंको ही, वरन् ज्ञानेश्वर सरीखोंको भी अुनकी अल्पता बतलानी पड़ती है।

('सर्वोदय', सितम्बर १९४१)

४

शास्त्र-विवेक

[मेरे 'शास्त्रदृष्टिकी मर्यादा' शीर्षक लेखको लेकर 'सिद्धान्त' साप्ताहिकने कुछ चर्चा की और 'वादे वादे जायते तत्त्वबोध:' अिस न्यायसे वह चर्चा जारी रखी जाय, अैसी मुझसे अपेक्षा भी की। मेरी अिच्छा अिस तरह चर्चा जारी रखनेकी नहीं थी। फिर भी अपने विचार स्पष्ट कर देना जरूरी था। अिसलिअे मैंने 'सिद्धान्त' में अेक लेख लिख दिया था। अुसीका आवश्यक अंश यहां दिया जाता है।]

"वादे वादे जायते तत्त्वबोध:", अिस सुभाषितमें अर्धसत्य है। श्रीसमर्थ रामदासने अिसका दूसरा अर्धसत्य अिन शब्दोंमें कहा है —"तुटे वाद, सवाद तेथें करावा।" यानी जहां विवाद मिटकर संवाद अुत्पन्न हो, वहीं चर्चा करनी चाहिये। मतलब यह कि वाद किस प्रकारका, किनके बीच, किस वृत्तिमें और किस समय होता है, अिस पर भी अुसमें से तत्त्वबोधका अुत्पन्न होना न होना अवलम्बित है। बुद्धि कितनी ही कुशाग्र क्यों न हो, कुछ सिद्धान्तोंका बोध और चर्चाओंका निर्णय वादसे नहीं होता, अनुभवसे ही होता है; और

अनुभव होने पर ही वाद समझमें आता है। अितना ही नही वल्कि कअी वार अनुभव अुस समय नहीं हो सकता, कालान्तरमें होता है। जैसे यदि कोअी मनुष्य फागुनके प्रारभमें कच्चे आमको चखकर कहे कि अितना खट्टा फल क्या कभी मीठा हो सकता है, तो अुसका यह कहना वुद्धिके विरुद्ध है। लेकिन अुससे चर्चा करनेसे फायदा नहीं होता। अुसे वैशाख या ज्येष्ठ तक मुलतवी ही रखना होगा। अिसी तरह कअी सिद्धान्त और मत, जिनका प्रारभमें तीव्र विरोध हुआ पाया जाता है, कुछ वर्षोंके वाद स्वयसिद्ध सत्योंकी तरह सर्वस्वीकृत हो जाते है और आश्चर्य प्रकट किया जाता है कि अुनके वारेमें भूतकालमें क्यो वहस हुअी होगी। अस्तु।

अिसलिअे शास्त्र, आप्तवाक्य और अनुमान-प्रमाणोंके वारेमें मै जो कुछ सही-गलत राय रखता हू, अुसे पाठकोंके सामने रखकर ही मै सतोप मानूगा। जिस नीरक्षीर न्यायको मै मानता हूं अुस नीर-क्षीर न्यायसे पाठक अुसमें से जो योग्य मालूम हो, अुतना मान्य कर लें और शेप छोड़ दे।

(१) अनुभव ही अंतिम प्रमाण है। 'प्रत्यक्ष' शव्दके वास्तविक अर्थको यदि अच्छी तरह समझ लिया जाय, तो अनुभवको प्रत्यक्ष प्रमाण कहनेमें आपत्ति नही। 'प्रत्यक्ष' से सिर्फ 'अिन्द्रिय-प्रत्यक्ष' ही नही समझना चाहिये। 'अन्त:करण-प्रत्यक्ष' का भी अुसमें समावेश होता है और वह अिन्द्रिय या अन्त.करण योग्य तालीम पाया हुआ, अविकल और अक्लिप्ट होना चाहिये। तथा विपर्यय, विकल्प, अजागृति (अमनस्कता) की वृत्तियोसे परे होना चाहिये।

(२) अनुभवकी मददके लिअे शास्त्र वाक्य, आप्तवाक्य और अनुमान-प्रमाणके लिअे स्थान है। वे या तो साक्षीका अथवा पथ-प्रदर्शकका काम करते है। यानी अुनके जरिये या तो हमारे अपने अनुभवके विषयमें नि.शकता पैदा होती है अथवा अनुभवकी दिशामें हम प्रयाण कर सकते है।

(३) जव तक हमें अनुभव नही हुआ होता अथवा स्वयं अनु-भव करके सिद्ध करनेकी किसी भी कारणसे हमारी तैयारी नहीं होती,

तब तक किसी शास्त्र, आप्तवाक्य और 'कुछ अंशमें' अनुमानको प्रमाण मानकर चलनेमें सलामती मालूम होती है।

(४) अिसलिअे सत्यके बोधमें शास्त्र, आप्तवाक्य और अनुमानका महत्त्वका हिस्सा है और अिसीलिअे वे आदरके योग्य है।

(५) फिर भी, वे तीनो ही गलत भी हो सकते है। गलती दो प्रकारकी हो सकती है: (क) जिन्हे हमने अनुमान माना हो, वे कोरी कल्पनाअे ही हो और अुनका आधार जो शास्त्र अेवं आप्तवाक्य हो वह भी किसीका अनुभव नही, बल्कि केवल कल्पना ही हो। (ख) अथवा अनुभव तो सही हो, पर अुसे भाषा द्वारा प्रकट करनेमें अथवा अुसकी अुपपत्ति लगानेमें दोष हो।

(६) यह संभव है कि कभी कभी अेक ही प्रकारके अनुभवको समझानेके लिअे भिन्न भिन्न अुपपत्तिया दी जायं। सांख्य, वेदान्त, जैन अित्यादि दर्शनभेद, द्वैत, अद्वैत आदि मतभेद, स्मार्त, वैष्णव, अिस्लाम आदि सम्प्रदायभेदके निर्माणका अुपरोक्त गलतियोके अलावा यह भी अेक कारण है। यह कहना गलत है कि 'शास्त्रके अर्थ और धर्ममें भेदका कारण अुच्छृंखल बुद्धि ही है।'

(७) कोअी शास्त्र या आप्तवाक्य अैसा नही, जिसमें नीर-क्षीर-न्याय करनेकी जरूरत न हो।

(८) अिसलिअे हरअेक प्रमाण और हरअेक अुपपत्तिकी जाच अपनी विवेकबुद्धिसे करना सत्यशोधकका कर्तव्य है। 'अमुक अेक मन्तव्यको मैं विवेकबुद्धिके क्षेत्रसे दूर ही रखूगा', अैसी प्रतिज्ञा करनेवालेकी श्रद्धा सद्भाग्यसे सत्य पर ही हो, तो भी वह अमूढ़ नही हो सकता। अुसकी बुद्धि अेक हद तक पहुंच कर कुण्ठित हो जाती है। वह भ्रम-मुक्त और साम्प्रदायिक संकीर्णतासे परे नही हो सकता। 'अीसामसीहको स्वीकार किये बिना मोक्ष नही मिलेगा' अथवा 'मोहम्मद पैगम्बरको स्वीकार किये बिना मोक्ष नही मिलता' अथवा 'अमुक अिष्टदेव, गुरु या ग्रन्थकी शरण लिये बिना मोक्ष नही मिलता'—आदि मान्यताअें और अभिमान अिस तरह बुद्धिको कुण्ठित कर देनेका ही परिणाम

हैं। अिनसे अूपर अुठे विना कोअी पुरुष सत्यको सिद्ध नहीं कर सकता।

(९) विवेकवुद्धिको पैनी — कुशाग्र — करनेके लिअे तर्क-शास्त्रके ज्ञानकी अपेक्षा चित्तशुद्धिकी विशेष जरूरत है। वह अनिवार्य ही है — "नैषा तर्केण मतिरापनेया।"

साराश यह कि अनुभव ही किसी सिद्धान्त या मतका अन्तिम प्रमाण है। विशुद्ध की हुअी विवेकवुद्धि अुसका अनिवार्य शस्त्र है। शास्त्र, आप्तवाक्य, अनुमान आदि अुसके सहायक अुपकरण हो सकते हैं।

('सर्वोदय', दिसम्बर १९४१)

५

धर्म-सम्मेलनकी मर्यादा*

'दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये।
स्वानुभूत्यैकसाराय नम. शान्ताय ब्रह्मणे॥'
(भर्तृहरि, वैराग्यशतक – १)

सन्नारियो और सज्जनो,

भिन्न भिन्न धर्ममतोंमें श्रद्धा रखनेवाले विचारक स्त्री-पुरुषोंका यह सम्मेलन है। अिस प्रकार अेकत्र होकर मित्रभावसे अेक-दूसरेसे धार्मिक संवाद करनेके लिअे आपकी मनोवृत्ति पहले ही से तैयार हो चुकी है। अिसलिअे आपके सामने यह सावित करनेकी जरूरत नहीं रहती कि भिन्न भिन्न धर्मावलंवियोंमें समभाव हो सकता है और होना चाहिये। वैसे समभावका अनुभव करके ही आप यहां आये हुअे हैं।

---

* वर्धाकी धर्म-परिषद्में दिया हुआ व्याख्यान।

तब हमारे सामने विचार करने योग्य यह सवाल नहीं कि हम स्वयं किस तरह दूसरोंके धर्मोंके प्रति समभाव रखें, बल्कि यह है कि जिस तरह हम सर्वधर्म-समभाव अनुभव कर रहे हैं, वैसे ही हरअेक धर्मका व्यक्ति दूसरे धर्मवालोके मतोके प्रति समभाव किस तरह अनुभव कर सकता है?

"किसी भी धर्मको समझनेकी कुंजी अुसके ग्रंथोमें नही, अुसके संतोके पास होती है। किसी भी धर्मका परिपक्व फल अुसके द्वारा निर्माण किया हुआ सतपुरुप है, और वही अुस धर्मके विषयमें प्रमाण-रूप है, न कि अुसके ग्रंथ या अुन ग्रंथोंका अध्ययन करनेवाले विद्वान्। अैसे संतपुरुपकी पहिचान अुसके हृदयसे होती है, न कि अुसके शास्त्राभ्यास, कर्मकाड या प्रचार-कार्यसे।" अैसा श्री जाजूजी ने कहा है।

जब हम भिन्न भिन्न धर्मो द्वारा पैदा किये हुअे संतोंके हृदयकी ओर देखते हैं, तो हम अनुभव करते हैं कि सब धर्मोंका परिपक्व फल मोटे तौरसे समान ही होता है।

"वैष्णव जन तो तेने कहीअे जे पीड पराअी जाणे रे;
परदुःखे अुपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे. ध्रुव०
सकल लोकमां सहुने वंदे, निन्दा न करे केनी रे;
वाच काछ मन निश्चळ राखे, धन धन जननी तेनी रे. १
समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी, परस्त्री जेने मात रे;
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे. २
मोह माया व्यापे नही जेने, दृढ वैराग्य जेना मनमां रे;
रामनाम शुं ताली लागी, सकल तीरथ तेना तनमां रे. ३
वणलोभी ने कपटरहित छे, काम क्रोध निवार्या रे;
भणे नरसैयो तेनु दरशन करतां, कुल अेकोतेर तार्यां रे." ४

* * *

"जे कां रंजले गाजले, त्यासि म्हणे जो आपुले॥
तोचि साधु ओळखावा, देव तेथेची जाणावा॥
मृदु सबाह्य नवनीत, तैसें सज्जनांचें चित्त॥
ज्यांसि आपगिता नाही, त्यासी धरी जो हृदयीं॥

दया करणें जे पुत्रासी, तेचि दासा आणि दासी ।।
तुका म्हणे सागू किती, तोचि भगवंताची मूर्ति ।। "

*   *   *

"दया राखि धर्मको पालै, जगसो रहे अुदासी।
अपना-सा जीव सवको जानै, ताहि मिलै अविनासी।
सहे कुशब्द वादको त्यागे, छाडे गर्द गुमाना।
सत नाम ताहिको मिलिहै, कहे कवीर सुजाना।"

मतलव यह है कि 'अद्वेष्टा सर्वभूताना मैत्रः करुण अेव च' आदि जो लक्षण गीताके १२ वें अध्यायमें वताये गये हैं, अुनके अनुरूप जगत्में आचार-व्यवहार होना यह धार्मिकताका परिपक्व फल है। अिस पर सव धर्म सहमत हैं और अैसा कोअी देश या राष्ट्र नही है, जिसमे अैसे सत्पुरुष पैदा न हुअे हो या नही हो सकते। वे विना अपना धर्म छोड़े अुसका अत्यन्त दृढता और आस्थाके साथ पालन करके ही अैसी साधुताको पाते हैं। और अिस साधुतामें से अेक अैसी ज्ञाननिष्ठा पैदा होती जाती है, जिसकी वदौलत अुनमें यह भाव नही रहने पाता कि अुनका ही देश, जाति, धर्म, सभ्यता, भाषा, रीति-रिवाज आदि सवसे श्रेष्ठ है, वे ही सत्य या सपूर्णता तक पहुचे हुअे हैं; सवके लिअे अुनका स्वीकार अपरिहार्य है; वे ही अीश्वरको अधिक मान्य या प्रिय हैं तथा अुनमें कही पर भी सुधारके लिअे गुजाअिश नही है; और दूसरे सव देश, जाति, धर्म आदि अुनसे न्यून हैं। जिस समाजमें वे वसते हैं, अुसमे अुत्पन्न हुअे अपने कर्तव्योका और अुस समाजके निर्दोष रीति-रिवाजोका वे वरावर पालन करते हैं। फिर भी अुनके मनमें यह अभिमान नही अुठता कि अितर समाजोकी अपेक्षा अुनका समाज और अुसकी सव वातें कुछ अलौकिक और दिव्य हैं। सच तो यह है कि मानव-समाजकी धर्म-रूप सव नदिया अेक ही पहाडसे निकली हुअी है, और सव अेक ही समुद्रकी ओर वह रही हैं। अेक नदी मार्गमें कही छिछली मालूम होती है, कही निर्मल होती है, तो कही गदी भी होती है। दूसरी नदियोका भी यही हाल है, लेकिन कुछ दूसरे ढगसे। फिर भी साधारण तौर पर सवका पानी

अेकसा है, अुपयोग अेकसा है और अन्त भी अेकसा है। गंगा और नाअिल, टेम्स और राअिन, युफ्रेटिस और मिसिसिपी सभी विशाल महासागरमें मिलती है। अिसलिअे अुनमें से किसी अेकको पवित्र और पाप धोनेवाला तीर्थ समझना और दूसरीको पानीका मामूली प्रवाह समझना — अिस तरहके भेद-भावको सत-हृदयमे स्थान नही मिलता। वल्कि —

"अिक नदिया अिक नार कहावत, मैलो हि नीर भरो।
जब दोअु मिलकर अिक वरन भये, सुरसरि नाम परो।।"

अैसा माननेकी ओर अुनके मनका झुकाव रहता है। यानी थोड़ा-वहुत मैल है, अैसा देखकर भी अुनके मनमे यह भाव नही अुठता कि वह घृणापात्र ही है। तव वे किसीसे यह कैसे कहे कि तुम गगाजी द्वारा ही समुद्र तक पहुच सकोगे, और नाअिल या युफ्रेटिस द्वारा वीचमें ही डूव जाओगे? वे कहते है कि जिसको धर्मकी नदियो द्वारा समुद्रको पाना है, अुसके लिअे गंगा या टेम्स वड़े महत्त्वकी चीज नही है; अुसकी अपनी नाव ही महत्त्वकी चीज है। वह नाव मजवूत हो तव तो सव कुशल है, नही तो सभी नदिया खतरनाक है। वह नाव है अुसका अपना अेकनिष्ठ भाववल और आत्मशुद्धि। यह भाववल और आत्मशुद्धि अुसके पास हो, तो फिर अिसकी कोअी फिक्र नही कि अुसने गीता पढी है या सिर्फ कुरान या वाअिवल। सिर्फ रामका ही नाम लिया है, या सिर्फ वुद्ध, तीर्थंकर, औसा या पैगम्वरका। अितना ही नही, अुसने गीता, कुरान या कुछ भी न पढा हो, न रामका या किसी तीर्थंकर, पैगम्वर, या मसीहका ही नाम सुना हो, तो भी चिन्ता नही। और अगर वह वहिरा और गूगा होनेके कारण अीश्वरको कोअी नाम देने और या अुसका नाम लेनेमे और कोअी धर्मग्रथ पढ़ने और सुननेमे असमर्थ हो, तव भी अगर अुसके पास अेकनिष्ठ भाववल और आत्मशुद्धिकी प्रवल अिच्छारूपी नाव है, तो अुसके लिअे फिक्रका कोअी कारण नही है। दूजके चांदको कभी कभी हम स्वयं ढूढ नही सकते, लेकिन जिसने अुसे किसी तरहसे या अित्तिफाकसे ही देख लिया है, वह हमें अुसे वताता है। लेकिन यह वात तो नही है कि अुस

सहायकने चद्रको वहा लाकर रख दिया है। अगर अैसा सहायक न मिले, तो हमारे लिअे चंद्र-दर्शन करना असभव है अैसा तो हम कह ही नही सकते। अिसी तरह तीर्थंकर, पैगवर, मसीह, आत्मज्ञानी, सद्गुरु और अुनके धर्मग्रथ ओश्वरको पानेमें सहायक होते हैं। लेकिन यह वात तो नही कि अुन महात्माओने या अुनके धर्म-ग्रथोने ओश्वरको पैदा किया है, और अिसलिअे जिसे वे किसी कारणसे अलभ्य हैं अुसे ओश्वरप्राप्ति हो ही नही सकती। जव सत्पुरुष सव धर्मोंके विषयमे समभाव प्रकट करते है, तव अुनके कहनेका वही मतलव होता है, जैसा कवीरजीने कहा है :—

"मो को कहा ढूढे वन्दे, मैं तो तेरे पासमें ।।
ना मैं देवल, ना मै मसजिद, ना कावे कैलासमें।
ना तो कोअू क्रिया कर्ममें, नही जोग वैरागमें ।।
खोजी होय तो तुरते मिलिहै पलभर की तलाशमें।
कहे कवीर सुनो भाअी साधो, सव सासोकी सासमें ।।"

अेक भक्तने गाया है —

"अजव तेरा कानून देखा खुदाया!
जहा दिल दिया फिर वही तुझको पाया ।।
न यहा देखा जाता है मदिर औ' मसजिद।
फकत यह कि तालिव[1] सिदक[2] दिलसे आया ।।
जो तुझ पै फिदा दिल हुआ अेक वारी।
अुसे प्रेमका तूने जलवा[3] दिखाया ।।
तेरी पाक सीरत[4] का आशिक हुआ जो ।।
वही 'रग रगा फिर जो तूने रगाया।
है गुमराह जिस दिलमे वाकी खुदी है।
मिला तुझसे जिसने खुदीको गवाया ।।
हुआ तेरे विश्वासीको तेरा दरसन।
गदा[5] को दुरे[6] वे-वहा[7] हाथ आया ।।"

---

१. शोधनेवाला, २. सच्चा, ३. वैभव, ४. स्वभाव, ५. फकीर, ६. मोती, ७. कीमती

और अिस दृष्टिसे सतोने बार वार दृष्टान्त देकर गाया है कि—

"चरणस्पर्श परम पद पायो गौतम ऋषिकी नारी
गणिका शबरी अिन गति पाअी वैठ विमान सिधारी।"

*　　　*　　　*

"गज अरु गीध तारि है गणिका कुटिल अजामिल कामी
यही साख श्रवणे सुनि आयो चरण शरण सुखधामी।
मै तो विरद भरोसे वहुनामी॥"

*　　　*　　　*

"किव सच्यारा होअिये किव कूडै तुटै पालि?
हुकम रजाअी चलणा, नानक लिखिया नालि।"

मतलव यह है कि अगर अीश्वरकी पहचान ही जीवनका साध्य हो, तव तो अनन्य भावसे शरणागति और आत्मशुद्धिको छोडकर धर्मकी दूसरी सव वाते गौण हो जाती है। और अगर वह (अीश्वरकी पहचान) जीवनका साध्य नही है, तो धर्मके नामसे प्रचलित मंतव्य, विधियां, रीति-रिवाज आदिका अुसी तरह विचार करना चाहिये, जैसे मनुष्योकी राजनीतिक, आर्थिक सामाजिक वगैरह संस्थाओके वारेमें किया जाता है। यानी यह नही कहा जा सकता कि कोअी खास सस्था, मंतव्य, विधि, रीति-रिवाज आदि अीश्वरप्रणीत है और अुनमे कभी कुछ परिवर्तन नही किया जा सकता।

यदि हम जगत्‌के संतोकी ओर देखे, तो हमे अुनमे दो प्रकारके व्यक्ति दिखाअी देगे। अेक तो वे, जिन्होने अपने जीवनका साध्य सिर्फ अीश्वर-प्राप्तिको ही वना लिया और अुसे अपने लिअे सिद्ध कर लेनेके वाद केवल अुन्हींके जीवनमे रस लिया, जो अुनकी तरह सिर्फ अीश्वर-प्राप्तिके ही कायल थे। अिन्होने धार्मिक मंतव्योमें या दूसरे प्रकारके मंतव्योमे सशोधन करनेकी वहुत प्रवृत्ति नही की। और कुछ की भी, तो अेक-दो छोटी छोटी वातोमें। अिन मन्तव्यो, विधियो आदिके विपयमे अुन्होने कभी तो अुपेक्षाका भाव दिखाया अथवा अुनको महत्त्व देनेवालोको फटकार भी सुनाअी और कभी

अुनको ज्योंका त्यों आदरपूर्वक निभाया। साधारणतया, जिन्हे हम सत के नामसे पहचानते है, अुनमें से अधिकतर अिस प्रकारके थे। अुदा० तुकाराम, अेकनाथ, नरसिंह मेहता, मीराबाअी आदि। अैसे ही सन्त दूसरे धर्मोमें भी हो गये हैं।

लेकिन, अेक दूसरे प्रकारके भी सन्त हो गये हैं, जिन्होने केवल अनन्य साधकोंके जीवनमें ही रस नही लिया, वल्कि अपने समाजके दूसरे पामर और पुण्यशाली दोनो तरहके मनुष्योंके जीवनकी ओर ध्यान दिया। मालूम होता है कि अुन्होने यह सोचा कि यद्यपि अीश्वर-प्राप्ति ही जीवनका अेकमात्र साध्य है, और जाने–अनजाने सब मानव अुसीकी तरफ वहे जा रहे हैं (क्योंकि अुसीमें तो अुनका जीवन है), फिर भी अधिकाश मानवोंको यह समुद्र अितना दूर प्रतीत होता है कि वह मानो अुनके जीवनका ध्येय ही न हो, और अुनका ससारी जीवन यानी अुनके धर्म, अर्थ और काम ही ध्येय हो। अिसलिअे अिन महापुरुषोंने अपने समाज और कालकी धार्मिक, आर्थिक, राजकीय, सामाजिक आदि सब सस्थाओ तथा मतव्यो, विधियों, रीति-रिवाजों आदिका भी संशोधन करनेके लिअे अुनमें हस्तक्षेप किया। परिणाम यह हुआ कि ये लोग नये नये समाजोंके आदि पुरुष वन गये। वुद्ध, महावीर, कन्फ्यूशियस, मूसा, अीसा, मुहम्मद, गोविंदसिंह, ल्यूथर आदि अिसी प्रकारके महापुरुष हो गये। और गाधीजी भी वर्तमान कालमें अिसी श्रेणीके युग-प्रवर्तक है। अलवत्ता यहा पर अेक अैतिहासिक सत्य कहनेका अथवा अिन सवकी तुलना करनेका या समानता वतानेका दावा मैं नही करता। सभव है कि अिनमें से कअी महापुरुष पहले प्रकारके ही संत हो, और अुनके शिष्योंके काम अुनके नाम चढा दिये गये हो। लेकिन यह तभी हो सकता है, जव अुनके कुछ अैसे शिष्य भी रहे हो, जो केवल अीश्वराभिलाषी नही थे वल्कि धर्म, अर्थ, कामके अभिलाषी भी थे और अुन्हे सुनाये हुअे अुपदेशोंमे भिन्न समाज-रचनाका कुछ वीज डाला गया हो। मतलव, अिन पुरुषोंके और अुनके शिष्योंके द्वारा जिन नदियोंके जरिये मानव-जाति समुद्रकी ओर जाती है, अुन नदियोके प्रवाह और पानीको सुधारने अथवा अुनमें से नहरे निकालनेका

अितना बलवान प्रयत्न हुआ कि कअी बार बिलकुल नअी नदियां या वेगवान नहरें बहने लग गअी। अनेक धर्मों, अेक अेक धर्ममें विविध पंथों, अनेक प्रकारकी सभ्यताओं तथा राजकीय, आर्थिक, सामाजिक संस्थाओं, छोटे-मोटे भेद रखनेवाले विविध कर्मकांडों, रीति-रिवाजो आदिकी अुत्पत्ति अिसी तरह हुअी है।

जहां किसी धर्मकी अनेक बातोंको प्रमाण मान कर, कुछ विषयोंमें ही परिवर्तन किया जाता है अुसे हम 'पंथ' कहेंगे। जहां किसी पुराने धर्मके प्रमाणको अमान्य करके नया मार्ग चलानेका प्रयत्न हो, अुसे हम 'नया धर्म' कहेंगे।

अिन सबके अुत्पादन तथा सचालनमे विविध स्वभाव और रुचिके लोगोंने हाथ बंटाया है। यह नही कहा जा सकता कि वे सब शुभ वृत्तिके ही आदमी होंगे। अिसलिअे अिस नतीजे पर आना पड़ता है कि किसी भी धर्मको परिपूर्ण, शुद्ध और केवल मोक्षदायी नही कहा जा सकता। सबमे अनेक दोष पैठे हुअे हैं। कुछ दोष मामूली और अुपेक्षा करने लायक हैं। कुछ बड़े गंभीर हैं। सब धर्मोंमें धर्मके ही नाम पर दक्षिण और वाममार्ग भी बन गये हैं।

साथ ही साधारण मनुष्य-स्वभावकी यह अेक मर्यादा है कि वह अपने देश, धर्म, जाति, भाषा आदिके गुणोंको ही देख सकता है। अुसके अवगुण या तो अुसे दीखते ही नही, अथवा गुणरूप ही प्रतीत होते हैं, अथवा बहुत अुपेक्ष्य लगते है, अथवा वे कुछ नासमझ लोगोंकी त्रुटियां हैं, अैसा समझकर वह संतोष मान लेता है। लेकिन दूसरोंके देश, धर्म आदिके दोषो पर ही अुसकी नजर पड़ती है और वे अुसको पहाड़से मालूम होते हैं, जिनकी अंधेरी छायामें अुनके गुण नहींके बराबर हो जाते हैं।

अैसी अवस्थामें सर्व-धर्म-समभावके मानी क्या हो सकते हैं? अुदाहरणार्थ, प्राय: मिशनरी लोग और बहुतसे मुसलमान, तथा हिन्दू सम्प्रदायोंके भी कुछ अनुयायी पूछते हैं कि जिस धर्म या पंथमें अनेक देव-देवियोकी पूजा की जाती है, डरावने आकारके यक्ष-राक्षस-भूत-प्रेत-पितर-महामारी-शीतला आदिमें श्रद्धा रखी जाती है, निर्दोष प्राणियोंकी

वलि चढ़ाअी जाती है, या पंच मकारका भी धर्मके नाम पर सेवन किया जाता है, या दूसरे धर्मवालोंके साथ दुष्ट व्यवहार करनेका अुपदेश अीश्वरके नाम पर दिया जाता है, अुसके प्रति हम अुतना ही आदर किस तरह अनुभव करें, जितना कि हम अपने धर्मके लिअे रख सकते हैं — जो अेकेश्वर भक्ति, अहिंसा या पवित्र चरित्रके अूपर स्थित है? और अगर हमारा अुस धर्मके प्रति समभाव न रख सकना दोष न हो, तो क्या हमारा यह अेक स्वाभाविक कर्तव्य नहीं हो जाता कि हम अुन मान्यताओंमें जकडे हुअे लोगोंको अुच्चतर धर्मका अुपदेश दें?

धार्मिक राग-द्वेष और धर्मान्तरकी प्रवृत्तिके मूलमें ये दो प्रश्न हैं।

अिस विषयमें मेरे विचार अिस प्रकार हैं:—

जिस व्यक्तिका अेकमेव स्थिर अुद्देश्य अीश्वर-समुद्रको ही पानेका है, अुसके रास्तेमें अुसका जन्मप्राप्त धर्म या पथ, फिर वह कोअी भी क्यों न हो — रुकावट नहीं डालता। क्योंकि अुसकी सिद्धिके लिअे अेकनिष्ठ भाववल ही अनिवार्य शर्त है। अगर वह नहीं है तो किसी भी धर्म या पंथके द्वारा अुस साध्यको नहीं पहुंचा जा सकता। जिसे प्राणियोंकी वलि चढ़ाअी जाती है, अुस दुर्गा-कालीकी अुपासना द्वारा अेकनिष्ठ भाववलयुक्त श्री रामकृष्ण परमहंसको या रास्तेसे पत्थर अुठाकर सिंदूरसे अुसकी पूजा करनेवाले किसी अेकनिष्ठ भीलको भी मोक्ष मिल सकता है। लेकिन अैसी अेकनिष्ठाके विना हरी पत्तीको भी न तोडनेवाला अहिंसक भिक्षु अज्ञानमें भटकता रह सकता है। अिसकी वजह यह है कि जो अेकनिष्ठ भक्त है वह अपने भाववलसे सव अशुद्ध मान्यताओं और कर्मकांडोंसे आप ही परे हो जाता है। 'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते' (गीता ६–४४)। और जव अुसमें न्यूनता होती है, तव वह वाह्य कर्मकांडोंमें ही चक्कर काटता रहता है, और आगे नहीं वढ पाता।

फिर भी धर्म या पथके संस्कारोंका मनुष्यमें अेकनिष्ठ भाव पैदा करनेमें तथा अेकनिष्ठ भक्तमें भी अनेक मनुष्योचित सद्गुणोंका विकास

करने और अुन्हे पोषनेमे महत्त्वका हिस्सा होता है। अिसलिअे अुसके गुण-दोषोंका विचार अप्रस्तुत नही है। अिन गुण-दोपोका परिणाम धीरे धीरे ध्यानमे आता है और कम या ज्यादा समयके वाद वे वड़े व्यापक और महत्त्वके वन जाते है। अिसलिअे किसी भी धर्म और पंथके आचार, विचार आदि सशोधनसे परे कभी नही हो सकते। यही वजह है कि दुनियामे हरअेक धर्ममें नये नये पथ और कभी कभी नये नये धर्म भी पैदा होते आये है। यह क्रिया रोकी नही जा सकती। और जव अुसे रोका नही जा सकता, तव अैसे संशोधनकी जरूरत समझनेवाले और न समझनेवालोके वीच कुछ न कुछ सघर्प पैदा हो ही जाता है। अिन दो दलोके आचार-विचारोके वीच जितना अधिक अन्तर होगा, अुतना ही संघर्षका भी ज्यादा तीव्र होना सभव है। यह भी नामुमकिन है कि जो संशोधनकी जरूरत महसूस करते है, वे अुसका प्रचार न करे। यही धर्मान्तर या परिवर्तनकी प्रवृत्ति शुरू हो जाती है। क्या हिन्दू-धर्ममे पैठी हुअी अूच-नीचकी वर्णभावना, अस्पृश्यभावना आदिको हटानेके आन्दोलनसे गाधीजीको रोका जा सकता है? अगर नही रोका जा सकता, तव तो जो अिस सशोधनकी जरूरत महसूस नही करते, अुनकी तरफसे विरोध होगा ही। अैसे प्रसंगोमें अगर सुधारक मजबूत हो, तो धीरे धीरे पुराना मत मिटता जाता है। अगर वह अुतना मजबूत न हो, तो दो पंथ अुत्पन्न हो जाते है। और अगर वह निर्वल ही हो, तो स्वय मिट जाता है। अिस्लाम शायद पहले प्रकारके संशोधनका अुदाहरण है। अरवस्तान, ओरान आदि देशोमे अुसने वहाके पुराने धर्मोको नामशेप कर दिया। कवीर, स्वामी दयानन्द आदिके सशोधन दूसरे प्रकारके है। वे हिन्दू-धर्मके सुधारक पंथ वनकर रह गये। अिसी तरह प्रोटेस्टेंट आदि पंथ रोमन कैथोलिक पंथको नामशेप नही कर सके — अीसाअी धर्मको सिर्फ पंथोमे विभक्त करके रह गये। जव नये पंथका वल अधूरा होता है, तव पुरातनी और नूतनियोका संघर्प रेलके मुसाफिरो जैसा होता है। नया मुसाफिर डिव्वेमे आने लगता है, तव अुसका सव पुराने मुसाफिर तीव्र विरोध करते है; लेकिन अगर वह किसी तरह घुस

ही जाता है, तो फिर पहले यात्री अपने दिलको मना लेते हैं। अितना ही नहीं, वल्कि अुसके लिअे जगह भी कर देते हैं। अिसी तरह जब सुधारक वलवान प्रतीत होता है तब अुसका पंथ भी भले ही चले, अिस वृत्तिसे पुरातनी अुससे समझौता कर लेते हैं और अेक-दूसरेसे झगड़ते नहीं। अिस तरह आज कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट, सुन्नी और शिया, स्मार्त और वैष्णव, सनातनी और आर्य-समाजी अेक-दूसरेसे क्वचित् ही लड़ते झगडते हैं।

मानव-स्वभाव और धर्म वगैरह मानवी संस्थाओकी अैसी त्रुटि-पूर्ण दशामें जो जो लोग हमारी तरह मनुष्य-मनुष्यके बीच शांति, प्रेम, समझौता और साथ ही संस्थाओका सुधार भी चाहते हैं, अुनकी कैसी मनोवृत्ति और क्या फर्ज होना चाहिये? मेरे विचारसे अगर हम नीचे बताये हुअे विचारो पर अेकमत हो, तो हम सर्व-धर्म-समभावके साथ साथ धर्मोंकी संशुद्धिका प्रयत्न भी कर सकते हैं :—

१. मनुष्य जाति जिन विविध धार्मिक और सामाजिक संस्थाओ-वाले समाजोमे विभक्त हो गअी है, अुन सबका किसी न किसी प्रकारकी वास्तविक या काल्पनिक आवश्यकताओमे से अुद्‌भव हुआ है। संभव है कि अिनमे से कुछ संस्थाओकी पूर्णरूपमे अथवा किसी अंशमें आज अुपयुक्तता न रही हो और अुनका परस्पर मेल भी टूट गया हो। फिर भी जिन विविध परिस्थितियोमें मानव-जीवन निर्माण हुआ है और संकलित है, अुनकी वजहसे लोगोकी स्वाभाविक मनोवृत्ति अुन संस्थाओको छोड़ने और अुनमें परिवर्तन करनेके बारेमें मंद होती है। अगर प्रचलित संस्थाओका थोडा भी अुपयोग वे महसूस करते हैं, तो अुतने ही से संतोष माननेकी लोक-वृत्ति होती है। अिसलिअे जहां हमें अपनेसे अत्यंत भिन्न प्रकारके आचार-विचार दीख पड़ते हैं, वहां हमे अपनी दृष्टिसे नही लेकिन अुन लोगोकी दृष्टिसे अुन आचार-विचारोकी तरफ देखना चाहिये और जिन वास्तविक या काल्पनिक जरूरतोको वे पूरी करते हैं अथवा करते थे, अुनको खोजना चाहिये। वैसी ही वास्तविक या काल्पनिक जरूरत हम किन आचार-विचारो द्वारा पूरी करते हैं, यह भी देखना चाहिये। अपने आचार-विचारोको

निष्पक्ष वुद्धिसे और दूसरेके आचार-विचारोको सहानुभूतिपूर्वक समझनेके प्रयत्नसे हम दोनोका वास्तविक मूल्य आंक सकेंगे। और अक्सर अिस खोजमे से पता चलेगा कि अुभय पक्षोमें कुछ गुण है, कुछ दोष है, कुछ वास्तविक महत्त्व है, और कुछ काल्पनिक हो तो भी संतोषदायी लक्षण है। जहां यह मालूम होगा, वहां अपने ही आचार-विचारोको सर्वश्रेष्ठ समझने या अुन्हीको प्रस्थापित करनेका हमारा आग्रह शिथिल हो जायगा।

२. जव अैसी समालोचनामे हमको यह साफ दिख पड़े कि हमारे और दूसरोंके कुछ आचार-विचारोमें परस्पर विरोव ही है और अगर अेक सत्य हो तो दूसरा असत्य ही हो सकता है, तव हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम शुद्ध सत्यान्वेषणकी दृष्टिसे छानवीन करे कि अिनमें कौनसे आचार-विचार सत्य है? और कौनसे सर्वथा असत्य ही है? अगर हमारे ही पक्षमें असत्य हो, तो हम स्वयं तो अैसे आचार-विचारोंको छोड़ ही दें। हमारे आचार-विचार असत्यकी वुनियाद पर रचे गये हों तो खुद अुनका त्याग करनेके वाद और यदि दूसरेके हों तो पहलेसे ही हम अुनपर ज्यादा गहराअीसे विचार करके हम अिस वातकी खोज करें कि अुन आचार-विचारोसे किस प्रकारका और किसका नुकसान होता है, और किसको अनुचित लाभ होता है? हमारी तारतम्य वुद्धि भी अिसमें काम करेगी ही। जव तक हम यह न देखें कि हमने अपने जिन आचार-विचारोंको असत्य पाया है, अुनसे किसी मनुष्यको या प्राणीको पीड़ा या नुकसान पहुंच रहा है, तव तक हम अुन विपयो पर मनुष्य-मनुष्यमे कलह पैदा करनेवाली कोअी प्रवृत्तिको न करे। सिर्फ जव ठीक मौका मिले तव अत्यन्त सहृदयता और साम्यभावसे जनताकी वुद्धि और हृदय पर अुन आचार-विचारोंके संस्कार डालें जो हमें सत्य या शुद्ध प्रतीत होते हों।

३. लेकिन जव हम स्पष्ट रूपसे यह देखें कि हमारे या दूसरोंके आचार-विचार न केवल अशुद्ध या असत्य ही है, वल्कि अुनके कारण हमारे या दूसरे समाजके मनुष्य या प्राणियोंको पीड़ा या नुकसान पहुंचता है, जो कि हमारी सहृदयताके लिअे असह्य हैं, तव सत्र

सत्याग्रही साधनों द्वारा अुनका अुन्मूलन करनेकी कोशिश करना हमारा कर्तव्य हो जाता है। अैसा करनेमें कुछ कलह पैदा होना संभव है। वहां हम निरुपाय हैं। यदि हमारा वर्ताव शुद्ध सत्याग्रहीका हो, तो अन्तमें समाजके लिअे शुभ परिणाम ही होगा। विरोध-कालमें हमे तकलीफ जरूर होगी। परन्तु सत्याग्रहीको अुसे बरदाश्त ही करना होगा।

४. जिस वक्त सत्याग्रही अपने या दूसरोंके असत्य और अशुद्ध आचार-विचारोका तीव्र विरोध करता हो, अुस वक्त भी वह अतिशयोक्ति न करे, मर्यादाका अुल्लघन न करे। यानी खास असत्य आचार-विचारोंका ही खंडन करे, सारी संस्था या समाज पर आक्षेप न करे और न अुनका मजाक अुड़ावे और जो कुछ अुसमें सत्य और शुद्ध हो, अुसके प्रति आदरभाव रखनेमे कसर न करे।

५. सर्व-धर्म-समभावी दूसरोकी निर्दोष विशिष्टताओका खंडन या अुपहास न करेगा और क्षंतव्य त्रुटियो पर झगड़ा पैदा न करेगा। अेक ढाचेमें ढले हुअे पदार्थोंकी तरह सारी मानव-संस्थाओको समानरूप वनानेकी वह मिथ्या अभिलाषा न रखेगा।

६. वह अपने आचार-विचारमें कृत्रिमता भी दाखिल न करेगा। वह अपनी अेकनिष्ठ अुपासना और निरुपद्रवी आचार न छोड़ेगा। सर्व-धर्म-समभाव बताने या सिद्ध करनेके लिअे वह आज हिन्दू, कल मुसलमान और परसो ओसाअी बननेका प्रयत्न न करेगा।

राम और कृष्णमे भेद-बुद्धि न रखते हुअे भी तुलसीदासने रामकी ही अुपासना की और सूरदासने कृष्णकी ही। अैसी अेकविध भक्ति सर्व-धर्म-समभावकी विरोधिनी नही है।

७. मे अिस प्रकारके सर्व-धर्म-समभावको नही मानता, जिसमें परस्पर प्रशसा की ही अपेक्षा रखी जाती हो। अिससे परस्पर सच्ची मैत्री निर्माण न होगी। वे दो व्यक्ति सच्चे अर्थमें मित्र नही है, जो अेक-दूसरेकी त्रुटियोको देखते हुअे भी अुन्हे साफ साफ कह देनेमें भय महसूस करते है, और केवल अेक-दूसरेकी स्तुतिको ही अपना कर्तव्य बना लेते है। न वे दो व्यक्ति ही मित्र हो सकते है, जो

अेक-दूसरेके गुणोंकी कद्र नही कर सकते, और त्रुटियां वताना ही अपना फर्ज मान लेते हैं। मित्रता तभी होती है, जव सामनेवाला हमारे हृदयमें प्रेम और निर्भयताका अनुभव करता है। तव कटु वचन भी मीठे लगते हैं।

सारांश यह है कि—

(१) अीश्वर-प्राप्ति संप्रदायोंसे परे है। वह सप्रदायों या पंथोमे नही है, वल्कि अेकनिष्ठ भाववल और चित्त-शुद्धिमे है, जो हृदयकी चीजे हैं।

(२) साम्प्रदायिक प्रणालिकाअें मनुष्यमे अेकनिष्ठ भक्ति और हृदयके विकासके संस्कार डालनेमें अुपयुक्त हो सकती हैं।

(३) लेकिन सव प्रणालिकाअें मानव-निर्मित ही हैं, अिसलिअे वे संपूर्ण शुद्ध न हो पाती हैं और न रहने पाती हैं। अिसलिअे अुनमें हमेशा सुधार होना चाहिये।

(४) वह संशोधन सत्याग्रहसे ही सफलतापूर्वक हो सकता है। सत्याग्रह भी हृदयकी वृत्ति है, न कि वुद्धिकी। क्योकि विना समभावके कोअी सत्याग्रही हो ही नही सकता। अिसलिअे सर्व-धर्म-समभाव हृदयोका मेल है, सांप्रदायिकोंका समझौता या अिकरार नही है।

(५) जहा सशोधनके कर्तव्य और प्रयत्नका स्वीकार है, वहां नया धर्म या पथ पैदा होना भी संभव है। अगर वह संशोधन और अुसका प्रचार शुद्ध सत्याग्रही पद्धतिसे हो, तो आखिरमें जिनका अुनसे सवध है अुन सवको अुसे मान्य करना ही होगा। वीचके समयमें कम-ज्यादा संघर्ष हो सकता है। वह अनिवार्य जानकर सत्याग्रही अुसे सहन करेगा। अगर वह सत्याग्रहके तरीकोंको न छोड़ेगा, तो अुससे किसीका अहित न होगा।

(६) सर्व-धर्म-समभावी होते हुअे भी सत्याग्रही चापलूसीमें नही पड़ सकता। वह दिखावेके लिअे दूसरे धर्मोका आचरण न करेगा। जो वाते अुसे मंजूर न हो, अुनका समर्थन करनेकी जिम्मेदारी अपने अूपर न लेगा। कर्तव्य पैदा होने पर अपनी या दूसरेकी जो वातें अुसे असत्य लगती हों अुनका निषेध भी करेगा।

ये मेरे विचार हैं। क्या आप सबको ये मान्य हो सकते हैं?

लेकिन, अिन पर हम सबकी अेकराय हो या न हो, हम सब जो सत्यसमाजके शुभ संकल्पसे यहा अिकट्ठे हुअे हैं, अितना तो जरूर करें कि—

"आज मिल सब गीत गाओ।
अुस प्रभुके धन्यवाद॥
जिसका गुण नित्य गाते हैं।
गंधर्व मुनि सुर धन्यवाद॥
मंदरोंमें, कन्दरोंमें, पर्वतोंके शिखरपर।
देते हैं लगातार सौ सौ
बार मुनिवर धन्यवाद॥"

(१९३८)

६

संकल्पसिद्धि

अुपनिषदोंमे कहा गया है कि हमारी आत्मा सत्यकाम-सत्यसंकल्प है, यानी वह अितनी बलवान है कि जो अिच्छा करती है, वह प्राप्त कर सकती है और जो विचार करती है वह जान सकती है। हरअेक जीवने जो जो शक्तियां और स्थितियां आजतक संपादन की हैं, जो जो ज्ञान प्राप्त किया है, वह अुसकी अपनी ही कामनाओं और संकल्पोंका परिणाम है, अैसा संतोंका अनुभव है। और जो आदमी अिरादा कर ले वह अैसा अनुभव कर सकता है। जिन शक्तियोंकी जीवमें त्रुटि मालूम होती है, वह खुद अुसके भीतर रही हुअी शक्तिके अनुपयोग अथवा दुरुपयोगका ही परिणाम है।

धक्-धक् होनेवाले अिस हृदयके पीछे अेक अनोखा बल रहता है। अिस बलका ही अुपयोग करके जीवमात्र अपनी वर्तमान दशा भोगता है और भविष्यकी दशा प्राप्त करेगा। अिसी बलके द्वारा विश्वामित्रने प्रतिसृष्टि अुत्पन्न की, परशुरामने अकेले अिक्कीस बार पृथ्वीको

निःक्षत्रिय वनाया, शिवाजीने स्वराज्यकी स्थापना की, नेपोलियनने युरोपको कंपाया, सिकंदरने देशविजय की, शकराचार्यने ज्ञानविजय की, वुद्धने मोहविजय की, और हजरत अीसाने दयाविजय की। जगतके सव महान कार्य, सव पराक्रम, सव वड़ीसे वड़ी सिद्धियां अिस मुट्ठीभर हृदयको चलानेवाली अणु जितनी शक्तिमे से पैदा हुअी है। प्राणीका यही श्रेष्ठसे श्रेष्ठ वल है, यही अुत्तमसे अुत्तम आलंवन है। अिस वल और अिस आलंवनको जाननेवाला परतंत्र नही हो सकता और दयाका पात्र भी नही होता। वह न तो दीन है, न कृपण है और न 'विचारा' है। वह वाह्य साधनोका आश्रय लेनेवाला नही होता। अुसकी वाटिकामें कल्पतरु अुगता है, अुसके वाड़ेमे कामधेनु रंभाती है, अुसकी पगड़ीमें चिन्तामणि चमकती है।

जो अपने हृदयमें रहे हुअे अिस वलको नही जानता, वही दूसरेके हृदयमें रहे हुअे वलके अधीन रहता है। वह परतंत्र रहता है, अनुकरण करनेवाला होता है, साधनोके अधीन रहता है। वह दूसरोंके आधारके विना नही चल सकता। अुसमें आत्मविश्वास और श्रद्धाकी हमेशा कमी रहती है। वह दूसरोंसे डरता है, छिपकर मारता है और दु.ख देखकर भागता है। अुसका वड़प्पन दूसरेके अनुग्रहके कारण है, अुसके वलका आधार वाहरी साधन होते हैं।

परन्तु यह वात भी सच है कि सामान्य रूपसे हमे अिस वलका अनुभव नही होता। आत्मा सत्यकाम—सत्यसंकल्प है, अैसा हमें नही लगता। हम प्रतिदिन देखते है कि हमारी कितनी ही अिच्छाअें पूर्ण नही होती। अुलटे, हमे अैसा लगता है कि अिच्छाअें और संकल्प करना ही हमारे वशकी वात है, अुन्हे पूर्ण करनेकी शक्ति हममे नही है। अुपनिषद्में कहे गये वाक्यसे अुलटा अनुभव हमे क्यों होता है? अिसका कारण ढूंढने पर मै नीचेके नियम जान सका हूं :

(१) प्राणी अेक समयमें अेक ही अिच्छा नही करता, परन्तु अुसके हृदयमे अनेक अिच्छाअें और कुछ परस्पर-विरोधी अिच्छाअे भी चक्कर काटती रहती है। यदि अुसका सर्व अिच्छावल अेक ही संकल्पके अूपर दृढ़तासे केन्द्रित हो, तो वह संकल्प अवश्य सिद्ध होता है।

(२) संकल्पकी सिद्धि होनेमें चित्तकी अनन्यता और अेकाग्रता सबसे श्रेष्ठ सहायक है, और चित्तकी व्यग्रता अथवा अनेक दिशाओमें दौड़ना बडेसे बड़ा विघ्न है। जिस वस्तुको सिद्ध करना हो, अुसे छोड़कर यदि प्राणी अन्य वस्तुओका चिन्तन या अन्य विषयोका सेवन करता है, तो वह सत्यकाम-सत्यसकल्प है या नही, अिसका प्रमाण अुसे कैसे मिल सकता है? जिस संकल्पको सिद्ध करना हो, अुसका ही घ्यान रहे, अुसकी ही अुसे लगन लगी हो, अुसीमें ओतप्रोत हुआ हो, तभी वह सिद्धिका द्वार देख सकता है। योगाभ्याससे सिद्धिया प्राप्त होती हैं और योगकलाका कुछ चमत्कार है, अैसा कुछ लोग मानते हैं, और दूसरे मानते हैं कि ये दोनो वस्तुअें झूठी हैं। वस्तुतः यह संकल्पमें तद्रूप होनेका केवल स्वाभाविक परिणाम है।

(३) सकल्प सिद्ध होगा या नही, अिस विषयमें संशयवृत्तिका होना संकल्पसिद्धिमे दूसरा विघ्न है। आत्माके विपयमें अश्रद्धा, अविश्वास ही हमारा शत्रु है। संशय प्राणीकी अिच्छाशक्तिको बलवान नही होने देता।

(४) अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाले सकल्प सिद्ध करना अपने हाथमें है, बाहरकी वस्तुसे सम्बन्ध रखनेवाले सकल्प सिद्ध करना विशेष कठिन है; और अन्य जनोंसे सम्बन्ध रखनेवाले संकल्प सिद्ध करना अिससे भी अधिक कठिन है। अुदाहरणार्थ : मुझमें अहिंसावृत्तिका विकास होवे, यह संकल्प मैं शीघ्र सिद्ध कर सकता हूं। मुझे खूब धन मिले अिस सकल्पके सिद्ध होनेमें अधिक देर लगेगी और अिसमें अन्य संयोगो पर अवलंबन होनेसे पूर्ण सिद्धि होनेमें रुकावट भी आ सकती है। मैं अनेक मनुष्योको अमुक वस्तु दिलाअू अथवा अमुक प्रकारके बनाअू, यह अिससे भी अधिक कष्टसाध्य है, क्योंकि अिसमें समस्त प्रजाके सकल्पबलकी मदद भी चाहिये।

(५) संकल्पसिद्धिमें दूसरे विघ्न त्रिगुणके वेग हैं। निराशा, आलस्य, प्रमाद अित्यादि वेग अुत्पन्न होकर हमारे संकल्पको कमजोर बना डालते हैं। ये तमोगुणी वेग हैं। खाने-पीने तथा देखने-

सुननेकी वलवान वृत्तियां; काम, क्रोव, मान, अीर्षादि भाव हमारे सकल्पके वलको नि.शेप कर डालते है। ये रजोगुणी वेग है।

यद्यपि संकल्पसिद्धिके लिअे साधी जानेवाली अेकाग्रता खुद सात्त्विक वेग है, फिर भी दूसरे सात्त्विक वेग अुसमें विघ्नरूप हो सकते है। वुद्धिका अहंकार यह अेक विघ्नरूप वेग है। कभी कभी मानो हमारा संकल्प सिद्ध हो गया हो, अिस तरह हम सकल्पके तरंगोमें फंस कर अुसके वादके विचार करना शुरु कर देते है। शेखचिल्लीकी तरह चवन्नी मिलनेके पहले चवन्नीकी व्यवस्था और अुसके दूर दूरके परिणामोकी कल्पना करके सारे संकल्पको ही नष्ट कर डालते है। यह मानना भूल है कि अैसे वेग अर्वमूर्ख मनुष्योंमें ही पैदा होते है। वडे चतुर आदमी भी अिसमे फंस जाते है और अुन्हे अुसका पता भी नही रहता। क्योकि यह वेग सुखकी भावना अुत्पन्न करनेवाला है, मनोहर स्वप्न जैसा है। अेक तरहसे वह, आत्मा सत्यसंकल्प है— अिस कथनको सिद्ध करनेवाला है, क्योकि अिसमे काल्पनिक सिद्धि रही हुअी है; और तात्त्विक दृष्टिसे स्थूल सिद्धि या काल्पनिक सिद्धि समान महत्त्ववाली है।

परन्तु जिसे स्थूल सिद्धिकी आकांक्षा हो, अुसे अिस वेगको भी जीतना ही चाहिये।

ये संकल्प-सिद्धिके नियम है। अिन नियमोंका अनुसरण किये विना कोअी भी संकल्प सिद्ध नही हो सकता। स्वराज्यका संकल्प भी अिसी नियमसे सिद्ध होनेवाला है। दूसरी भाषामें अिस नियमको समझना हो, तो अैसा कह सकते है कि अिष्ट वस्तुको सिद्ध करनेके लिअे व्याकुलता होनी चाहिये। जैसे पानीके वाहर पड़ी हुअी मछली पानीके लिअे व्याकुल होती है, जिस तरह पतिव्रता स्त्री या माता अत्यन्त वीमार पति या वालकके लिअे व्याकुल होती है, जिस तरह भक्त भगवानके दर्शनके लिअे व्याकुल होता है, अुसी तरह जव स्वराज्यके लिअे सारी प्रजामे व्याकुलता अुत्पन्न होगी, तव स्वराज्य दूर नहीं होगा और अुसे हासिल करनेमें कोअी रुकावट नही डाल सकेगा।

('नवजीवन', ५-११-१९२२)

टिप्पणी

अिसमें अेक चेतावनी जोड़ देना जरूरी समझता हू।

आत्मा सत्यकाम-सत्यसंकल्प है, यह विश्वास अिस लेखको लिखनेके बाद भी अुत्तरोत्तर बढ़ता गया है। यह जैसे अेक अनुभव-सिद्ध श्रद्धा हो गअी है, वैसे ही अिसके साथ अेक दूसरा अनुभव भी लिख देना चाहिये। वह यह है .

प्राणीका सकल्प सिद्ध होता है, अिसका अर्थ यह नही है कि वह तत्काल सिद्ध होता है। आज की हुअी कामनाके सिद्ध होनेमे पचीस वर्ष या अिससे भी अधिक समय निकल जाता है। कोअी सकल्प तत्काल सिद्ध होता है। कोअी आमकी तरह बहुत वर्षोंके बाद फल देता है।

अिससे, यह सभव है कि जिस समय वह संकल्प सिद्ध हो, अुस समय या तो अुसके सकल्प बदल गये हो या वह दूसरी कामनाओंका सेवन करने लगा हो। अिससे पुराने संकल्पकी सिद्धि सभव है अुसे सुखदायक न मालूम हो, बल्कि विपत्तिरूप लगे। स्वय ही अुसने अैसा संकल्प किया था, अिसे वह भूल भी गया हो। अिसलिअे परिणाम रूपसे जो कुछ आया हो, अुसे वह आपत्ति — दुर्दैवरूप समझे।

और, संकल्प तत्काल सिद्ध हो या कालान्तरमें हो, परन्तु हो सकता है वह जिस रीतिसे सिद्ध हो, अुस रीतिकी अुसने कभी कल्पना भी न की हो। अिससे यह सकल्पसिद्धि अुसके लिअे सकल्प करनेके प्रायश्चित्तका रूप भी ले सकती है।

कुछ अुदाहरणोंसे यह स्पष्ट होगा।

मैं बम्बअीसे साबरमतीके बीच कार्यवश बार बार आता जाता था; परन्तु अेक बार भी मैं बडोदा नही गया था और वहां जानेकी अिच्छा हुआ करती थी। वह अिच्छा पूर्ण हुअी। परन्तु किस तरह? मेरा अेक छोटा भतीजा अेक मित्रके यहां बड़ोदा गया हुआ था। वहां सीढियो परसे गिर जानेसे अुसे बहुत चोट लगी, अुसका साबरमती तार आया! तुरन्त ही हमें जागरण करके दौडना पडा, और दूसरे दिन संध्याके पहले ही दौडादौड करके वापिस आना पड़ा। अिस तरह बहुत

दिनोंका संकल्प सिद्ध तो हुआ; परन्तु अुसमें से किसी तरहका सुख प्राप्त नही हुआ। वड़ोदेमें किसी दर्शनीय स्थानको तो देख ही कैसे सकता था?

अिसके वहुत वर्ष वाद जल-प्रलयके कारण फिर वड़ोदा जाना पड़ा। छः महीने तक वहां रहा। परन्तु छः महीने रहने पर भी वड़ोदा सुखरूप नहीं हुआ। क्योकि अैसे निमित्तसे मुझे वड़ोदाका दर्शन हो, अैसी मैंने अिच्छा नही की थी। पहले तो कामका वोझ वहुत ज्यादा रहा और वादमें वीमारीका वोझ वहुत वढ़ गया।

वहुतसे मनुष्य कुंवारे होने पर व्याह करनेकी अिच्छा करते है; और व्याह करनेके वाद स्त्रीके त्राससे छुटकारा पानेकी अिच्छा करते हैं। परन्तु यह दूसरा संकल्प फले अिस वीच चार-पांच वच्चे हो जाते है और युवावस्थाका अस्त होने लगता है। परिणामस्वरूप चालीस वर्षके वाद जव विधुर होनेका सकल्प सिद्ध होता है, तव आधे रास्तेमे गृहस्थी टूटनेका दु.ख भोगना पड़ता है।

अिस तरह संकल्पकी सिद्धि और सुखका अनुभव ये दोनो वस्तुअें स्वतंत्र हैं।

लेखमें कहनेका तात्पर्य यह है कि आत्मा सत्यसंकल्प है। परन्तु अिसका अर्थ यह नही है कि सकल्पसिद्धिका परिणाम हमेशा सुखदायी ही होता है।

अिसमें से कभी संकल्प करने ही नही चाहिये, सकल्प-मात्रका संन्यास करना चाहिये, यह आदर्श अुत्पन्न हुआ है। परन्तु यह आदर्श वलात्कारसे सिद्ध हो जानेवाली वस्तु नही है। धीरे धीरे क्रमसे यह स्थिति भी आती है। तव तक सकल्पोका अुत्तरोत्तर संशोधन साधन मार्ग कहा जा सकता है।

२०-४-'३६

७

जप

पिछले कुछ महीनोमें जपके विषयमें दो-चार अुल्लेख करने लायक पत्र आये। तीन भाअियोने अपने काम-विकारके शमनके लिअे और अेकने हस्त-मैथुनके दोषके लिअे अुसे सफल अिलाज पाया। अुनमें से अेक भाअी लिखते हैं :

"मेरी अुम्र पचाससे अूपर है। फिर भी मैं काम-विह्वल रहा करता था। आखिर कुछ दिनके लिअे मैं अेकान्त जंगलमे चला गया। सात दिन तक अुपवास या फलाहार करके रामनामका अनुष्ठान किया। अितने दिनो तक जमीन पर ही सोया। अेक दिन मैंने अतीव शातिका अनुभव किया। मुझे निश्चय हो गया कि मेरा काम-विकार अब शात हो गया है और मैं दूसरा ही व्यक्ति बन गया हूं। बस, अितना अनुभव आपसे निवेदन करके समाप्त करता हू।"

यह कहना मुश्किल है कि यह शाति स्थायी रहेगी या कुछ दिनके बाद फिर अुसके भग होनेकी संभावना है। लेकिन अिनमे शक नही कि जपमें यह शक्ति है और काम-प्रकोप वगैरा कअी दोषोंके शमनके लिअे अिससे बढकर दूसरा कोअी अिलाज नही है। अिसके मानी यह भी नही कि जीवनको सात्त्विक और व्यवस्थित बनानेवाले दूसरे सारे प्रयत्नोके अभावमें भी यह अुपाय कामयाब हो सकता है। परन्तु अिसके बगैर दूसरे प्रयत्नोंसे ज्यादा सफलता मिलनेकी संभावना नही है।

अेक सज्जन, श्री श्रीनिवासदास पोद्दार, आज कअी दिनोंसे गाधीजीको खुली और व्यक्तिगत चिट्ठिया लिखकर आग्रह कर रहे है कि हरअेक सत्याग्रही पर किसी न किसी नामका जप करनेकी शर्त लगानी चाहिये। गाधीजीको जपमें श्रद्धा होते हुअे भी वे अुसे सत्याग्रहकी शर्त क्यो नहीं बना सकते, यह समझानेकी कोशिश वे करते रहे हैं। लेकिन गाधीजीके समझाने पर भी अिन सज्जनका समाधान नही होता।

हरअेक मजहबके श्रद्धालु भक्तोंने नामजपकी महिमा गाअी है और गीतामें भी अुसे सबसे श्रेष्ठ यज्ञ बतलाया गया है। दूसरी तरफसे तर्कपरायण लोगोको अैसी बातोमे श्रद्धा नही होती। अुन्हे अिस विषयमे अितना अविश्वास होता है कि अैसी सूचना देनेवालोको वे पागल ही करार देते है।

अिसलिअे जीवनमें जपका क्या स्थान है, अुसकी किस क्षेत्रमे और कितनी अुपयोगिता है, क्या मर्यादा है—अिसका थोड़ा विचार करना अुचित होगा।

अिसे मै अेक रूपक द्वारा समझानेकी कोशिश करता हू:

मान लीजिये कि अेक मनुष्यने अेक बड़ा भारी जंगल खरीद लिया। अुसमें तरह-तरहके असंख्य बड़े-बड़े पेड़ है और हजारो किस्मके छोटे-छोटे पौधे भी है। अिनमे से कुछ अुपयोगी तथा रखने लायक और दूसरे कअी बेकार और अुखाड़ फेकने लायक है। अनायास बने हुअे अिस जंगलमे कोअी व्यवस्था तो भला कहासे हो? अुपयोगी वनस्पतियों और वृक्षोंके साथ-साथ अनुपयोगी दरख्त और झुरमुट भी अुगे थे। कअी जगह अनुपयोगी वनस्पतियां अुपयोगी वनस्पतियोको हटा-हटाकर खुद पनप रही थी।

अुस मनुष्यके सामने यह सवाल पेश हुआ कि अिस जंगलको किस तरह साफ करके खेतीके लायक बनाया जाय।

पहले तो अुसने कामके और निकम्मे, सभी बड़े-बड़े पेड़ोको ज्योके त्यो रखकर छोटे-छोटे तमाम पौधे काटनेका तरीका आजमाया। अुसमें कामके और बेकार पौधोमें कोअी भेद करना तो मुश्किल था। क्योकि सब अेक-दूसरेके साथ बुरी तरह अुलझे और गुंथे हुअे थे। अिसीलिअे अुसे सब पौधोको अेक सिरेसे काट डालना ही आसान मालूम हुआ। अुसने हर दिन अेक-अेक अेकड़ जमीन साफ करना शुरू किया। लेकिन कुछ समयके बाद ही अुसने देखा कि वह अेक तरफसे साफ करता हुआ मुश्किलसे जंगलके मध्य तक पहुंचा था कि अिधर साफ किये हुअे हिस्सेमें नअी-नअी वनस्पतिया फिर अुगने लगी है। और फिर वही पुराना दृश्य नजर आने लगा है। अितना

ही नही, वरन् छोटे-छोटे पौधोंके हट जानेके कारण वड़े वृक्ष और ज्यादा पनपने लग गये हैं।

तब अुसे अपना तरीका वदलना पड़ा। अब अुसने वडे-वड़े दरख्तो पर कुल्हाड़ी चलाना शुरू किया। वडे वृक्षो पर जव वह ध्यान देने लगा, तो अुनमेंसे कुछ अुसे वहुत ही कीमती और अुपयोगी मालूम हुअे और कुछ विलकुल निकम्मे या अुखाडे जाने पर अुपयोगी होनेवाले। अिसलिअे अुसने अिस दूसरे किस्मके पेड काटना शुरू किया। नतीजा यह हुआ कि अुसे पैसा भी मिलने लगा और जंगल भी साफ होता हुआ नजर आया। ज्यो-ज्यो अेक-अेक भाग साफ होता गया त्यो-त्यो वहासे घास-मोथा और झाड़ी-झुरमुट हटाकर खेती करना मुमकिन हुआ।

अथवा अेक दूसरा रूपक लीजिये। अेक वडा वस्तुभण्डार— स्टोररूम— है। अुसमें सैकड़ो तरहकी चीजें भरी पड़ी हैं। मगर किसी तरहकी व्यवस्था नहीं है। अेक चीज लेने आअिये, तो दस चीजें लुढक पडती हैं। पैरोंके नीचे आती है। अुन्हें ठोकर लगती है, निकम्मी चीज हाथोमें आती है और कभी कभी आवश्यक चीज कअी दिन तक खोजनी पड़ती है। चीजोंकी अपेक्षा कमरा वड़ा होते हुअे भी चीजोकी मानो भीड़-सी लगी रहती है। अुनका हिसाव लगाना तो असम्भव-सा मालूम होता है। मसलन्, रूमालोंमें से कुछ कम्वलोंके नीचे दवे पड़े हैं, कुछ छातोंके ढेरके नीचे पड़े हैं, कुछ दवाअियोकी अलमारीमें और कुछ पुस्तकोकी अलमारीमें। हरअेक जगह कअी तरहके रूमाल पड़े हैं। थर्मामीटरका अेक वक्स रूअीकी गांठके नीचे पडा हुआ है। दूसरे कोनेमें तेजाव और कागज अेक साथ रखे हुअे हैं। अैसे भडारमें काम करनेवालोको भी क्या किसी तरह सुख और शातिका अनुभव हो सकता है? क्या अिसमें कोअी शक है कि कुछ दिन अुस भडारको व्यवस्थित करनेके लिअे ही खर्च करने होंगे?

मनुष्यका चित्त भी अिसी तरह अच्छे-बुरे संकल्पो और भावनाओका अेक घना जगल अथवा भडार है। अधिकांश लोगोका यह जंगल या भंडार वहुत ही अस्तव्यस्त हालतमें होता है। वे जिन चीजोंकी रक्षा

और वृद्धि करना चाहते हैं, वे टिकने नही पातीं। और जिन्हें हटाना चाहते हैं, वे वहींकी वही बनी रहती हैं। जिन चीजोंको याद रखना चाहते हैं, अुन्हें बार बार कोशिश करने पर भी भूल जाते हैं। जो चीज भूलना चाहते हैं, वह बिना प्रयत्नके बरबस याद आती है। वे किसी विचार या संकल्प पर देर तक स्थिर नही रह सकते। किसी संकल्पको पूरा करनेमें सफलता अनुभव नहीं कर सकते। क्योंकि अुस अव्यवस्थित चित्तमें वे जिस संकल्पको पकड़ना चाहते हैं, वह कहीं दब जाता है और दूसरे संकल्प-विचार दिलमें चक्कर काटते रहते हैं। क्या अिसमें शक है कि कभी न कभी आवश्यक समय देकर अिस भंडारको व्यवस्थित किये बिना अुन्हे सुख और संतोषका अनुभव नही हो सकता?

अिसे किस तरह व्यवस्थित किया जाय? तर्कपरायण लोगोंका खयाल है कि अगर हम अपने हरअेक भाव और संकल्पकी बुनियाद तथा औचित्य और अनौचित्यको बुद्धिसे परखकर निश्चित निर्णय कर लें, तो चित्तमें व्यवस्था आ जायगी। परंतु जीवनका अनुभव बताता है कि अिसमें न तो प्रकाण्ड विद्वत्ता, न दर्शनोंका अध्ययन, न सूक्ष्म तर्क-कुशलता काम आ सकती है और न भावनाकी प्रधानता ही कामयाब हो सकती है। धार्मिक ग्रंथोंके नित्य पाठ और अध्ययनसे तथा मंदिरों और आश्रमों, मठों या वन-अुपवनोंमें रहनेसे भी कोअी स्थायी लाभ होता नजर नहीं आता। अुलटे आदत पड़ जाने पर अिन बातोंके लिअे शुरूमें जो पवित्रताकी भावना रहती है, वह भी क्षीण हो जाती है। जिस तरह भंडारमें कौन-कौनसी और कितनी चीजें हैं, अिसकी फेहरिस्त रखने-भरसे भंडारमें व्यवस्था नही आ जाती; सिर्फ अुनका हिसाब व्यवस्थित हो जाता है; ठीक अुसी तरह अिन सब साधनोंसे हमारे चित्तमें कौन-कौनसे भाव भरे हुअे हैं और वे क्यों हैं, अिसका पता तो चलता है, पर अिन भावों और संकल्पोंकी व्यवस्था नही हो पाती।

अितना होते हुअे भी, जिस तरह जंगलमें बरगद-पीपल जैसे कुछ बड़े तगडे पेड होते हैं और अुनकी हिफाजत न करने पर भी

वे वढते चले जाते हैं; अुसी तरह आदमीमें भी अेकाध-दो भावनाअें या सकल्प अितने जवरदस्त होते हैं कि अुनका अुसे स्पष्ट रूपसे स्मरण रहे या न रहे, वे रात-दिन अपने-आप पनपते ही जाते हैं। व्यवस्था स्थापित करनेमें अिनकी तरफ पहले घ्यान देना चाहिये। वे वढाने योग्य हैं या अुखाड़कर फेंक देने लायक हैं, अिसका विचार करना चाहिये। अगर वे निकम्मे हो, तो अुन पर कुल्हाड़ी चलानी चाहिये। और अगर कामके हो, तो अुनके आसपासका घासफूस हटा-कर अुन्हें पनपनेके लिअे अनुकूलता कर देनी चाहिये। मतलव यह कि वढाने योग्य सकल्पो और भावोको वढनेकी सुविधा देनेके लिअे दीगर तथा अुखाड़ने लायक सकल्पो और भावो पर कुल्हाड़ी चलानी चाहिये।

जप अेक प्रकारकी अैसी मानसिक कुल्हाड़ी है। फर्ज कीजिये कि अेक आदमीको कामवासना वहुत सताती है और वह अुसका निरा-करण करना चाहता है। दूसरे आदमीकी यह प्रवल अिच्छा है कि वह अपने अिष्ट देवका हृदयमें दर्शन करे। तीसरा मनुष्य वहुत ही दरिद्र है और चाहता है कि खूव मालदार वन जाय; चौथे आदमीका अपने आपको देशकी सेवामें खपा देनेका दृढ सकल्प है। परतु अिनमें से हरअेक किसी न किसी भीतरी विघ्नके मारे परेशान है। पहलेके पूर्वजन्मके कुसस्कार वार वार अुभर आते हैं और कुसस्कार जाग्रत करनेवाले निमित्त जीवनमें रोज ही पैदा होते रहते हैं। दूसरेका मन निकम्मा भटकता रहता है और तरह-तरहकी स्मृतिया जाग्रत होकर अिष्टदेवको भुला देती हैं। तीसरे और चौथेको अनुकूल वाह्य परि-स्थिति नही मिलती। सामाजिक, पारिवारिक आदि अनेक कठिनाअियोंके कारण वे अपनी मर्जीके मुताविक काम नही कर पाते।

फिर भी हरअेकका संकल्प वलवान है। जिस वक्त अुसे अुसका स्मरण होता है, अुस वक्त तो वह प्रधान होता ही है; पर जव वह दूसरे कामोमें व्यस्त रहता है, तव भी अगर अुसका चित्त टटोला जाय, तो वही सकल्प सवसे ज्यादा जोरदार मालूम होगा।

हरअेकके सामने समस्या यह है कि अुसका संकल्प सिद्ध कैसे हो? बुद्धिसे जो कुछ बाहरी अुपाय सूझ पडते है, अुन्हें तो हरअेक आजमाता ही है; फिर भी अक्सर निराशाके कीचड़में फंस जाता है। अुसे जरूरत किसी अैसे साधनकी है, जिसमें बाह्य परिस्थिति बदल देनेकी और चित्तको निर्धारित सकल्प पर स्थिर रखनेकी शक्ति हो। शास्त्रोंके अनुसार अखण्ड नामस्मरण अैसा साधन है। अुसके पीछे अेक तो अनुभवगम्य आध्यात्मिक आधार है और दूसरा तर्कसिद्ध बौद्धिक आधार है। अनुभवगम्य आधार यह है कि आत्मा सत्य-काम-सत्यसंकल्प है। अिसीकी दूसरे शब्दोमें यह व्याख्या है कि परमात्मा सत्य-सकल्पका दाता है। सरल भाषामें अिसका मतलब है कि कोअी भी बलवान संकल्प सिद्ध होकर ही रहता है। अुसकी सिद्धि प्रत्यक्ष अिन्द्रियगोचर प्रयत्नो पर जितनी निर्भर है, अुतनी ही बल्कि अुससे भी ज्यादा, चैतन्यकी अप्रत्यक्ष, अिन्द्रियातीत शक्ति पर भी निर्भर है। वह अिन्द्रियातीत शक्ति सिर्फ संकल्पके अनुकूल बुद्धि ही नही देती; बल्कि किसी अगम्य रीतिसे बाह्य जगतमें भी अनुकूल परिस्थिति निर्माण कर देती है।

जंगलके पेड़ोंको नही मालूम कि वे आकाशके बादलोंको किस तरह अपनी ओर खीच लेते हैं और अुन्हें बरसनेके लिअे प्रेरित करते हैं। पर वे प्यास जरूर महसूस करने लगते हैं और जब बारिश होती है, तब अपनी कामना-सिद्धिका सुख भी अवश्य अनुभव करते हैं।

अिसी तरह मनुष्यको यह पता नही होता कि बाहरी परिस्थिति अैसी अनुकूल कैसे बन जायगी, जिससे कि वह अपने मनकी कामना पूरी कर सके। कभी-कभी चारों तरफ अंधेरा ही अंधेरा नजर आता है। लेकिन यदि अुसका संकल्प तीव्र और दृढ़ हो, तो न केवल अुसके अपने पुरुषार्थकी बदौलत, किन्तु दूसरे कअी कारणोकी सहायतासे भी वह परिस्थितिको आहिस्ता-आहिस्ता अनुकूल होती हुअी देखता है। जिस किसीने अपने जीवनमें प्रतिकूल परिस्थितिमें भी सफलता प्राप्त की होगी, वह अगर आत्मनिरीक्षण करेगा, तो अुसे अिस

कथनकी सत्यताकी प्रतीति जरूर मिलेगी। सभव है कि वह अिसका कोअी वैज्ञानिक कारण न जानता हो और जब जब अनुकूल परिस्थिति पैदा हुअी हो, तब-तब अुसने अुसे अीश्वरकृपा, दैवयोग, खुश-किस्मती, या ग्रहोंकी अनुकूलता माना हो।'

अपने बलवान संकल्पको निरन्तर जाग्रत रखने और धक्के देते रहनेका सबसे बढिया अुपाय अुसका सतत स्मरण रखना है। परन्तु किसी संकल्पकी व्याख्या खासी बडी हो जायगी और अितनी लंबी-चौड़ी व्याख्याका निरंतर स्मरण करते रहना सुविधाजनक नहीं है। अिसलिअे जिस तरह लम्बे भावको संक्षेपमें व्यक्त करनेके लिअे हम 'सांकेतिक शब्द' (कोड-वर्ड) गढ लेते हैं, अुसी तरह अपने संकल्पके लिअे कोअी छोटा-सा सांकेतिक शब्द बना लेनेसे बहुत सुविधा होती है। ॐ, हरि, राम, कृष्ण, खुदा, अल्लाह, आदि अिसी प्रकारके सांकेतिक शब्द हैं। अिनका जप करना हरअेकके लिअे अपने संकल्पको पुष्ट करनेका वैज्ञानिक साधन है। यह समझना गलत है कि जब कोअी मनुष्य 'रामनाम' का जप करता है, तब वह 'भगवान' का ही स्मरण करता है। अुसके जपका वैज्ञानिक अर्थ केवल अितना ही है कि वह अपने मनके सबसे बलवान शुभ या अशुभ संकल्पको पुष्ट करता है। जब कोअी कामपीड़ित मनुष्य कामविकारसे छूटनेके लिअे 'रामनाम' जपता है, तब यह मानना चाहिये कि वह 'निष्कामता, निष्कामता' का जप कर रहा है। जब कोअी धनेच्छु मनुष्य राम-राम रटने लगे, तब समझना चाहिये कि वह धनका ही जप कर रहा है। दोनोंके बाह्य प्रयत्न भी अुसी संकल्पको पूरा करनेके लिअे होते हैं। यही बात दूसरे संकल्पोंके लिअे भी लागू है।

लेकिन चूंकि भक्तोंने जपके अिन शब्दोंको दरअसल आध्यात्मिक साधनाका अंग बनाया और माना है, अिसलिअे जब कोअी आदमी धनकी या दूसरी किसी सांसारिक कामनाके लिअे नाम-स्मरण करता है, तब वे बिगड पड़ते हैं। कबीरने अिसी तरह बिगड़ कर कहा है:

"माला तो करमें फिरे, जीभ फिरे मुख माहिं।
मनुवा तो दस दिश फिरे, यह तो सुमिरन नाहिं॥

और दूसरे किसीने कहावत चला दी है कि 'मुखमे राम और वगलमें छुरी'। वास्तवमें यह असंगति केवल भक्तकी दृष्टिसे ही है। भक्त 'राम' शब्दका संकेत अपने विशेष अभिप्रायसे करता है। मगर वगलमे छुरी रखनेवाले या दूसरे व्यक्तियोके दिलमें कुछ और ही अभिप्राय होता है।

सारांश, नामस्मरण या जपयोग संकल्प-सिद्धिका अेक वैज्ञानिक साधन है। परंतु मनुष्य जिस संकल्पका संकेत करके जप करता है, अुसीको सिद्ध कर सकता है। दस आदमी अेक ही नामका जप करे, तो भी यह न मानना चाहिये कि वे सव अेक ही संकल्पसे प्रेरित है। जो मंत्र अेक निश्चित हेतुसे वनाये गये है और सिर्फ अुसी संकल्पकी सिद्धिके अुद्देश्यसे अपनाये जाते है, वे अपवादरूप है।

दूसरे, नामस्मरणकी सफलताके लिअे अुसका अखंड जप करनेका अभ्यास जरूरी है। किसी अेक निश्चित समय पर जप करके वाकीके वक्त अुसे भूल जानेसे न तो जपमें सफलता मिलती है और न संकल्प ही सिद्ध होता है।

तीसरे, जो नाम जपा जाता है, अुसे हमने किस संकल्पका वाचक माना है, अिसका हमे स्पष्ट खयाल होना चाहिये। दिलमें अगर अनेक संकल्पोंकी खिचड़ी हो और अुनमें से किसी अेकको भी मुख्य माननेमें मनुष्य अपने आपको असमर्थ पाता हो, तो अुसे जपका क्या लाभ हुआ, अिसका ठीक-ठीक पता भी शायद ही चलेगा। वह जप सर्वथा निष्फल तो नही होता; लेकिन अुसकी सिद्धि कुछ अव्यवस्थित जरूर रहेगी। वाज दफा यह भी अनुभव होगा कि संकल्पकी पूर्ति होते होते अुस संकल्प परसे दिल अुचट जाता है और कोअी दूसरा ही संकल्प दिल पर कावू कर लेता है।

चौथी वात, जप और पुरुष-प्रयत्नका विरोध नही है। जप संकल्पका स्मरण दिलानेवाला साधन है। स्मरणके निरंतर कायम रहनेसे दिमाग हमेशा अुसकी सिद्धिके अुपायोकी तलाशमें रहता है। जव कोअी अुपाय खयालमें आ जाता है, तव अुसे आजमाना स्वाभाविक होता है। दूसरी तरफसे जिस चैतन्यशक्तिसे वह संकल्प अुत्पन्न

होता है, वह शक्ति स्मरणके कारण जिस मात्रामें अेकाग्र होती है, अुस मात्रामें बाह्य जगतको भी अनुकूल बनानेमें लगी रहती है।

जहां तक हो सके, जप मन ही मन — यानी बिना जीभ हिलाये ही — करना अच्छा है। जपके शब्द भी निश्चित ही होने चाहियें। कभी अेक और कभी दूसरे शब्दोंका प्रयोग करना ठीक नहीं है। यह चंचल और अस्थिर चित्तका लक्षण है। बचपनमें जिस मंत्रका अभ्यास या श्रद्धा हो गअी हो, वह अधिक अनुकूल होता है। अुसके अभावमें किसी अेक मंत्रका निश्चय कर लेना चाहिये। जब स्वयं निश्चय न कर सकें, तो किसी श्रद्धेय व्यक्तिसे निश्चय करा लेना चाहिये। दूसरेसे मंत्र लेनेका यह भी अेक अभिप्राय है।

अेक निश्चित समयके लिअे स्थिरासन होकर अेकान्तमें चित्तकी धारणा द्वारा जप किया जाता है, तब अुसे विशेष साधना अथवा योगाभ्यास कहते हैं। यह अेक अलग चीज है। अुसकी चर्चा यहां करना जरूरी नहीं है।

अिस तरह सभी प्रकारके लोगोंके लिअे जप अुपयोगी हो सकता है। आजकलके सार्वजनिक आन्दोलनोंमें अुसके आधुनिक स्वरूपको नारा (घोष या स्लोगन) कहते हैं। किसी अेक ध्येय पर सारी जनताको अेकाग्र करनेके लिअे आन्दोलनके संचालक अपना 'स्लोगन' या 'नारा' बना लेते हैं। अिस जमानेमें यह अेक फैशन-सी हो गअी है। वास्तवमें यह जपयोगकी ही अेक मिसाल है। अुसकी तुलना रामनामकी अुस धुनके साथ की जा सकती है, जो बड़े समूहोंमें गाअी जाती है। अैसी धुनका गान अक्सर निश्चित संकेतसे रहित होता है और अिसलिअे सात्त्विक मनोरंजनसे अधिक परिणामदायी नहीं होता। लेकिन निश्चित अर्थके द्योतक होनेके कारण स्लोगन अपने अल्प जीवन-कालमें अपनी सामर्थ्य स्थूल रूपमें प्रगट करते हैं और जपकी महिमा तथा अुपयोगिताका सबूत पेश करते हैं। ये स्लोगन प्रायः अल्पजीवी होते हैं, अिसलिअे अुनकी सिद्धि भी अल्पजीवी होती है।

('सर्वोदय', अक्तूबर, १९४१)

८

यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।[1]

भाअी पाण्डुरग देशपाडेने शरद्-अकमे 'कवयोऽप्यत्र मोहिता:'[2] अिस शीर्षकके नीचे कुछ तात्त्विक शकाये अुठाअी है। यह वस्तु ही अैसी है कि अिसका संक्षिप्त लेखोसे या वहुत वार वडे ग्रंथोसे भी निवारण नही हो पाता है। अिसके लिअे तो

'तद्विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया।'[3]

यही मार्ग है। फिर भी दो चार प्रश्नोका खुलासा भाअी देशपाण्डे तथा अन्य विद्यार्थी वधुओंको अुपयोगी होगा, अैसा समझकर अुनकी चर्चा करता हू:—

"सदाचार किसने निश्चित किया है", यह कहना सर्वथा शक्य नही है। कअी वार तो भौगोलिक परिस्थिति, अैतिहासिक घटनाओं, सामाजिक आवश्यकताओ अित्यादिके कारण सदाचारके नियम अमुक स्वरूप ग्रहण करते है। ये सव नियम हमेशा प्राणीमात्रके कल्याणके लिअे ही होते है, अैसा नही कहा जा सकता तथा प्रत्येक नियम सनातन कालके लिअे स्वीकार करने योग्य है, अैसा भी नही कहा जा सकता। सदाचारकी भावनाओका भी देशकालानुसार संकोच और विकास हुआ है।

परतु "सदाचारके कानून कौन वनावे", यह वताया जा सकता है। जगत्के प्राणीमात्रके कल्याणके लिअे (अर्थात् शातियुक्त सुखके लिअे) सदाचारके कानून है; अिसलिअे यह वात स्पप्ट है कि

---

१. . . . जिसे जानकर पापसे छूटेगा।—गीता, ४–१६

२. . . . अिस विषयमें पण्डितोंको भी परेशानी हुअी है। —गीता, ४–१६

३. तू सेवा करके, नम्रभावसे प्रश्न पूछकर ज्ञान प्राप्त कर। —गीता, ४–३४

जो प्राणीमात्रका मित्र हो, अुसे ही सदाचारके कानून निश्चित करनेका अधिकार है। जिसके मनमें किसी व्यक्ति या (छोटे-बडे) वर्गके लिअे पक्षपात या वैरभावकी वृत्ति ही न हो, वही सदाचारके कानून बनावे यह अुचित है, मेरे खयालसे अैसा कबूल करनेमें किसीको अेतराज न होगा।

जन्म, सामाजिक परिस्थिति और संस्कारोंके कारण जिस वातावरणमें मनुष्य पल-पुसकर बडा हुआ है, अुस वातावरणके अनुकूल (और अुससे स्वाभाविक रूपसे प्राप्त होनेवाला) नित्य-नैमित्तिक कर्म भक्तिभावसे, दृढतासे, अपनी सर्व भोगेच्छाओ और अनावश्यक भोगोंका त्याग कर, अपनी सर्व शक्तियो और भावनाओंके शुभ विकासकी दृष्टिसे, विवेकसहित — जितने अशमें खुद निष्कामता समझ सकता हो अुतने अशमें — निष्कामभावसे किया हुआ हो, तो वह मनुष्यको अूचेसे अूचे पद प्राप्त करानेमें समर्थ है। अिस दशाके लिअे पुरुषोत्तमपद, सच्चिदानद पद, कैवल्य पद, निर्वाण, जीवन्मुक्ति या दु:खनाश जैसे शब्दोंमें से किस शब्दका प्रयोग किया जाय, यह महत्त्वपूर्णकी बात नही है।

'स्वे स्वे कर्मण्यभिरत ससिद्धि लभते नर:।'[४] तथा
'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानव.।'[५] अुसी प्रकार
'कर्मणैव हि ससिद्धिमास्थिता जनकादय:।'[६]

अिसमें से मै अैसा अर्थ करता हू।

(कर्म और धर्म शब्दोका मै यहा पर पर्यायरूपमें अुपयोग करता हू। जो कर्म धर्मसे आवश्यक नही होता, वह निष्काम भावसे नही हो सकता।)

---

४. स्वय अपने कर्ममें रत रहकर मनुष्य ससिद्धि पाता है। गीता, १८–४५

५. अुसे स्वकर्मसे पूजकर मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है। गीता, १८–४६

६. जनकादिकने कर्मसे ही परम सिद्धि प्राप्त की। गीता, ३–२०

"मनुष्यका अंतिम ध्येय आत्मसाक्षात्कार है", यह विधान भी मुझे अधूरा लगता है। अिस दृष्टिसे आध्यात्मिक मार्गकी ओर जो झुकाव होता है, वह बहुत वाछनीय नही लगता। मैं तो यह कहता हूं कि मनुष्यका अंतिम ध्येय (अर्थात् पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त करने योग्य वस्तु) चित्तशुद्धि है। स्वरूपनिष्ठा अिसका स्वाभाविक फल है। (साक्षात्कार — दर्शन, अनुभव ये शब्द मेरे हेतुके लिअे यहां पर भ्रामक मालूम होते हैं, अिसलिअे मैं स्वरूपनिष्ठा शब्दका अुपयोग करता हूं।) अिसके लिअे बादमें विशेष पुरुषार्थ करनेकी जरूरत नही रहती।

"अीश्वरकी लीलाके मार्ग अनंत है। तो फिर अहिंसा, सत्य या ब्रह्मचर्य अित्यादि अेकांगी तत्त्व लेकर अुनमें ही अीश्वरको बांधनेका क्यों प्रयत्न करना चाहिये?" पुण्य-पाप, देव-दानव सबमें अीश्वर समान रूपसे है यह बात ठीक है।

'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।'[७]

परंतु अिस वस्तुको केवल बुद्धिसे स्वीकार करनेमात्रसे शांति नहीं मिलती है; अिस सत्यमें निष्ठा हो तभी शांति मिलती है। और अिस शांतिका मार्ग तो यम-नियमोंके द्वारा ही प्राप्त होता है।

'ये भजंति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाऽप्यहम्।'[८]

और अेक संतके कहे अनुसार अिन्द्रियनिग्रह भजनका शरीर है और अेकाग्रता भजनकी आत्मा है।

आत्मसमर्पण, ब्रह्ममें लय, शक्तिकी अुपासना, भावना (Abstract idea) का दास्य अित्यादि संबंधी विचारोंके पीछे मैं अनेक प्रकारके वादों (Theories) और कल्पनाओंका थर देखता हूं। अिसलिअे अिस विषयमें यहां पर कुछ भी लिखना और अधिक गड़बड़ी बढ़ानेवाला होगा।

---

७. सब प्राणियोंमें मैं समभावसे रहता हूं। मुझे कोअी अप्रिय या प्रिय नहीं है। गीता, ९–२९

८. लेकिन जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं, वे मुझमें और मैं अुनमें हूं। गीता, ९–२९

परतु अिन भाअीसे तथा दूसरे विद्यार्थियोसे भी नम्रतापूर्वक मै अितना कह सकता हूं कि अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह अित्यादि यमो तथा तप, स्वाध्याय, अीश्वरप्रणिवान, शौच अित्यादि नियमो और मैत्री, करुणा, (पूज्य जनोंके विषयमें) मुदिता और (हठी पापिओंके प्रति) अुपेक्षा, अिन भावनाओंके अनुशीलन विना शांतिकी, अेक तुच्छ प्राणीका किसी भी कार्यक्षेत्रमें हित करनेकी या अपनी शुभ शक्तियोका विकास करनेकी आशा रखना व्यर्थ है। मनुष्यको दुर्वलता अच्छी न लगे यह अिष्ट है, परतु अुसकी शक्तिकी अुपासना हमेशा शुभ ही होती है, अैसा नही। सारे जगतको पादाक्रान्त करनेकी अिच्छा रखनेवाले सम्राट् भी शक्तिकी ही अुपासना करते हैं और सारे जगतका सद्वर्मके द्वारा अुद्धार करनेकी अिच्छा रखनेवाले वुद्धने भी शक्तिकी ही अुपासना की थी। किस शक्तिका विकास अिष्ट है, अिसका विवेकवुद्धिसे विचार करने पर ही यह अपने आप समझमे आ जायगा कि अुसके लिअे यम-नियमके अनुशीलन और भावना-शुद्धिका कितना महत्त्व है। 'सत्त्वाद् ब्रह्मदर्शनम्'[१] यह श्रुति व्यर्थ नही है।

अनेक प्रकारके तत्त्वज्ञानो, वादविवादो, योगकी रूढियो और कल्पनाओंकी मायामें जीव फसा हुआ है। परमेश्वरकी साक्षात् भौतिक मायाकी अपेक्षा शास्त्रियो और पडितोकी वाङ्मायाका जाल विशेष वलवान होता है। अिसमें से किस किस पर श्रद्धा रखी जाय और किस पर न रखी जाय? श्रद्धेय गुरु या शास्त्र किसे समझा जाय? अिसके जवावका आधार सारासारका निर्णय करनेवाली हरअेककी विवेकशक्तिके विकास पर है। फिर भी जो अितनी सूचना स्वीकार करेगा, अुसकी अवनति तो कभी नही होगी, अैसा निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। वह सूचना यह है कि जिन अुपदेशोंमें अिंद्रिय-सयम, मनोनिग्रह, शुभ भावनाओंका विकास, माता-पिता और गुरुकी भक्ति, यम और नियमके प्रति पूर्ण आदरभाव न हो, वे अुपदेश

१ सत्त्व (गुणके विकास) से ब्रह्मदर्शन होता है।

विद्वत्ता, योगारूढ़ता या ज्ञानके लिअे चाहे जितने प्रसिद्ध पुरुषोंकी ओरसे किये गये हो, तो भी अुन्हें त्याज्य समझना चाहिये।

भक्ति वा ज्ञानमालम्ब्य स्त्रीद्रव्यरसलोलुपाः।
पापे प्रवर्तमानाः स्युः कार्यस्तेषां न संगमः॥[१०]

(शिक्षापत्री, २८)

जो कोणी ज्ञान वोधी। समूळ अविद्या छेदी।
इन्द्रियदमन प्रतिपादी। तो सद्‌गुरु जाणावा॥

*　　　　*　　　　*

ज्ञानवैराग्य आणी भजन। स्वधर्म कर्म सावन।
कयानिरूपण, श्रवण, मनन। नीति, न्याय, मर्यादा॥
या मवे अेक अुणे असे। तेणे तें विलक्षण दिसे।
म्हणोनी सर्व ही विलसे। सद्‌गुरुपाशीं॥
सदुपासना आणि सत्कर्म। सत्क्रिया आणि स्वधर्म।
सत्संग आणि नित्यनेम। निरंतर॥
अैसे हे अवघेंचि मिळे। तरीच विमळ ज्ञान निवळे।
नाहीं तरी पापांड संचरे वळे। समुदायी॥[११]

(दासवोध, ५–२३)

---

१०. भक्ति अथवा ज्ञानका वहाना वताकर जो लोग स्त्री, द्रव्य या रसमें लुब्ध होकर पापमे प्रवृत्त होते है, अुनका संग नही करना चाहिये।

११. जो ज्ञान देता है, अज्ञानका जड़से नाश करता है, अिन्द्रिय-दमनका समर्थन करता है अुसे सद्‌गुरु जानना चाहिये। . . . ज्ञान, वैराग्य, भजन, स्वधर्मचरण, साधना, कथानिरूपण, श्रवण, मनन, नीति, न्याय, मर्यादा अिन सवमे से यदि अेक भी कम हो, तो पूर्णतामें अुतनी त्रुटि समझना चाहिये; अिसलिअे सद्‌गुरुमें ये सभी गुण होने चाहिये। . . . सदुपासना और सत्कर्म, सत्क्रिया और स्वधर्म, सत्संग और नित्य नियमितता ये सव अिकट्ठे हों तभी हृदयमें शोभा पाते हैं; नही तो समाजमे जरूर पाखण्ड फैलता है।

मैं अिन सब वचनोंको मान लेनेके लिअे अुद्धृत नहीं करता हूं। परतु विवेकसे विचार करने पर ये ही वचन श्रद्धेय मालूम होते हैं या नहीं, अिसे जाचनेके लिअे अुद्धृत करता हूं। सब प्रकारकी दलीलोंसे 'अीश्वरके सिवाय दूसरा मौलिक (Absolute) तत्त्व नहीं है' अैसा सिद्ध करनेवाला विशेप शाति प्राप्त करेगा और दूसरोंको भी करायेगा, या अिस तत्त्वके वादविवादमें न पड़ कर सन्मार्ग पर चलनेमे और दैवीसपत्तिके विकाससे प्राप्त होनेवाला दलीलोंसे परे जो ज्ञान है अुसे अपने हृदयमें प्राप्त करनेवाला विशेप शाति प्राप्त करेगा और दूसरोको करायेगा — अिस पर विचार करनेका काम मैं पाठको पर ही छोडता हू।

('साबरमती', अप्रैल, १९२३)

९

ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह

अिधर थोड़े दिन पहले लोकसेवकोका अेक छोटा-सा दल वर्धामें अिकट्ठा हुआ था। जो व्यक्ति अपना जीवन जनता-जनार्दनकी सेवामें बिताना चाहता हो, वह निजी परिग्रह रखे या न रखे, अैसा अेक प्रश्न वहा अुपस्थित हुआ था। बहुतसे भाअियोकी अैसी राय मालूम हुअी कि अगर अक्षरशः न हो सके तो कम-से-कम जितना हो सके अुतना लोकसेवकको अवश्य परिग्रहहीन होना चाहिये। अुसका परिग्रह अैसा और अितना अधिक न होना चाहिये कि वह अुसकी सेवामें किसी तरह बाधक हो, और परिग्रहकी रक्षा और वृद्धिकी ओर अुसे ध्यान देना पडे।

यह तो हुअी व्यावहारिक दृष्टि। आध्यात्मिक दृष्टिसे भी सब भाअियोका यही अभिप्राय था कि अीश्वरके सहारे रहनेवाला लोक-सेवक किसी तरहका परिग्रह नहीं रख सकता। अपना या अपने

वालवच्चोंका भविष्यमें क्या होगा, अिसकी चिन्ता जिसने भगवान् ही पर छोड़ दी है, अुसे परिग्रह रखनेसे क्या मतलव?

ये सव विचार मुझे भी मंजूर हैं। लेकिन अिसके वाद और जो वातें हुअी, अुन परसे अिन विचारोंमें कुछ संशोधन करनेकी जरूरत मुझे मालूम होती है।

जनताका सेवक ब्रह्मचारी होना चाहिये या नहीं, यह अेक दूसरा प्रश्न विचारार्थ रखा गया था। प्रायः सव भाअियोंकी अिस विषय पर यही सम्मति दिखाअी दी कि अिस व्रतको हम अनिवार्य नहीं वना सकते। आदर्शके रूपमें यह ठीक हैं, लेकिन अुसे अनिवार्य कर देनेसे अुसका पालन नहीं हो सकता। अुलटा, अुससे दंभ और अनाचार ही वढ़ता है। अिसलिअे अिस विषयमें प्रत्येक सेवकको अपनी शक्तिके अनुसार अपना प्रगतिक्रम निश्चित करनेकी छूट दे देनी चाहिये।

अिन वातोंको भी मैं मानता हूं। लेकिन अव प्रश्न यह अुठता है कि ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह अिन दो व्रतोंमें यदि क्रम मुकर्रर करना हो, तो हमें पहले ब्रह्मचर्यकी ओर वढ़ना चाहिये या अपरिग्रहकी ओर?

जिस तरह अिन वातोंकी चर्चा यहां पर हुअी, अुससे मुझे अैसा लगा कि वहुतेरे भाअियोंका जोर जितना अपरिग्रही होने पर दीखता था, अुतना ब्रह्मचर्य रखने पर न था।

यदि यह सच हो तो यह विचारकी भूल है, अैसा मेरा नम्र मन्तव्य है। यह सच है कि परिग्रह छोड़नेकी अपेक्षा ब्रह्मचर्य रखना ज़्यादा मुश्किल वात है, अिसमें कोअी आश्चर्य भी नहीं। परिग्रह छोड़ना स्थूल त्याग है, ब्रह्मचर्य पालना सूक्ष्म त्याग है। चोर या डाकू वलात्कारसे हमें अपरिग्रही वना सकता है। अिस प्रकारकी समाज-रचना भी वनाअी जा सकती है, जिससे धीरे-धीरे समाजका ही परिग्रह कम होता जाय, और थोड़े लोगोंको छोड़कर शेष सव अकिंचन वन जायं। किन्तु कोअी हमें वलात्कारसे स्थिरवीर्य नहीं कर सकता। अिससे ब्रह्मचर्यके मार्गमें वड़ी कठिनाअियां हैं, अिसे मैं स्वीकार करता हूं।

परन्तु अिस बातका भी हमें विचार करना चाहिये कि विना ब्रह्मचर्यके परिग्रह-त्याग अशत. अेक वृथा चेष्टा है, और समाजहितकी दृष्टिसे हानिकर भी है। जो मनुष्य अेक ओर तो सन्तान-वृद्धि किया करता है, और दूसरी ओर परिग्रह छोड बैठता है, अुसका अपरिग्रह अन्त तक नही टिकेगा; और अगर टिका भी तो न अुसको या अुनकी संततिको अुस अपरिग्रहसे विशेष आध्यात्मिक अुन्नति होगी, और न अुसकी अीश्वर-श्रद्धा ही अन्त तक टिकेगी और अुसे शाति देगी। मनुष्यका प्रथम और विशेष महत्त्वका परिग्रह तो अुसका परिवार है। और यह तो चेतन परिग्रह है। वह जब तक नही छूट सकता, तब तक केवल जड़ और आर्थिक परिग्रहके त्यागने क्या लाभ हो सकता है?

हमें यह बात न भूलनी चाहिये कि जनताका सेवक जनताका ही अेक अश है। अिसलिअे जो नियम सर्वसाधारणके लिअे हानिकर हो, वह जनताके सेवकके लिअे भी हानिकर ही होगा। क्या हम सर्व-साधारणको यह सलाह दे सकते हैं कि तुम संतति-वृद्धि तो भले ही करो, किन्तु अर्थकी वृद्धि और सरक्षण करनेकी कोअी आवश्यकता नही? कुछ विद्वानोकी यह राय हो, तो भी कम-से-कम मानव-समाजकी आजकी परिस्थितिमें न तो हम समाजके सामने अैसा आदर्श रख सकते हैं और न अुसकी स्वीकृतिकी आशा कर सकते हैं। अुलटा यह कहा जा सकता है कि आज हमारी प्रधान चिन्ता यह है कि हम कोअी अैसा मार्ग निकालें, जिससे निर्धनोको अधिक धन-प्राप्ति हो, ताकि वे कुछ तो अधिक सुख-सौभाग्य प्राप्त कर सकें। हमारे चरखा-संघ, ग्राम-अुद्योग-संघ, हरिजन-सेवक-सघ, और हमारा अन्य रचनात्मक कार्यक्रम — सभीका प्राय: अेक ही ध्येय है कि गरीबोंका आर्थिक अभ्युदय किया जाय। जनताको आर्थिक सुख पहुंचाये विना हम अुसकी आध्यात्मिक अुन्नति नही कर सकेंगे।

यही सिद्धान्त जनताके सेवकोंके लिअे भी है। यदि अुन्हें परि-वार रखना और बढ़ाना मजूर है, तो स्पष्ट है कि वे परिग्रह-त्यागकी दिशामें अमुक मर्यादा तक ही बढ सकेंगे। कुछ-न-कुछ परिग्रह करना, रखना और अुसे बढाना अुनके लिअे अनिवार्य ही होगा।

अब दूसरा अेक सवाल यह खड़ा होता है कि अगर लोक-सेवक सपरिवार है, और आज अपने अन्दर ब्रह्मचर्यपालनकी शक्ति नही पाता, तो क्या अुसे लोक-सेवाका कार्य छोड देना चाहिये? या धनोपार्जनमें लगकर अपना परिग्रह बढाना चाहिये?

मेरे कहनेका मतलब यह नही है। मैं तो अिसकी ओर देशके सेवकोंका ध्यान खींचना चाहता हूं कि स्थूल परिग्रहका त्याग सिद्ध करनेसे पूर्व अुन्हें ब्रह्मचर्यकी आवश्यकता समझ लेनी चाहिये, और अुस दिशामे आगे बढ़नेका कोअी-न-कोअी क्रम सोच लेना चाहिये तथा प्रयत्न आरम्भ कर देना चाहिये।

मेरी यह मान्यता है कि विद्याकी ही अुपासना करनेका आदर्श सामने रखने पर और अुस ओर स्वाभाविक अभिरुचि होने पर भी ब्राह्मणवर्गकी हमारे देशमें जो अवनति हुअी है और ब्राह्मणोंका बहुत बड़ा भाग केवल नामका ही ब्राह्मण रह गया है, अिसका प्रधान कारण यही है कि ब्राह्मण धर्ममें जितना अपरिग्रह पर जोर दिया गया था, अुतना ब्रह्मचर्य पर नहीं दिया गया। दूसरे, अपरिग्रहका अर्थ केवल धनसंग्रह न करना ही नहीं समझा जाता था, बल्कि धननिर्माण न करना भी माना जाता था। अिसके कारण ब्राह्मण-समाज अत्यन्त परावलम्बी और शेष समाजके लिअे भार-सा बन गया। पर यदि अिसके साथ ही अुसने कुछ ब्रह्मचर्य-पालनका नियम भी बनाया होता, तो आजकी तरह अुच्च-संस्कारकी परंपरा ब्राह्मणवर्ण खो न बैठता। परतु अैसे किसी नियमके अभावमें बढती हुअी ब्राह्मण-प्रजाके लिये शेष समाजसे पोषण पाना अधिकाधिक कठिन बनता गया, और अिस कारणसे अुसकी अुच्च-संस्कार प्राप्त करनेकी अनुकूलता क्रमशः घटती गअी। अगर देश-सेवक भी केवल अपरिग्रह पर जोर देंगे और ब्रह्मचर्यको कठिन समझकर अुसमे ढिलाअी करेंगे, तो अुनकी सन्ततिकी भी वही दशा होगी जो अुन ब्राह्मणोंकी सन्ततिकी हुअी।

फिर, अपरिग्रहका अर्थ धनका असंग्रह अितना ही करना चाहिये। सेवक ब्रह्मचारी हो या भोगी, अुसके अपरिग्रहका मतलब यह न होना चाहिये कि वह कुछ अर्थोत्पत्ति भी न करे या स्वाश्रयी भी

न हो। अुसे यह समझ लेना चाहिये कि प्रत्येक मनुष्यका — चाहे वह जनताका अेक साधारण व्यक्ति कहलाता हो या अुसका सेवक कहलाता हो — कर्तव्य है कि वह कुछ नया धन निर्माण करे; और अपने जो भी काम वह आज दूसरोंके हाथसे कराता है, अुन्हें खुद करने लग जाय, और अिस तरह व्यर्थ धनव्ययको भी रोक दे।

हरिजनसेवक, २८–१०–'३४

१०

गलत तितिक्षा[1]

सर्दी, गर्मी, भूख-प्यास, सुख-दुःख आदिको सहन करनेकी शक्ति प्राप्त करना, अेक प्रकारकी सिद्धि है।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥[2]

(गीता, २–१४,१५)

---

१. सन् १९३५ में जब गांधीजीने ग्रामरचनाके कार्यको तेजीसे आगे बढाया, अुस वक्त अिस बारेमें चेतावनी देनेके लिअे मैंने दो लेख लिखे थे कि हम गांवोंके गलत आदर्शों और दोषोंकी पूजामें न पड़ें। अुन्हें सुधार कर ये प्रकरण बनाये गये हैं। गांवोंमें अनेक अुद्योग चल सकते हैं। अनेक अुद्योगोंका प्राथमिक ज्ञान रखनेवाले कारीगर गांवोंमें हैं। लेकिन यह बात ध्यानमें रखना जरूरी है कि अुनमें से बहुतेरे अनपढ, अनगढ हैं और आलसी भी हो गये हैं। अुनकी हमें सेवा करनी हो तो अुनकी कारीगरीमें हमें सुधार करनेकी जरूरत पड़ेगी ही। अुनके जीवनमें और घरोंमें भी सुधार करनेकी जरूरत है। गांवोंमें शहरोंकी चीजें ले जाकर अुन्हें ववजीके छोटे छोटे मुहल्ले

जिस तरह भगवद्‌गीताके अुपदेशके आरंभमें ही कहा गया है।

अिस प्रकारकी तितिक्षा केवल सामान्य व्यायाम आदिके द्वारा शरीरको तालीम देनेसे प्राप्त होती है, अैसा हमेशा देखनेमें नही आता। यह भी नही कि हृष्ट-पुष्ट शरीरवाले मनुष्यमें वह पाअी जाती है और दुबले-पतलेमें नहीं पाअी जाती। या दरिद्रमें वह रहती है और धनिकमें नही रहती। कभी-कभी नाजुक गरीब और कड़े धनिक भी पाये जाते हैं। लेकिन यह कह सकते है कि गरीब लोगोंको मजबूरन ये कठिनाअियां सहन करनेकी आदत बना लेनी पड़ती है, और अिस कारण अुनमें अधिक तितिक्षा रहती है। मन सहन न कर सकता हो तो भी शरीरको सहन किये सिवा कोअी चारा नही रहता।

परंतु जिस तरह दान, दया, तप, आदि सद्‌गुणोंके बारेमें गीतामें कहा है, अुसी तरह तितिक्षाके विषयमें भी कह सकते है कि वह भी सात्त्विक (ज्ञानयुक्त), राजस (लोभसे प्रेरित) और तामस (जड़ता, आलस्य और प्रमादसे बढ़ी हुअी) — तीन प्रकारकी हो सकती है। और जिस तरह हमारी प्रजामें दूसरे बहुतसे गुणोंके बारेमें हुआ है, अुसी

बनाना अेक सिरेकी गलती होगी। ग्रामोद्योगके नाम पर वे जैसे हैं वैसे ही अुन्हें रखकर अुनका पोषण करना दूसरे सिरेकी गलती होगी। हमारा ध्येय यह होना चाहिये कि गांवोमें जो चीजें बनें, वे गांवोंमें मिलनेवाले साधनो पर ही यथाशक्ति मेहनत करके व बुद्धि लगाकर सुन्दर बनाअी जायं। जो असुविधा या अड़चन गांवोंके साधनोंसे दूर हो सकती हो, अुसे गरीबी या ज्ञानयुक्त त्यागको छोड़कर दूसरे किसी कारणसे दूर न करेंगे, तो अुससे केवल आलसीपन, प्रमाद और जड़ताको ही पोषण मिलेगा।

२. हे अर्जुन, अिन्द्रियोंके विषय सर्दी, गर्मी, सुख और दुःख देनेवाले होते है। वे आते हैं और चले जाते हैं और अनित्य हैं। अुन्हें तू सहन कर। हे नरश्रेष्ठ, सुख-दुःखमें सम रहनेवाला जो पुरुष अिन बातोंसे व्याकुल नही होता, वह मोक्षका अधिकारी होता है।

तरह तितिक्षाके बारेमें भी हुआ है। यानी तितिक्षाके नाम पर हमने बाज दफा जड़ता, आलस्य और प्रमादको ही पोसा है।

जब हम यह मानने लग जाते हैं कि अेक वृत्ति अच्छी है, तब स्वाभाविक ही अुससे चिपके रहनेका हमारा आग्रह बन जाता है, और अुसे प्राप्त करने या बढानेके लिअे कृत्रिम अुपाय काममें लेनेकी प्रवृत्ति होती है। और संभव है जिसमें यह गुण न हो, या कम हो, अुसके प्रति हमारे मनमें अनादर पैदा हो या समभाव न रहे। और अुसके मूलमें यदि लोभ, जडता, अज्ञान आदि हो तो अुस वृत्तिको बढानेका प्रयत्न जनताको आगे ले जानेकी जगह पीछे हटानेवाला साबित हो सकता है।

धर्मग्रथोंके अवलोकनसे मालूम होता है कि तितिक्षा बढानेका प्रयत्न हमारे देशमें बहुत प्राचीन समयसे होता आया है। अनेक प्रकारके तपोंकी योजनाका अुद्देश्य यही दीख पडता है कि सहनशीलताकी वृद्धि हो। पञ्चाग्नि-सेवन, गरमीमें धूपमें बैठना, सर्दीमें खुलेमें रहना, वर्षामें बरसातमें बैठना, जान-बूझकर भूखे रहना, पानी न पीना अित्यादि तपके प्रकारोंका अेक हेतु हमारे कोमल ज्ञानतंतुओंको धीरे-धीरे कठोर बनाना भी रहा है। अिससे मनुष्यके तीन बलवान विकार — काम, क्रोध और लोभ — कहां तक जीते जाते हैं, अिसमें मुझे संदेह ही है। कारण तपस्वी क्रोधी न हो, अैसा शायद ही देखा जाता है। व्यापारियोंमें मतिलोभ और अति तितिक्षा अेकसाथ देखे जाते हैं। 'डोरी और लोटे' की ही पूंजीसे अपना जीवन शुरू करने-वाला बनिया 'गादी और तकिये' वाला बननेके समय तक तितिक्षाकी जो पराकाष्ठा करता है, वह तपस्वी भी शायद न दिखा सके। जेबमें पैसा होते हुअे भी अेक ही बार खानेका निश्चय करना, घरका दूध-घी होते हुअे तथा किसीका कर्ज न होते हुअे भी सूखी रोटी खाना और घीको बेच देना, सर्दी लगती हो और नया कम्बल पासमें हो तो भी अुसको मैला न करनेके विचारसे जाडा ही सहन कर लेना — अिस तरह वह लोभवश होकर अपनी हरअेक अिन्द्रियको सहनशील बनाता है। मुझे कअी बार लगता है कि अैसी 'सहन-

शीलता होनेकी अपेक्षा दुःख वरदाश्त करनेकी शक्ति कुछ कम होना ज्यादा अच्छा है। यदि हमारी तितिक्षा-शक्ति कुछ अंशमें कम रहती, तो टीनकी दीवारों और छप्परवाले मकानमे हलवाओीकी दूकान चलाने जैसा आरोग्य-नाशक, सौन्दर्य-नाशक और देशके कारीगरोके अुद्योगका नाशक दृश्य कभी दिखाओी न देता। आठ-दस हजार या अुससे भी अधिक कीमतके मकानोंमें कुछ किफायत करनेकी दृष्टिसे दिखनेमें भद्दे, गर्मीमें भट्टीकी तरह तपनेवाले और सर्दीमे वर्फके समान ठंडे हो जानेवाले टीनके परदे, छप्पर या छज्जे मेरी नजरमें पडते है, तव मुझे मनमें क्लेश होता है। अुसमे रहनेवालोकी तितिक्षा-शक्तिके लिओे मुझमें प्रशंसा या प्रसन्नताका भाव नही पैदा होता।

किसानको गर्मी, सर्दी और वर्षा तीनो ऋतुओमे खेत-खलिहानमें घंटो खुलेमे काम करना पड़ता है। अिस कारण, अुसे सर्दी-गर्मी-वरसात और भूख-प्यास-जागरण सहने पडते है। यह सच है कि अुसे भी प्राप्तिकी आशा रहती है। फिर भी, काम पूरा होने पर खानेके लिओे पास होते हुओे भूखो सोनेका और ओढनेको पास होते हुओे भी कड़ाकेकी सर्दीमें खुले वदन सोनेका यदि वह आग्रह रखे, तो कहना होगा कि वह लोभवश होकर यह सव दुःख सहता है।

जिस प्रकार लोभसे वढाओी हुओी तितिक्षा कोओी वडा गुण नही है, वैसे ही जडता या आलस्यसे वढाओी हुओी तितिक्षा भी कोओी सद्गुण नही है।

दरवाजेमे अेक छोटीसी दरार है। अुसमें से ठडे पवनकी लहर हमेशा आया करती है, और जव आती है तव छातीमे तीरकी तरह चुभती मालूम होती है। अुस दरारको वन्द करना आवश्यक है। शिशिरका आरंभ है। गलेको ठंडी हवा लग गओी है। शाम या सवेरे हवा लगती है, तव खांसी शुरू हो जाती है, और रातभर परेशान करती है। गले पर अेक कपड़ा लपेट रखनेकी आवश्यकता है। वरसातमे अेक खिडकीमें से पानीकी वौछार घरमें आती है, और अुससे घरकी हवामें नमी रहती है। अेक छज्जेकी जरूरत है। घरमें अेक मनुष्य दमेसे वीमार रहता है; आवी रातको या वड़े सवेरे

अुमे शौचादिके लिअे अुठना पडता है। सारी रात तो वह खुदको बचा रखता है। किन्तु दो-चार मिनिटके लिअे अुसको खुलेमे जाना पडता है और ठडी हवा या बरसात सहन करनी पडती है। अुसके हाथ-पैर ठडे हो जाते है, अथवा पीठ या छातीको हवा लग जाती है, और अेक क्षणमे अुनका श्वास रुंध जाता है। फिर सारा घर अुसके पीछे परेशान होता है। मित्र आकर अुसके अूपर दया बताते है। लेकिन अुसको रातके समय बाहर न निकलना पडे, अैसी अुसके बिछौनेके पास ही पानी-पेशाबकी व्यवस्था चाहिये — अिस जरूरतको न वह स्वय समझता है, न अुसके सगे-सबधी समझते है। दरवाजेकी दरारको बन्द करना, गलेको कपडा लपेटना, झोपडी-जैसे मकानको छज्जेसे सुशोभित बनाना, बिछौनेके पास बर्तन रखना या मोरीघर बनाना — ये सब सुकुमारताके लक्षण माने जाते है। अैसा करनेवाला बडा नाजुक है, यह समझा जाता है। और अैसा करनेमे आलस्य भी आता है। अिन बातोमें खर्चका सवाल शायद ही अुठता है। परतु यह देखनेमे आता है कि अिन कठिनाअियोको सहन कर लेना कुलधर्म-सा माना जाता है। अिसलिअे अैसी अडचनोको सहन करना सद्‌गुण माना जाता है। यह तितिक्षा तो है, परतु तारीफके लायक नही।

अिस प्रकारकी अयोग्य तितिक्षाके कारण सहन करनेवालेको जो असुविधायें अुठानी पडती है, अुनका हम विचार छोड दें। परतु अिसका असर अुसके मानसिक विकास पर कैसा होता है, अुसका हम थोडा विचार करें। बार बार यह देखा गया है कि अिस तरहकी असुविधायें सहन करनेका जिसका स्वभाव बन जाता है, और अैसा करने-करानेमे ही अेक प्रकारकी शिक्षा है, अिस तरहकी जिसकी मान्यता हो जाती है, वह दूसरोके कष्टोके लिअे विशेष सहानुभूति अनुभव नही कर सकता। जो मनुष्य ठड लगने पर भी अपने पासके बिछौने और कबलका अुपयोग नही करता, और अुनका अुपयोग न करनेमें ही विशेषता मानकर बिना कुछ ओढे-बिछाये सोनेकी आदत बना लेता है, अुसको यह खयाल ही नही आता कि दूसरेके लिअे सोनेकी कैसी व्यवस्था रखनी चाहिये। वह यह भी नही समझ

सकता कि जिनके पास बिछाने और ओढ़नेका पूरा साधन नही है, अुनको कष्ट होता होगा।

दया-धर्म और अहिंसा-धर्मकी महिमा गानेवाले हमारे हिन्दू धर्ममे हरिजनादि दलित और दरिद्र जातियो अेवं मूक प्राणियोंके प्रति व्यवहारमें जो अत्यंत बेपरवाही नजर आती है, अुसका कारण मेरी समझमे यह नही कि सवर्णोंमें स्वाभाविक निष्ठुरता रही है या अधिक स्वार्थवृत्ति भरी है, मगर बहुतोंके लिअे तो अिसका कारण केवल यही होता है कि दु:खोंकी कल्पना करनेके विषयमे वे बहुत जड़ होते है। यह जड़ता स्वयं अपनी जीवनचर्यामें भी वे दिखाते हैं। अंग्रेज लोगोमे तितिक्षा कम है, अैसा अुनके परिचय या अितिहाससे पाया नही जाता। परंतु असुविधाओंको दूर करनेके विषयमें वे अुदासीन नही रहते। अिस कारण यदि कष्ट देनेका अिरादा न हो, तो वे दूसरोंके शारीरिक कष्टोंके प्रति हमसे अधिक सहृदयता बताते है। जेलमे मेरा दोनो दफे यह अनुभव रहा कि खुलेमे नहानेके कारण हवा लग जानेसे मुझे खांसी हुआ करती थी, अत: नहानेके लिअे मुझे थोड़ी सी ओटकी आवश्यकता थी। स्नान-घाट पर अेक टट्टा बांध देनेसे यह हो सकता था। परंतु जेलके भारतीय डॉक्टरोंके मनमे यह न आ सका कि अैसा कर देना आवश्यक है। लेकिन अंग्रेज सुपरिण्टेण्डेण्टके मनमे यह बात बैठ गअी और अुसने यह व्यवस्था कर दी। अिसी तरह जब रातको मुझे दमा अुठा करता था और बैठा रहना पड़ता था, तब पीठके लिअे किसी सहारेकी आवश्यकता मालूम होती थी। लोहेकी चारपाअीके साथ लगा हुआ पतरा या भीत अधिक ठंडी होनेके कारण काम नही दे सकती थी। अेक मोटेसे लकडीके तख्तेकी जरूरत थी। परंतु डाक्टरोंकी समझमे यह बात भी नही आती थी। अिसमे भी सुपरिण्टेण्डेण्टने समझदारी बताअी। अिसकी वजह यह नही थी कि डाक्टर कम सहृदय थे, या अैसा करनेका अुन्हें अधिकार नही था। परंतु अुनको स्वानुभवसे मालूम था कि जेलके बाहर भी हम लोग अैसी असुविधाअें सहन कर लेते है; और अैसी सहनशीलताको वे स्वयं योग्य तितिक्षा समझते थे। अिसलिअे अिन

असुविधाओंको सहन करनेमें वे कोअी विशेष कष्ट मान ही न सकते थे। लेकिन ये मिसालें छोड़ दें, क्योंकि आखिरमें तो अिनमें अवि-कारियोंसे सबब था, और सो भी जेलमें। लेकिन बाहरी समाजमें तो रिश्तेदार और मित्र भी अिसी प्रकारकी अयोग्य तितिक्षाका आदर्श रखनेवाले होते हैं। अिसलिअे जिनके प्रति अुनका प्रेम रहता है, अुनके साथ भी वे अिसी प्रकारका व्यवहार कर डालते हैं।

कार्यालयों और दुकानोंमें जो क्लर्क और अन्य कर्मचारीगण काम करते हैं, वे कितने घण्टे तक किस तरह बैठते हैं, खड़े रहते हैं, अुनके लिखने वगैराके लिअे क्या व्यवस्था है, अुनको वायु और प्रकाश मिलता है या नहीं, अुनके पास मेज है या नहीं, है तो वह बराबर मापकी है या नहीं, अिन बातोंमें मालिक बेपरवाह होता है। वह स्वय तो अिस तरफ ध्यान देता ही नहीं, और यदि कर्मचारी अिन सुविधाओंके विषयमें लापरवाह न हो तो वह अुनका दोष माना जाता है। विद्यार्थियोंके विषयमें भी हम जिस तरह बेपरवाह रहते थे, पर अुनकी ओर अब कुछ ध्यान दिया जाने लगा है। परंतु सामान्यत· तो यही अुत्तर दिया जाता है — "हम तो आज तक अिन साधनोंके बिना ही काम करते आये; हमारा काम कभी अिनके बिना रुका नहीं।" यह अुत्तर गलत भी नहीं। पर प्रश्न तो यह है कि अिस तरह काम करते आना कितना अुचित था?

'स्विस फेमिली रॉबिन्सन' का अुपन्यास कअी पाठकोंने पढा होगा। अुसमें अेक युरोपीय परिवारके अेक द्वीपमें फस जानेका वर्णन है। वह वहा पर अपने परिश्रमसे युरोपीय ढगकी सुविधायें धीरे-धीरे किस तरह अुत्पन्न करता है अिसका सुन्दर वर्णन है। चम्मच और कुरसीके बिना भी अुनका काम नहीं चलता था। जगलमें भी अुनके बिना काम चला लेनेमें अुसने संतोष न माना। सीपसे चम्मच और पथ्थर या मिट्टीकी कुर्सी बनानेका परिश्रम करने पर ही अुसे संतोष होता है। मुझे कअी बार कल्पना होती है कि अिसकी जगह कोअी भारतीय अुपन्यासकार 'रविसेन' नामके हिन्दू परिवारका चित्र खींचे, तो अुसमें जंगलमें मंगल करनेकी अपेक्षा बड़े महलमें रहते हुअे भी

वह परिवार किस प्रकारकी असुविधायें भोगता रहता था, अिसीका रसमय वर्णन करनेमे अच्छी सफलता प्राप्त कर सकेगा।

११

सात्त्विक तितिक्षा

पिछले प्रकरणमे तितिक्षाके अयोग्य प्रकारोकी कल्पना दी है। अब यहां अिस बातका विचार करेंगे कि अुसके योग्य या सात्त्विक प्रकार क्या है। कोअी अैसा न समझे कि जिस गुणका महत्त्व बतलाते हुअे गीताने यहां तक कहा है कि अुसके होनेसे मनुष्य मोक्ष-पदके योग्य बनता है, अुसे मैं तुच्छ समझता हू।

मनुष्य चाहे जितना धनाढ्य और समृद्ध हो, और अपने शारीरिक स्वास्थ्यके लिअे वह चाहे जितना प्रबंध करे, तो भी ऋतुओंके फेर-फार और परिस्थितिके भेदसे सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदिके सुख-दु ख और अुनके फलस्वरूप जरा, व्याधि आदिके कष्ट प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें आते ही रहते हैं। हुमायू वगैरा बड़े बडे बादशाहोंके जीवनमें कैसी कैसी क्रातियां हुअी, और अुनके कारण अुन्हे किस प्रकार सर्दी-गरमी, भूख-प्यास, आकस्मिक विपत्तियो आदिसे परेशान होना पड़ा, यह हम सबने अितिहासमे पढा है, अनेक बार देखा भी है और हम सबको अुसका थोडा-बहुत अनुभव भी होगा। यह तो हम जानते ही है कि बादशाह सप्तम अेडवर्डकी मृत्यु सर्दी लग जानेसे हुअी थी, और पंचम ज्यॉर्जको जुकाम होनेके समाचार तो हमने कअी दफे पढे है। हम यह नही कह सकते कि अुन्हे सर्दीसे बचनेके साधनोंकी कोअी कमी थी, अिस कारण वे बीमार पड़े। परतु जीवनमें अैसे प्रसंग आते ही रहते है, और कालके अधीन रहनेवाला कोअी भी प्राणी अिनसे सर्वथा मुक्त नही रह सकता। अिनसे यह सृष्टिका

नियम ही है, अैसा हमें ठीक ठीक समझ लेना चाहिये और अैसे प्रसंग हमारे जीवनमें भी कभी न कभी आना सभव है यह मान लेना चाहिये। यह जरूरी है कि अिन विपत्तियोके खयालसे और अिनके आ जाने पर हम अधीर न बनें, कर्तव्यसे हटनेका विचार न करें, अीश्वरकी कृपा हम पर नही है, अथवा हम पर अुसकी अव-कृपा हुअी है, यह न मानें अथवा यह न सोचे कि अीश्वर हमारे साथ अन्याय करता है या दूसरोंके साथ पक्षपात करता है। दु ख आने पर जो मनुष्य अिस प्रकारका धैर्य धारण नही कर सकता, अथवा दु खके भयसे अपना कर्तव्य करनेको तैयार नही होता, अुसमे तितिक्षाका अभाव है और यह अभाव जीवनके अुत्कर्षमें बाधक है।

फिर अैसे कष्टोके आ जाने पर अुनको दूर करनेके लिअे कअी मनुष्य जिस प्रकारके अुद्यम-अुपाय करते हं, अुनमें विवेक, न्याय और धर्म नही रहता। मै भूखा हू, मेरी पत्नी भी भूखी है। दोनोंके लिअे पर्याप्त अन्न घरमें नही है। जो कुछ थोडा-सा अन्न पड़ा है, मै खा लेता हूं, और पत्नीको अपने भाग्यको दोष देनेका अुपदेश करता हूं। मै और मेरा अेक साथी यात्रा कर रहे हैं। मेरे साथीने अपने साथ ओढनेके लिअे अेक कम्बल रख लिया है। मै ठहरा आलसी। जहा पहुचूगा वहा कुछ-न-कुछ तो मिल ही जायगा, अिस विचारसे साथमें कुछ नही रखता। अब अेक जगह पहुचते हैं। वहा मुझे कम्बल नही मिल पाता है। तब मेरा यह कर्तव्य हो जाता है कि मै सर्दी सहन कर लू। लेकिन आलस्यके साथ स्वार्थ न हो अैसा कम ही देखनेमें आता है। अपने मित्रकी अनुपस्थितिमें मै अुसका कम्बल ओढकर सो जाता हू। वह सोनेके लिअे आता है, तो मुझे अपना कम्बल ओढे सोता हुआ देखता है। फिर वह बेचारा खुद सर्दीमे ठिठुरता हुआ पड रहता है। मेरा तितिक्षाका यह अभाव दोषरूप है। और भी अेक अुदाहरण लीजिये। अत्यत गर्मी पड़ रही है। मैं कमरेमें बैठा हू। दरवाजे पर खसकी टट्टी लगा रखी है, और सिर पर अेक पखा टगा हुआ है। अेक लड़का बाहर गर्म लूमे बैठा हुआ टट्टी पर थोड़ी-थोड़ी देरमें पानी छिडकता है और पखा चला रहा

है। अुसके भी तो सर्दी-गर्मीका अनुभव करनेवाली ज्ञानेंद्रियां है, अिस बातका मैं कभी खयाल ही नही करता। गर्मीसे अुसे नींदका झोका आ जाता है। टट्टी सूख जाती है और पंखा वद हो जाता है। मुझे गर्मी मालूम होती है। मैं लड़के पर गुस्सा होता हूं। कष्ट-निवारणका यह अुपाय दोषरूप है। मेरा यह कार्य मेरी अतितिक्षाका परिणाम है। हममे अितनी तितिक्षा तो अवश्य ही होनी चाहिये कि अिस प्रकार हम अपना कष्ट-निवारण न किया करें।

अतितिक्षाका अेक और भी अुदाहरण देता हूं। दूध और फल अपने स्वास्थ्यके लिअे मैं आवश्यक समझता हूं। मैं अेक अैसी जगह अतिथि होकर जाता हूं, जहां अिन पदार्थोका मिलना असंभव तो नही पर महाकठिन है। तीन मीलके अदर दूध नही मिलता; फलोंके लिये २५ मील दूरके शहरमे ही आदमी भेजा जाय तब काम बन सकता है। मेरा यजमान भावुक होने पर भी निर्धन मनुष्य है, पर स्वाभिमानी है। यदि मैं अिस तरहका भाव दिखाअूं कि विना दूध और फलके मुझे अत्यंत असुविधा होगी, तो वह अपना यह धर्म मान लेगा कि अुसे हर तरहका प्रयत्न और खर्च करके मेहमानके लिअे दूध और फल मगाने ही चाहिये। अैसे समय पर मेरा यह फर्ज है कि मैं दूध और फलकी गरज न रखूं — न बताअूं, जो कुछ वहा मिल जाय अुस पर ही अपना गुजारा कर लू, और स्वास्थ्यको हानि पहुचाना भी मंजूर कर लू। यह तितिक्षा आवश्यक है। अमुक प्रकारके कर्तव्य स्वीकार किये जायं, तो अिस-अिस प्रकारकी असुविधाअें सहन करनी होगी, अिस विचारसे यदि हम अुन कर्तव्य-कर्मोसे दूर भागते है तो वह भी अतितिक्षा है। कर्तव्य-कर्मके समय जो व्यक्ति अिस प्रकारकी असुविधाओंका खयाल किया करता है, वह मोक्ष — श्रेय — पानेके योग्य नही हो सकता, गीताका यह बोध बिलकुल ठीक है।

लेकिन अूपरके दृष्टान्तोसे कोअी अैसा मान ले कि आधा पेट भोजन करके या सर्दीमें विना कंबलके ही सोकर, अथवा गर्मीमें

लूमें बैठकर और दूध व फलोका परित्याग करके ही जीवननिर्वाह करनेकी आदत डालनी चाहिये, तो मेरी नम्र संमतिमें वह भूल है। जहां तक जीवन-धारण करनेका हमारे लिअे कोअी प्रयोजन है, वहा तक पर्याप्त अन्नादि प्राप्त करना स्वास्थ्यके लिअे आवश्यक और अुप-युक्त अन्न, वस्त्र, गृह आदि प्राप्त करना और सबको ये प्राप्त हो जाय अैसा प्रयत्न करना हमारा धर्म है। जिस गावमें दूध-फलादि प्राप्त नही होते, वहांसे भाग जाना भी धर्म नही। दो-चार रोज ही ठहरना हो, तो अुनके विना चला न सकना भी धर्म नहीं कहा जायगा। लेकिन रोज वही रहना हो तो अुस गावमें दूध-फल पैदा करनेका — और अपने ही लिअे नहीं, वल्कि सबके लिअे पैदा करनेका — प्रबंध न करके तितिक्षाका सबक सिखाना भी धर्म नही है। किसी अुदात्त ध्येयको सिद्ध करनेके लिअे अुस पर हम अिस तरह आशिक हो जायं कि 'रूखा सूखा रामका टुकड़ा, चिकना और सलोना क्या' वाली वृत्ति हमारी बन जाय, तो यह तितिक्षा आवश्यक है। लेकिन जब जनताके रूखे-सूखे टुकड़े पर घी और नमक किस तरह लगाया जा सकता है, अिस प्रश्नका हल करना ही कर्तव्य हो जाता है, तब तितिक्षाका विचार करना कर्तव्य नही माना जा सकता।

तितिक्षा शौर्य्य वृत्तिका अेक प्रकार है। शूर सिपाही शत्रुके बाणोंसे विद्ध होने तथा युद्धके अन्य कष्टोंकी कल्पनासे कांप नहीं अुठता, किन्तु अुनका सामना करनेमें ही अपनी शोभा समझता है। लेकिन अिसका अर्थ यह नही कि वह युद्धके कष्टोंसे बचनेका कोअी प्रबन्ध नही करता। वह ढाल रखता है, जिरहबख्तर पहनता है, और और सरंजाम भी रखता है।

पेशवाअी जमानेके अेक मराठा सरदारकी बात प्रसिद्ध है। वह नाअीसे हजामत बनवा रहा था। नाअीकी लापरवाहीसे सरदारको अुस्तरा लग गया। अिससे सरदारने नाअीको डांटा। नाअी बोलनेमें पीछे रहनेवाला न था। अुसने ताना मारा, "अुस्तरेके अितनेसे घावसे आप घबराते हैं, तो लड़ाअीमें तलवारके घाव कैसे सहेंगे?"

सरदार तुरन्त खड़ा हो गया और अुसने नाअीके पांवको अपने पांवसे दवाकर अेक भाला अपने पांवके और दूसरा भाला नाअीके पावके आरपार भोंक दिया! नाअी तो चीखने-चिल्लाने लगा। सरदारने अुसी हालतमें शांत खड़े रहकर कहा, "क्यों? मेरी सहनशक्ति तुझे देखनी थी न? लेकिन लड़ाअीमें तलवारके घाव सहन करने पडेंगे, अिसके लिअे विना कारण तेरे अुस्तरेका घाव क्यों सहन करना चाहिये?" नाअी क्षमा मांगकर अपने पांवसे भाला खींचनेके लिअे सरदारसे आजिजी करने लगा। तव सरदारने अपने और नाअीके पांवसे भाला निकाला।

मैं यह तो नहीं कहूंगा कि तितिक्षा केवल मनोवलका ही परिणाम है और अुसके लिअे थोड़ी आदत डालनेवाली तालीमकी विलकुल जरूरत नहीं। लेकिन अगर वह आदतकी ही तालीम हो, तो वह जड तितिक्षा हो जाती है।

१२

त्यागका आदर्श

१

निम्नलिखित आशयका अेक पत्र मेरे पास आया है:—

"जगत्‌में मनुष्यकी जो औसत आमदनी हो, अुससे अधिक खर्च करना मैं अेक तरहका गुनाह समझता हूं। अिस मुख्य तत्त्वका अनुसरण करके मैंने अपने आहारके संवंधमें नीचे लिखे कुछ नियम वना रखे हैं:—

(१) किसी भी प्रकारका पकवान न खाना; (२) किसी भी प्रकारकी साग-भाजी न खाना; (३) दूध, दही, छाछ, घी और तेल न खाना; (४) पिछले आठ माससे, ग्रामोद्योगके अन्नोंके अतिरिक्त अन्य अन्न न खाना; (५) शक्कर और गुड़ न खाना।

"अिन नियमोंको मैं जेलसे छूटा, तभीसे — करीब दो सालसे — पाल रहा हू। पर अिन्हे अभी मैंने स्थायी व्रतोंके रूपमें ग्रहण नही किया है। अैसा करनेके पहले मैं आपकी राय ले लेना चाहता हू। अभी हालमे मैं चावल, जुवार, बाजरा या गेहूका आटा, मिर्च, खटाअी और नमक, अितनी ही चीजे खाता हू। नमक छोड दू या नही, अिस विचारमें पडा हुआ हू। अेक ही समयके भोजनमें भात और रोटी अेक साथ नही लेता। फल खा सकता हू, पर यह नही कि हमेशा खाता हू, प्याज खाता हू क्योंकि यह सबको सुलभ है, सस्ता है और पौष्टिक भी है। पकवान, शक्कर, भैंसका दूध और ग्रामोद्योगी अन्नके अलावा दूसरे अन्न, अितनी चीजे तो स्थायी रूपसे छोड दी है, अैसा समझिये। लेकिन दूसरी चीजोंके बारेमें आप जैसी सूचना देंगे, वैसा अुनमें फेरफार कर लूगा।

"और भी कुछ नियम मैंने ले रखे है, वे ये है —

(१) नाटक, सिनेमा आदि राग-रगसे दूर रहना; (२) अुन मदिरोंमें दर्शन करने न जाना जहा हरिजन न जा सकते हो, (३) जो धार्मिक समझी जानेवाली विधियां केवल रूढि पर ही अवलबित हो, अुनका बहिष्कार करना, (४) राष्ट्रहित-विरोधी कामोंमे सम्मिलित न होना।

"आजकल मैं बढअीका काम सीख रहा हू। थोडे दिन बाद अिस कामकी परीक्षा होगी। अुसके बाद किसी गावमे बैठ जानेका विचार है। मुझे अग्रेजी नही आती। मैं महाराष्ट्री ब्राह्मण हू।"

अिन सज्जनको मैंने स्वतत्र जवाब दे दिया है, और मेरी सलाहके नुसार अपने आहारमे अिन्होंने फेरफार भी किया है। पर अिस कारके कितने ही पत्र आते हैं। अिसलिअे अुनमें पेश की हुअी चार-पद्धतिकी चर्चा मैं यहा जरा विस्तारसे करना चाहता हूं।

अेक जमाना वह था, जब साधारणतया लोग श्रीमंत होनेका ही आदर्श अपने सामने रखते थे। दूसरोंके जितना पैसा हमारे पास भी हो, यह अुनकी कामना रहती थी। पैसे पर ही दृष्टि रखकर अुसीकी आराधना की जाती थी। गरीबको घृणाकी दृष्टिसे देखते थे। वह अेक अनिष्ट वस्तु मानी जाती थी। आसपासके धनवान स्पृहणीय मालूम होते थे, और मनोरथ लोगोका यह रहता था कि अैसी शक्ति प्राप्त की जाय, जिससे कि हम भी अुनकी पंक्तिमे बैठ सकें। पर आज तो अुस भावनाका प्रवाह अुलटी दिशामे बह रहा है। आज पैसा आवश्यक भले ही मालूम होता हो, पर आदरणीय, पूजनीय मालूम नही होता। गरीबी भले ही कष्टप्रद लगती हो, पर अुसके प्रति अब आदर या समभाव मालूम होता है। सेवाभावी, आदर्शवादी और महत्त्वाकांक्षी युवक गरीबोंके साथ अधिकाधिक अेक-रूप होनेकी अिच्छा कर रहे हैं। धन प्राप्त करनेके लिअे जो जो साहसके काम किसी समय किये जाते थे, अुनसे भी अधिक कठिन साहसके काम करनेका — अपना शरीर रोगी और समयसे पहले ही वृद्धावस्थाका शिकार बन जाय, अपने सगे-संबधी भी सदा कष्ट भोगते रहें, अैसे अैसे जोखिम अुठानेका — अुत्साह आज युवकोमे पाया जाता है। गाधीजीने जीवनके आदर्शके संबंधमे समाजके दृष्टिबिंदुमे यह कितनी भारी क्रान्ति कर दी है! अभी साबलीमें जैसा कि अुन्होने कहा था, किसी सेवकको अगर ५० या ७५ रुपया मासिक लेना पड़ता है, तो वह अिस अभिमानसे नही लेता कि वह खुद अुतने रुपयेके लिअे योग्य है, अुसका अुतने रुपये पर हक है, या अितने रुपये लेकर वह कोअी त्याग करता है; वह तो अितना रुपया दु:ख मानकर लेता है। अिससे कममें अुसका काम नही चल सकता, यह बात अुसे शूलकी तरह चुभती रहती है। सरकारी या धंधेवाले सेवककी मनोवृत्ति अिससे अुलटी ही होती है। जिसे ५० मिलते हैं अुसे अगर ७५ नही दिये जाते तो वह अैसा समझता है कि अुसके साथ अन्याय किया जा रहा है। और ७५ वाला अपनेको १०० का हकदार समझता है।

अिस तरह अुक्त सज्जनके त्यागके पीछे जो अेक अुदात्त भावना है, वह सराहनीय है। दरिद्र जनताके प्रति अपनी करुणावृत्ति किसी भी प्रत्यक्ष रीतिसे दिखानेकी अुत्कण्ठा तो सदा ही आदरणीय मालूम होती है। तो भी मुझे लगता है कि अिस त्यागके पीछे थोड़ी गलत विचार-पद्धति भी है।

धनवान बननेका आदर्श जिस प्रकार गलत है, अुसी प्रकार अविवेकसे दारिद्र्यको छातीसे लगाये रखनेका आदर्श भी गलत है। यह सही है कि खुद धनवान बनने या कुटुंबियोकी सुख-समृद्धिके लिअे दिन-रात चिन्तामें पड़े रहनेका हमारा ध्येय नही है, पर अिसके साथ ही यह याद रखना चाहिये कि समाजको दारिद्र्यमें सडाते रहनेका भी हमारा ध्येय नही। हमारा ध्येय अुस दारुण दारिद्र्यको दूर करनेका है, जो आज दुनियाको पीस रहा है; यानी हमारा ध्येय दारिद्र्यकी पूजा करने या अुसे टिकाये रखनेका नहीं, किन्तु अुसे हटानेका है। दारिद्र्यके टिके रहने या बढनेमें हमारा भोगमय जीवन जिस अंश तक कारणरूप हो, अुतने अशका त्याग करना आवश्यक ही समझा जाना चाहिये; धनवानोका धन पर अधिकार जितने अशमें अिसका कारण है, अुतने अशमें अुनसे अुसका त्याग कराना भी आवश्यक है। जमीन या आमदनीका अन्यायपूर्ण विभाजन जितने अशमें अिसके लिअे कारण-भूत है, अुतने अंशमें वह भी जरूर सुधारना पडेगा; अुत्पादन तथा व्यापारकी पद्धति जितने अश तक विषमताका पोषण करती है, अुतने अशमें वह भी बदलनी पडेगी, पर अिसके साथ ही हमें यह भी न भूलना चाहिये कि जितने अशमे अुत्पादनकी कमी, अज्ञान, आलस्य, निरुद्यम, व्यसन, अतिभोग, अुडाअूपन, खर्चीली रूढिया, अप्रामाणिकता, अनीति, परतत्रता, साधनो या बुद्धिकी कमी आदि दारिद्र्यके कारण है, अुतने अशमें अुन्हें भी दूर करना है।

अर्थात्, जिस पैमाने पर आज दरिद्र लोग जिन्दगी बसर करते है, अुसकी अथवा दुनियाकी औसत आमदनीके आकड़ोकी मर्यादा निश्चित

करके* अुतनेसे जीवनका जो पैमाना निश्चित किया जा सके वही अुचित पैमाना है, यह निश्चित रूपसे नही कहा जा सकता। दरिद्रोका पैमाना अेक हीन पैमाना है, अिसीलिअे तो हमें अुन पर दया आती है। अिसलिअे अिस पैमानेको जीवनका सच्चा पैमाना नही समझना चाहिये। हम यह अिच्छा करे कि अिस पैमाने पर कोअी न रहे, किसीको न रहना पड़े। जो हम दूसरोंके लिअे चाहें, अुसीकी अिच्छा हमें अपने लिअे और अपने कुटुम्बियोंके लिअे भी करनी चाहिये। नही तो, खुद हमारे हाथोसे हीन पैमाना कायम करने या अुसे अधिक हीन बनानेका भी परिणाम आ सकता है।

अिसलिअे यह नही भूलना चाहिये कि दरिद्रोंके साथ अेकरूप होनेके लिअे हमे खुद दारिद्र्य-पीड़ित नही बनना है। साथ ही, यह भी सत्य है कि स्वयं लक्ष्मीपति बनकर या रहकर दरिद्रोंके साथ अेक-रूप होनेकी बात नही की जा सकती। अिसलिअे अुचित मार्ग रहा अब बीचका और विवेकका। दोनो रुग्ण दशाओको छोड़कर हमें स्वतंत्र, नीरोगी जीवनका नियम खोजना चाहिये। हम यह अिच्छा करे कि जगत्‌में हरअेक मनुष्य दीर्घायु भोगे, जब तक जीये शरीरसे नीरोग और बलवान रहे, परिश्रम कर सकने लायक शक्ति अुसके शरीरमे हो, यदि कामवासना हो तो गृहस्थ बनकर वह अैसी संतानका पिता और

---

* औसत आमदनीके आंकड़ोके आधार पर अक्सर कल्पनाअे करनेमें भूल होती है। अेक सामान्य कल्पना करनेके लिअे ये आंकड़े ठीक होते हैं। पर अधिकांश मनुष्य अिसी पैमाने पर जीते हैं, यह न मानें। यह तो गणित है, और बहुत ही स्थूल गणित है। शास्त्रार्थ करनेमें ही अिसका अुपयोग होता है, तब तक तो वह निर्दोष है। लेकिन जब अिनके आधार पर जीवनके नियम निश्चित करनेका प्रयत्न होता है, तब भारी भूल ही होती है। हिन्दुस्तानमें मनुष्यकी औसत अुम्र २३ बरसकी मानी जाती है। अिसलिअे क्या हम २३ बरससे अधिक न जीनेका आदर्श बना सकते हैं? अिस गणितका हमें अिस तरह अुपयोग नही करना चाहिये।

पालक वने, जो मानव-जातिके लिअे भूपणरूप कही जा सके, और वुद्धिमान वनकर समाजका अेक आवश्यक और अुपयोगी अग सिद्ध हो सके।

अिस तरहके जीवनके लिअे कितना और किस प्रकारका आहार चाहिये, कैसा और कितना वड़ा मकान चाहिये, कितनी और कैसी शिक्षा चाहिये, कितनी अन्य सुख-सुविधाअें चाहिये, अिस सवका अेक विलकुल निश्चित पैमाना न भी हो, तो भी स्थूल और कामचलाअू होना अशक्य नही। अर्थात् यह पैमाना केवल काल्पनिक न हो, वल्कि हमारे विचारके अनुसार यदि समाज चले तो थोडे वर्पोमें अुस पर अमल हो सके अैसा व्यावहारिक होना चाहिये। मानव-जीवनके आवश्यक धारण-पोपणका यह हमारा कम-से-कम पैमाना समझा जाय। अिस सम्बन्धमें भले ही थोड़ासा मतभेद हो। अुदाहरणार्थ, गाधीजीने आजके वाजार-भाव पर गावोंके अैसे कुटुम्बके लिअे, जिसमे दो जन काम करनेवाले हो और तीन जन आश्रित, तीस रुपये मासिकका पैमाना वतलाया है। सभव है कि किसीको यह वहुत नीचा मालूम हो, किसीको यह विचारसे भारी नही, पर अव्यावहारिक-सा लगे। हम भले ही कोअी दूसरा पैमाना ठीक और व्यावहारिक मानें पर हम जो भी पैमाना निश्चित करे, अुससे अुतरता हुआ पैमाना अपने खुदके लिअे भी नही रखें। खास कर जिसे शरीरके प्रति तुरन्त ही आत्महत्या कर डालने जैसा वैराग्य नही पैदा हुआ है, जिसके जीवनमें कुछ भी रस वाकी रहा है, जो गृहस्थाश्रमी है, या जिसने दूसरोंका अुत्तरदायित्व ले रखा है अुसे अपने धारण-पोपणके नियम अैसे नही वनाने चाहिये, जो अिन हेतुओंके सिद्ध होनेमें विघ्नरूप हो जायं।

हरिजनसेवक, २५-४-'३६

२

दरिद्रोंके साथ अेकरूप होनेका दृष्टिविन्दु क्या है, अिस विषयमें साधारणतया मैं अपने गत लेखमें कह चुका हूं। अुसमें किफायतशारी, सादगी, अुद्योग आदिके लिअे अवश्य स्थान है। पर अेक विचित्र

प्रकारकी विचारसरणीके परिणामस्वरूप हमें अेक अैसी टेव पड़ गअी है कि जिससे मितव्ययिता तथा व्रत-नियमका क्षेत्र हमे केवल खाने-पीनेकी चीजोमें ही सूझता है। भोजनखर्च कम करनेकी मानो जनसेवकोमें अेक प्रतिस्पर्धा ही चल रही है! अेक आश्रमने अेक वर्ष तक साढ़े तीन रुपये मासिकमें खानेका प्रयोग किया, और अभिमानपूर्वक अिस बातका अुल्लेख भी किया। मैंने पूछा, "अिससे आप लोगोको क्या अनुभव हुआ?" व्यवस्थापकने कहा, "सबके शरीर बिगड़ गये, अतः हमें यह प्रयोग छोड़ देना पड़ा।" अेक ब्राह्मण ग्रेज्युअेट सज्जनने दूध-घी छोड़ दिया। शुरूमें कअी साल अुन्होंने अध्यापकका काम किया, फिर जेल गये। बादमे अैसी आंतें बना ली कि दाल अुन्हे अब पच ही नही सकती। नतीजा क्या हुआ? अर्श आदि अनेक बीमारियोसे पीड़ित हो गये। मलेरियाने अलग घर दबाया। अभीसे बूढे जैसे दिखने लगे हैं। बुखार तो चला गया है। पर शरीरमे शक्ति ही नही आ रही है। खेती वगैरा मेहनतका काम खुद करनेका अुत्साह तो बहुत है, पर करें तो किस तरह? दूसरे अेक सज्जन आध्यात्मिक दृष्टिसे अिसी प्रकारके प्रयोग करके क्षय रोगके शिकार हो गये हैं।

मेरी राय है कि भोजन-खर्च १० या १२ रुपया मासिक हो तो भी महंगा नही। अन्य अनावश्यक खर्चोमे काटछांट की जाय, तो भोजन खर्च कभी भारी पड नही सकता। 'यह पापी पेट ही तो सब कराता है,' अैसा दोषारोपण भले ही गरीब पेट पर किया जाय, पर आजके जमानेमें मैंने तो यह हिसाब लगाया है कि मनुष्य पेटके लिअे जितना पैसा खर्च करता है, अुससे कही ज्यादा वह दूसरी, और वह भी अनावश्यक चीजों पर खर्च करता है। बहुतसे गरीब आदमी भी अिसके अपवाद नही हैं। हमारे बुजुर्ग तो हमेशासे यह कहते आ रहे हैं कि किसी गृहस्थके यहां दो आदमी भोजन कर जायं तो वे अुसे कभी भारी मालूम नही पड़ेंगे; भारी तो दूसरे-दूसरे खर्च ही पड़ते हैं। यह बात आज विशेषतः सत्य है।

त्याग-वैराग्यकी, विषय-विकारोंके शमनके लिअे देह-दमनकी या दरिद्र भाअी-बहनोंके प्रति अनुकंपाकी भावनासे प्रेरित होकर खाने-

पीनेमें त्यागके भारी भारी नियम लेनेसे व्यक्ति या समाजको कोअी लाभ नहीं होता। क्योंकि अैसे नियमोंका लम्बे समय तक पालन नहीं किया जा सकता। अेक वात जरूर याद रखनेकी है। वह यह कि जब तक मनुष्यके जीवनका अंतिम ध्येय सिद्ध नहीं होता, कुछ जानने, पाने या करनेको बाकी रह जाता है, तब तक वह अपने शरीरको जान-बूझकर मरने नहीं देता। विकारवश या भावनावश होकर वह अमुक हद तक मरने या शरीरको विगडने देनेका प्रयत्न जरूर कर डालता है, पर अुसके वाद अुसका साहस रुक जाता है, और फिर जीवित रहने या शरीरको फिरसे ठिकाने पर लानेका अुसे प्रयत्न करना पड़ता है। अैसा करनेके लिअे अुसे अितना मिथ्या प्रयत्न करना पड़ता है जो अुसकी स्थितिके मनुष्यके लिअे अयोग्य माना जाता है, दूसरोंका आश्रय खोजना पडता है, और सभी नियमो, व्रतो और सिद्धान्तोको समेटकर अेक तरफ रख देनेका भी मौका आ जाता है। और यह सब करने पर भी अैसा होता है कि शरीरकी रक्षा करनेमें अुसे कामयावी नहीं मिलती। दरिद्रोंके साथ पूरी तरहसे अेकरूप होनेमें या आध्यात्मिक साधनमें जो कमी रहती है, अुसकी अपेक्षा अिस तरहका जो परिणाम आता है अुसमें मै अधिक आध्यात्मिक, सामाजिक अेव आर्थिक हानि देखता हूं।

और किफ़ायतकी दृष्टिसे भोजनखर्चमें काटछांट करना मुझे तो दरवाजे खुले रखकर मोरीको वन्द कर देने जैसी बात लगती है। आज नवयुवकोंका — जिनमें अधिकांश कार्यकर्ता और अुनकी सस्थाअें भी आ जाती हैं — तार, डाक, यात्रा, कागजपत्रोंकी छपाअी, फाअुन्टेन पेन, केमेरा, टॉर्च, सुगंधित साबुन, वालोंकी कटाअी आदिका खर्च अितना अधिक वढ़ गया है कि अगर अुसमें वे काफी काट-छाट कर डालें, तो वे और अुनके साथी तथा आश्रित विना किसी तरहकी कठिनाअीके वडे मजेमें खा-पी सकते हैं। पर ज्यादातर सस्थाओंमें अिस तरहके खर्च हर साल वढ़ते ही जाते हैं। मेरे पास अनेक संस्थाओंकी रिपोर्टें आती रहती हैं। शायद ही कोअी अैसी रिपोर्ट मेरे देखनेमें आती है, जिसमें दो-चार फोटो न हो। गवर्नर संस्था देखने आते हैं, तो

अुनके साथ ग्रुपका फोटो खिंचाना जरूरी है। महात्माजी जाते हैं तो अुनकी सभाका फोटो होना ही चाहिये। मेरे जैसा कोअी साधारण मनुष्य अध्यक्ष बना हो, तब भी अुसका फोटो तो चाहिये ही। सब लोग साथमें कातने बैठें तो अुसका भी फोटो, साथ भोजन करने बैठें तो अुसका भी अेक फोटो और कुदाली-फावड़ा लेकर सफाअी करने चले तो वहांका भी फोटो। अमुक जगह हरिजन-बालकोंको नहलाया जाता है। व्यवस्थापक महाशयको लगता है कि अितनी-सी बात रिपोर्टमें लिख देनेसे काम कैसे चल सकता है — फोटो तो देना ही चाहिये! मानो हमें अैसा लगता है कि हमारे हरअेक काममें कोअी-न-कोअी अैसी अलौकिकता है कि अुसका चित्रप्रदर्शन करना भी समाजकी अेक सेवा ही है। यह यहां तक होता है कि किसी जगह जब आग लगती है तब अुधर तो कुछ तरुण पानीकी बालटी लेकर दौड़ते हैं और अिधर कुछ युवक अुनका फोटो खीचनेके लिअे केमेरा लेकर दौड़ पड़ते हैं। भले हम यह मान लें कि सार्वजनिक फंडोंकी अेक पाअी भी अैसे फोटो पर खर्च नहीं होती, तो भी यह धनका अपव्यय तो है ही।

यही स्थिति तार, डाक, और प्रवासके खर्चकी भी है। पहले जिन खबरोंके लिअे पोस्टकार्ड पर्याप्त समझा जाता था, अुन खबरोंके लिअे अब तार दौड़ाये जाते हैं। कोअी तारसे आशीर्वाद मांगता या भेजता है, तो कोअी पुत्र जन्मकी बधाअी ही तारमें भेज देता है। कोअी कोअी तारसे लेख तक भेजते हैं, मांगते तो हैं ही। राजा-महाराजाओं और बड़े-बड़े नेताओंके लिअे यह आवश्यक या अनिवार्य हो सकता है, पर हर कोअी अुसका अनुकरण करने लगे तो यह फिजूलखर्ची ही समझी जायगी। अिस अपव्ययको बचाकर संस्थाअें अपने भोजन-खर्चके लिअे दस रुपया मासिक भी खर्च करें या अींट-चूनेके पक्के मकानमें रहें, तो मैं मानता हूं कि वह पैसा काममें आ गया। पर खर्च कम करनेकी दृष्टिसे खाने-पीनेके जो नियम और प्रयोग आज चल रहे हैं, वे घबराहट पैदा करनेवाले हैं।

सृष्टिके आदि कालसे कोअी भी देहधारी अन्नमय कोशकी अुपासनासे संपूर्णतया मुक्त नहीं हो सका। किन्तु हम हिन्दुओंने अिसकी अुपासना वैरभावमें ही करनेका धर्म सीखा। मानो शरीर ही हमारे लिअे आत्मस्वरूपमें रहनेमें विघ्नरूप है, अिस तरह वैराग्यके नाम पर, स्वराज्यके नाम पर, चित्तशुद्धिके नाम पर, ब्रह्मचर्य-रक्षाके नाम पर, अहिंसाके नाम पर हम खासकर अन्नसे संबंध रखनेवाले व्रतोंका ही अनुसंधान कर सकते हैं; अितनी बात है कि अिसमें दरिद्रोंके प्रति हमदर्दीका हेतु जोड़ दिया गया है। असलमें, जब हम घबरा जाते हैं और कोअी दूसरा अुपाय खोज नहीं सकते, तब अपने आहारमें कुछ फेरफार करना हमें सबसे पहले सूझता है। कोअी स्नेही मर जाता है तो हम दूध छोड देते हैं, बीमार पडता है तो चावल छोड़ देते हैं, व्यापारमें नुकसान आता है तो रविवारका व्रत करने लगते हैं, चौमासा आया कि अेकबार भोजन करनेका नियम ले लेते हैं— अैसी अैसी बातें हमें सहज ही सूझ जाती हैं। अपने स्नेहीका तमाम अुत्तरदायित्व खुद अपने अूपर ले लें, व्यापारमें नुकसान आये तो मेहनत-मजदूरी करें, चौमासेमें आसामियोंका ब्याज छोड़ दें, सावनमें क्रोधका और चैतमें कामका संयम करें—अिस प्रकारके व्रत शायद ही कोअी लेते हैं। अिसका कारण यह है कि हमने अन्नमय कोशको ही आत्माका शत्रु मान लिया है। पर जिस तरह केवल यह मान लेनेसे कि सामने दिखाअी देनेवाली दीवारका कोअी अस्तित्व ही नहीं, वह तो अेक मायिक आभासमात्र है, कोअी अुसके आरपार नहीं जा सकता। अुसी तरह यह मान लेनेसे कि देह और आत्मा भिन्न हैं देहसे कोअी अलग नहीं हो सकता या देहका ममत्व छूट नहीं सकता। फिर भी यह औंधा योगाभ्यास हम करते चले आ रहे हैं, और अिससे हम अपने-आप ही कष्ट भोग रहे हैं। अन्नमय कोशको तो त्यागनेमें हम सफल नहीं हुअे। पर अन्नमें वास करनेवाले ब्रह्मके साथ द्वेष करके हम अपने देशमें ढेरों अन्नके बीच आज भूखों मर रहे हैं, और हमारे भावुक तरुण सहज ही प्राप्त होनेवाले अन्नके साथ कुछ समय द्वेष करके बादमें सारी जिन्दगी अिसी चिन्तामें रहते हैं कि कमजोरीको

हालतमे भी शरीर टिकाये रखनेके लिअे अन्न और आतोंके वीच किस तरह मेल कराया जा सकता है। अथवा जव अिस भूलका अुन्हे पता चलता है, तव तमाम संयमोको छोड़कर मिष्टान्न आदि खाने-खिलानेको ही साधुसेवा तथा अेक महान धर्मकार्य समझ वैठते है।

तव अिस सम्वन्धमें अुचित वृत्ति क्या है? अिसका विचार अगले लेखमे करूंगा।

हरिजनसेवक, २-५-'३६

३

गत दोनो लेखोमे मैंने अपनी सामान्य विचारसरणी रखी है। अुसे व्यावहारिक रूपमें परिणत करके मैंने अिन सज्जनको जो सलाह दी, वह नीचे लिखे अनुसार है:

हमारा धर्म न पिण्ड-पोपक वननेका है, न देह दमनके मार्ग पर जानेका है। शरीरको नीरोग और परिश्रम करने योग्य रखनेके लिअे जितने और जिस प्रकारके आहारकी आवश्यकता होती है, अुतना अवश्य लेना चाहिये। जहां अपनी ही गरीवी अैसा करनेमे आड़े आती हो, वह लाचारी समझी जाय। और अुस स्थितिमें अुसका धर्म अीमानदारीसे दरिद्रताको दूर करना है, अुसे आदर देने योग्य मानना नही।

शरीरको ठीक स्थितिमें रखनेके लिअे शरीरश्रम करनेवाले मनुष्यको दाल, तेल, साग—तरकारी और कभी कभी गुड़की भी जरूरत होती है। जिस मनुष्यका शरीरश्रम थोडा हो, या किसी दूसरे कारणसे अुसे दाल ठीक तरहसे न पचती हो, अथवा शरीरश्रमके साथ साथ दिमागी श्रम भी करना पड़ता हो अुसके लिअे दालकी जगह या अुसके अलावा दूधकी जरूरत होती है। वढती अुम्रमे, वीमारीमें, कमजोरीमे, वुढ़ापेमें और दवाके साथ भी दूध चाहिये। जिसे तेल अनुकूल न पडता हो, अुसके लिअे मक्खन या घी जरूरी है। वैज्ञानिक भले ही कहते हों कि भिन्न भिन्न प्रकारके तेल सव

अेक समान ही हैं, अथवा घीकी जगह तेलसे काम चलाया जा सकता है, पर हमारे अपने अनुभवकी अपेक्षा अैसे वैज्ञानिक मतोका मूल्य अधिक न समझा जाय। धनिया, जीरा, मेथी, हलदी वगैरा कुछेक मसालोकी सहायतासे दाल और कितने ही साग अधिक पचने योग्य बन जाते हैं, अैसा अनुभव है। अिसके कारण हम भले ही न बता सकें या कारण मानसिक भी हो पर अिस अनुभवको महज वैज्ञानिक मतसे कम महत्त्वका नही समझना चाहिये।

दूध, घी, गुड, आटा, चावल, धनिया, जीरा आदि वैभोगकी चीजें नही हैं। पर अिनके द्वारा वैभोग हो सकता है। यह आहार है, वैभोग नही। हलुवा, पूरी, खीर, लड्डू, बरफी आदि मिठाअियां, भजिया, सेव, दाल-मोठ, दहीवडा और खूब तेल, मिर्च, मसाला — ये सब वैभोग हैं। चाय, काफी, बीडी, तम्बाखू, सुपारी आदि व्यसन हैं। वैभोगो और व्यसनोका त्याग करनेमे कोअी हानि है ही नही। अिनका त्याग न करनेवाला मनुष्य भी, विवेकी हो तो, अुन्हें प्राप्त करनेका प्रयत्न कभी न करे। खानेका प्रसग ही आ जाय, तो अेकदम फिसल न पडे। खाते हुअे अुनमें रस न ले, अुनके लिअे बहुत हाय हाय न करे। अिनमें जो चीज अपने शरीरके अनुकूल न हो, अुसे खानेके मोहमे न पडे। अध्यात्म, आरोग्य तथा सार्वजनिक हितकी दृष्टिसे भी यह स्वर्णनियम है।

अिसमें ग्रामोद्योगकी वस्तुअें ही अुपयोगमे लानेका निश्चय अुचित है। ग्रामोद्योग सघकी सूचनाओंमें दोहरी दृष्टि है — गावोकी आर्थिक दृष्टिसे सेवा करना, और जनताको आरोग्यवर्धक आहार बतलाना।

सबको अैसा आहार नही मिल सकता, यह हमारा दुर्भाग्य है। यह दुर्भाग्य दूर करनेके लिअे हमे तनतोड़ प्रयत्न करना चाहिये। जितना हमने खाया हो, अुससे अधिक पैदा करनेके लिअे मेहनत करे। अिस मेहनतमें भले ही सारी अुम्र खप जाय, पर सामाजिक दुर्भाग्यको सामने रखकर हम पूरा आहार न लें, यह हमारे प्रयत्नका स्वरूप नहीं होना चाहिये। प्रयत्न तो पूरा आहार दिलाने और प्राप्त करनेका

होना चाहिये। श्री विनोबाजीने सावलीम समझाया था कि डूबते हुअे मनुष्य पर तरस खाकर हम अुसके साथ डूब जाय, यह हमारा धर्म नही; धर्म तो हमारा अुसे बचानेका प्रयत्न करनेका है। अिस प्रयत्नमे भले हम भी डूब जायं। अिसमें दोप नही। पर हमारा अुद्देश्य डूबनेका नही हो सकता, वह तो स्वय तरकर तारनेका ही हो सकता है।

पर यह कैसे हो सकता है कि मेरा भाअी भूखो मरे और मै खाअू? भूखेको खिलाकर मै खाअू, तो क्या वह मानव-धर्म नही है? मानवधर्म तो है, पर अिसकी मर्यादा हरअेक व्यक्तिके लिअे अलग-अलग है। धर्म-राज्यमे 'गृहमत्री' का अैसा धर्म हो सकता है कि जव तक राज्यमें कोअी प्रजाजन विना किसी अपराधके भूखा रहे, तव तक वह खुद न खाये। यही धर्म अेक गांवके पटेलका हो सकता है, पर अुसकी मर्यादा गांवके लिअे ही होगी। गृहमत्री और पटेलके हाथमें अपनी-अपनी क्षेत्र-मर्यादामे हरेक मनुष्यके लिअे किसी-न-किसी तरह भोजन जुटानेकी व्यवस्था करनेका अधिकार है। यह अुनका कर्तव्य और अभिवचन भी समझा जायगा। देश या गावकी भुखमरीके लिअे वे जवावदार भी समझे जायं। यही धर्म कुटुम्व या संस्थाके वड़े-वूढ़ोको अपने कुटुम्वी, सम्वन्धी, साथी, पाहुने, नौकर-चाकर और घरके प्राणियोकी मर्यादामे पालना है। अिसके अलावा आकस्मिक प्रसंगमे मनुष्यमात्रके लिअे यह धर्म है। हमे यह मालूम हो कि किसी खास आदमीको सारे दिन खाना नही मिला और हम अितने पास हो कि अुस व्यक्तिको भोजन पहुचाया जा सके, तो खुद भूखे रहकर भी अुसे खिलानेका धर्म अुत्पन्न हो जाता है। कोअी मनुष्य केवल अपने गुजारे जितना ही प्राप्त कर सकता हो, तो भी यदि वह रोज अेक भूखे मनुष्य या प्राणीकी परवरिश करता है और अिस कारणसे खुद हमेशा ही अधपेट रहता है, तो अुस पुरुपको वन्दनीय और अुसके त्यागको अेक महान जीवन-यज्ञ समझना चाहिये। पर दूसरोकी परवरिश किये वगैर या अन्न पैदा करनेके लिअे विना कोअी श्रम किये, अथवा वैसा श्रम टालनेके लिअे — केवल अिस ज्ञानसे कि दुनियामें कुछ

मनुष्योंको भूखों मरनेका कष्ट सहना पड़ रहा है — यदि कोअी अधपेट रहनेका व्रत ले ले, तो अुसका वह त्याग भूलभरा है। क्योंकि यह खातिरी तो है नहीं कि अुसका न खाया हुआ अन्न किसी अन्नार्थीके पास ही जायगा। अिन दोनों त्यागोंके पीछे कंजूसपनका दोष छिपा हुआ है।

"अन्नकी निंदा न करना; अन्नको खराब न होने देना, अन्नको बढ़ाना; अन्नार्थीको वापस न लौटाना, यह व्रत हम ले लें" — अिस आशयका अुपनिषद्में अेक अुपदेश है और वह अुचित है।

हरिजनसेवक, २३-५-'३६

१३

लाचारी और आदर्श

'त्यागका आदर्श' शीर्षक मेरे लेखसे कुछ गलतफहमी पैदा हो गअी है। अुसकी मैं सफाअी कर देना चाहता हूं। मेरे पास अेक मित्रका पत्र आया है, जिसका कुछ अंश मैं नीचे अुद्धृत करता हूं :—

"आपको यह मालूम है कि हमारा अुत्कल प्रांत बेहद गरीब है। औसतन् ९० फीसदी आदमियोंको यहां घी-दूध नहीं मिलता। ज्यादा-से-ज्यादा ३॥ रु० मासिक अुनका भोजनखर्च आता है। अिस परिस्थितिमें जो ग्रामसेवक (जो कि टार्च, केमेरा, आदि पर अेक पाअी भी खर्चना पाप समझता है) अिसी दर्जेके लोगोंकी सेवा करेगा, और अपने खाने-पीनेके लिअे अुनके ही अूपर निर्भर होगा, वह यदि अुन ग्रामवासियोंसे १० या १२ रु० मासिककी आशा रखेगा, तो क्या यह अुसकी हृदयहीनता न होगी? . . . अगर तीन आनेके दैनिक खर्चमें विज्ञान-सम्मत खुराक आदिकी व्यवस्था हो सकती है, तो आप क्यों अेक ग्रामसेवकको १० या १२ रु० मासिक खर्च करनेका अुपदेश देते हैं?"

मेरे कहनेका मतलव यह नही है कि हमें भोजनके लिअे १० या १२ रु० मासिक खर्च करना ही चाहिये, और जव तक भोजन-खर्च अुस हद तक नही पहुंचा है, तव तक हमारा सारा भोजन-खर्च निर्दोष है। वास्तवमें १२, १०, ५ या ३, या २ रुपयेसे कोअी मर्यादा वताना भ्रमोत्पादक है। जो भोजन अुड़ीसाके गांवमें रु० ३।। मे मिल जाता है, अुसी पर वम्वअीमें ८-९ रुपये खर्च हो सकते है, और गुजरातमें ५-६ रुपये। मतलव यहां पैसेसे नही, आरोग्यवर्धक अन्नसे है। अगर रु० १ मासिकमें ही आरोग्यवर्वक भोजन मिल जाता हो, तव तो रु० १। तक जानेकी भी जरूरत नही है।

अुड़ीसामे रु० ३।। मे मनुष्यका गुजारा हो जाता है। और सावली (मध्यप्रात)में कअी लोगोका गुजारा सिर्फ अेक रुपया मासिकमें ही हो जाता है। अितनी खुराक पर वे जिन्दा रहते है, परिश्रम करते हैं और प्रजावृद्धि भी करते है। फिर भी वह खुराक गरीरके अुचित धारण-पोषणके लिअे पर्याप्त नही मानी जायगी। अुतनी ही खुराक पर गुजारा करना — यह हमारे लिअे आपद्धर्म या लाचारीकी खुराक हो सकती है। क्या ग्रामसेवक, क्या साधारण जनता सभीके लिअे यह लाचारीकी खुराक आवश्यक हो सकती है। पर अिसे हम आदर्श नही वना सकते, न वनाना चाहिये। आदर्श खुराकका मतलव यह होता है कि अुसमें अधिक प्राप्त करनेके लिअे न हम खुद पुरुषार्थ करे, न जनताको ही अुसके लिअे प्रेरित करे, और अधिक प्राप्त हो जाय तो भी अुसे स्वीकार न करे। वरफी, पेड़ा, लड्डू, आदि पदार्थ आदर्श खुराकमें नही आ सकते। अर्थात्, सहज ही मिल जाने पर भी अुनका परित्याग करनेमें दोष नही है। दूध आदर्श खुराकमें त्याज्य नही है। अुसे स्वयं प्राप्त करना और अैसा प्रयत्न करना कि जनताको भी वह प्राप्त हो सके, हमारा कर्तव्य हो जाता है, और वर्तमान अवस्थामें तो अवश्य ही कर्तव्य है; लेकिन सवको दूध नही मिल सकता, अिसलिअे अुसे छोड़नेका व्रत लेकर वैठ जाना अुचित नहीं। अिसी तरह यदि भिन्न-भिन्न प्रकारके गेहू, चावल आदि धान्य अुत्पन्न होते हों, तो जो गुणमें वढ़िया हो अुन्हें प्राप्त करना और जनताको

अुन्हें अुत्पन्न करने तथा अुपयोगमें लानेके लिअे प्रेरित करना कर्तव्य है, न कि हीनगुणवाले अन्नसे निर्वाह करनेका व्रत लेना।

मेरा मतलब यह नही कि हम जनतासे यह कहें कि दूध-घी तथा दूसरी अुत्तम खुराक प्राप्त हो, तभी हम अुसकी सेवा करेंगे। सूखे चने फांककर भी हम सेवाकार्यमें डटे रहें। पर अुसी खुराक पर गुजारा करना चाहिये, अैसा आदर्श हम न मान लें। आदर्श तो जनताको अुत्तम और पर्याप्त खुराक पर ले जानेका ही होना चाहिये।

अिस लेख द्वारा मै दूसरी बात यह समझाना चाहता था कि अपने जीवनकी आवश्यकतायें पूरी करनेमें सबसे पहले हम अुत्तम अन्न, वस्त्र और गृह प्राप्त करने पर ध्यान दे, फिर दूसरी चीजो पर। हो सकता है टार्च, केमेरा आदि पर अुड़ीसाके ग्राम-सेवक अेक पाअी भी खर्च न कर सकते हो। अन्न, वस्त्र और घरके सिवा दूसरी चीजो पर अुड़ीसाके सेवक या लोग कुछ खर्च नही करते और अच्छे अन्न, वस्त्र और घर प्राप्त करनेमें और रखनेमें ही सर्वप्रथम अपनी शक्ति और धनका व्यय करते है — अैसा कहा जाय तो अुस पर मुझे जरूर शंका होगी। कभी अुड़ीसा जानेका मौका मिल जायगा और अैसा अनुभव होगा, तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी। अुड़ीसाकी जनता और सेवकोका स्वभाव ही यह हो, तो वहाकी प्रख्यात दरिद्रताका कुछ और कारण होना चाहिये। यह लेख मै बिहारके देहातोमे घूमते हुअे लिख रहा हू। यहाके ग्रामसेवकोका भोजनखर्च भी रु० ३ या ३।। के अन्दर होता है। और भी बहुतसी कठिनाअिया वे बरदाश्त करते है। रु० ३ या ३।। की खुराक भी ज्यादातर वे लोग मुट्ठी-भिक्षासे प्राप्त करते है, या किसी गृहस्थके घर जाकर प्राप्त कर लेते है। फिर भी अिसमें वे कष्ट नही मानते। यह अुनकी आदत-सी हो गअी है। अिसलिअे अिस परिस्थितिमें सुधार करनेकी ओर अुनका बहुत ध्यान गया है, अैसा मालूम नही होता। मेरा नम्र निवेदन यह है कि हम अिस परिस्थितिको कष्ट समझकर सहन करे, न कि अुसे आदर्श व्यवस्था समझकर अुसीको ग्रहण करने योग्य मानें। प्रकृतिकी अत्यत कृपावाले अिस प्रान्तमे भी बेचारे बैल धानके सूखे पुआल पर जिन्दा रहते है। और

वैल अितने पर गुजारा कर सकता है, अिस खयालसे वही अुसके लिअे वस है अैसा लोगोने मान लिया है; अिसके फलस्वरूप अिस 'सुजलां सुफला' भूमिमे भी वैलको देखकर जी प्रसन्न नही होता। अिच्छा तो आसू वहानेकी होती है। लेकिन जहा मनुष्य भी अपने लिअे अुसी पैमानेको योग्य मानकर जीवन व्यतीत करता हो, वहां वैलकी हालत अच्छी कैसे हो?

मेरे कहनेका आशय यह नही कि देहाती जनतासे ग्रामसेवक अपनी खुराकके लिअे रु० १० या १२ मागे। पर यह खयाल गलत है कि देहाती जनता जिस खुराक पर अपना निर्वाह करती है, वह पर्याप्त है। जिस पत्रके अुत्तरमे मैंने ये लेख लिखे थे, वह वम्वअीमें रहनेवाले अेक युवकका पत्र था। रु० ३॥ मे हिन्दुस्तानकी अधिकाश जनता अपना निर्वाह कर लेती है, अिसलिअे वम्वअीके अुस युवकको अुतने खर्चमे जितनी खुराक प्राप्त हो सके अुतनीसे ही गुजारा करनेका व्रत लेना और यह मानना कि अिसीसे जनताकी सेवा होती है, गलत है, यही मुझे वताना था। जनताके साथ रहते हुअे, अुसके कष्टोको स्वयं भी सहन करना और सहन करते हुअे अुन्हे हटानेका जतन करना अेक वात है; और केवल सहानुभूतिके कारण दूरसे अपने घरमें वैठे वैठे कष्ट सहनेका व्रत लेना दूसरी वात है। यह दूसरी वात गलत है।

आशा है, अिससे मेरा अभिप्राय स्पष्ट समझमें आ जायगा, और अनर्थ भी न होगा।

हरिजनसेवक, ३०-५-'३६

१४

कार्यकर्ता सावधान !

मैंने 'त्यागका आदर्श' शीर्षक लेखमे यह लिखा था कि कुछ कार्यकर्त्ता भोजनादिमे तो वहुत ही अल्प व्यय करते है, लेकिन केमेरा, टॉर्च आदिमें पैसा विगाड देते हैं। अिस विचार पर अेक सज्जनने यह आक्षेप किया था कि देहाती कार्यकर्ताओंके पास वैसे ही खर्चके लिअे गुजाअिश नही रहती, तब भला वे अिस प्रकारका फिजूल खर्च कैसे करेंगे? अर्थात्, मेरा कहना अुन्हे कुछ अतिशयोक्ति-पूर्ण मालूम हुआ।

अभी मेरे सामने पांच-छ. अुदाहरण अैसे तरुण कार्यकर्त्ताओके हैं, जिनमें मैं सिनमा आदिका शौक वढता हुआ देखता हू। छोटे शहरमे अयवा अुसके आसपासके गावोमें कार्य करनेवाले तरुणोमें — और कभी कभी प्रौढोमें भी — अपने दिलको अिस तरह वहलानेकी अभिलाषा अुत्पन्न होना — जिस परिस्थिति और प्रलोभनोके वीचमे आज हम रहते हैं अुनका विचार करे तो — आश्चर्यकी वात नहीं है। मगर सयम और सेवामय जीवन व्यतीत करनेकी अभिलाषा रखनेवाले सेवकोको अिस व्यसनसे खूब सावधान रहना चाहिये। अेक तरफ तो जनता पैसे-टकेसे तंगदस्त हो रही है और दूसरी ओर अुसके सामने नाटक-सिनेमा वगैराके प्रलोभन दिनोदिन ज्यादा तादादमें पेश किये जा रहे हैं। यह कोअी मामूली आर्थिक सकट नही है। लेकिन सेवा-भावी युवकोंके लिअे तो आर्थिक संकटसे भी अधिक अध पतनकी सामग्री लेकर यह चीज अुपस्थित हो रही है।

यों तुलनात्मक दृष्टिसे देखा जाय तो नाटक और सिनेमा दिल-वहलावके निर्दोष साधन ही माने जाते हैं। यही नही, वल्कि अनेक वार ये ज्ञानवर्धक और कभी कभी शुभ भावनाओके पोपक भी होते हैं। पूज्य गाधीजीने खुद अपनी आत्मकथामे लिखा है कि वरसो पहले

अुन्होंने 'हरिश्चन्द्र नाटक' देखा था और अुसका अुनके दिल पर अमिट असर हुआ। और भी कअी लोग अिसी तरहका अनुभव सुना सकते हैं। अिसका अर्थ यही है कि नाटक और सिनेमामें मनुष्यके दिल पर असर पैदा करनेकी बड़ी तीव्र शक्ति होती है। पाठशाला-ओंकी पढ़ाअीका भी अितना असर नही होता। पर अिसी कारण नाटक और सिनेमा जहां अमृततुल्य है, वहां दूसरी तरफ वे हलाहल भी सिद्ध हो सकते हैं।

नाटक और सिनेमाओंका आकर्षण वढ़ानेके लिअे वस्तु (विषय) के अतिरिक्त रंगभूमि और पात्रोंकी सजावट व शृंगारको भी हमेशा महत्त्व दिया गया है। फिर भी ३०-४० वर्ष पहले तो यह सजावट अुस समय अुपलब्ध होनेवाले सीधे-सादे और थोड़ेसे साधनों तक ही मर्यादित थी। पर आज तो अिस कलाका अितना विकास हो गया है कि अपने पुरखोंको हमने अेक तरफ वैठा दिया है। अिसलिअे हम यह नही कह सकते कि आजके हरिश्चन्द्र नाटकका अभिनय ३०-४० वर्ष पहलेके हरिश्चन्द्रके अभिनयके समान ही सात्त्विक होता है।

और नाटक तो आखिर नाटक ही ठहरा। नाटकका अभिनय कम्पनिया जनताको सुसंस्कारी वनानेके लिअे थोड़े ही करती हैं। वे तो धन कमाना चाहती हैं। अिसलिअे वे तो अुन तमाम तरकीवोंसे काम लेती है, जिनसे लोग आकर्पित होकर वहां आवें। अिसलिअे सात्त्विक नाटकोंमे भी थोड़ी-वहुत अैसी राजस सामग्री रहती ही है, जिससे कि हलकी वृत्तियोंवाले लोगोंकी रुचिका भी अनुरजन हो। "रग भंगका लोटा" वाला गायन तो हरिश्चन्द्र नाटकमें ही है न? कहां सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्रका जीवनादर्श और कहा भंग पीनेसे "मन मैल मिटे, तन तेज चढ़े" वाला अुपदेश! पर अगर अभिनय करनेवाले हरअेक नाटकमें अैसी थोड़ी-वहुत मनोरंजक सामग्री न रखें, तो अुनका काम चल ही नही सकता।

अिस विषयमे भी ३०-४० वर्ष पहलेके मुकावलेमें आज वेहद तरक्की हो गअी है। नाटकका स्थान अव सिनेमाओंने ले लिया है।

और सिनेमाओंमें कहीं-कहीं अैसा सात्त्विक खेल हो, तो भी अुसके आरंभ और अन्तमें हीन वृत्तियोंको अुत्तेजित करनेवाले प्रहसन रहते ही हैं।

नाटक, संगीत वगैरा सब कलायें हैं। कला अपना हृदयगत आनंद व्यक्त करनेका अेक स्थूल साधन है। पर जब वह अपने अिस रूपको छोड़कर आजीविकाके लिअे लोकरंजन करने निकल पड़ती है, तब वह मायाका रूप धारण कर लेती है। सीताजीको सोलहों आने शुद्ध बतानेके लिअे तुलसीदासजीने रामचरित-मानसमें यह कल्पना की है कि रावणके आनेके पहले असली सीताजी अंतर्धान हो गअी और अपने स्थान पर अेक मायिक सीता छोड़ गअी। रावणने जिसका हरण किया, वह असली सीताजी नहीं थी। पर अिस बातको सिवा राम-चंद्रजीके और कोअी जान ही नहीं सका। अिसी तरह पैसे कमानेके लिअे जब कलाका अुपयोग होता है, तब वह असली कला नहीं होती, किन्तु कलाकी मायिक छायामात्र होती है।

अिसलिअे नाटक या सिनेमामें श्रीराम, सीताजी, तारा, तुकाराम, अेकनाथ वगैरा बननेवाले लोग अिन महान् विभूतियोंका अभिनय करने पर भी ज्यों-के-त्यों कोरे ही रहते हैं। कलाकी नहीं बल्कि कलाकी मायिक छायाकी अुपासना करनेके कारण अिन पेशेवर लोगोंमें से अधिकांशका चरित्र भी दिनोदिन हीनताकी ओर जा रहा है और वे अनेक व्यसनोंके शिकार बनते जाते हैं। परिणामस्वरूप, हरिश्चन्द्र और रामकी भूमिकारूपी शक्करके साथ-साथ अिन अभिनेताओंके हीन चरित्रका विष भी प्रेक्षकोंको छुअे बगैर नहीं रहता। अिनकी आंखों और हाथ-पैरसे व्यक्त होनेवाले हावभावोंसे सात्त्विकता नहीं, राजसवृत्ति ही प्रगट होती है।

अिसलिअे ये सात्त्विक कहे जानेवाले सिनेमा तथा नाटक भी अुन युवकोंके लिअे खतरनाक हैं, जो अपने संयम और सेवावृत्तिकी रक्षा करना चाहते हैं। मुझे तो आजके थियेटरोंमें दिखाये जानेवाले नाटक-सिनेमा शराब और तम्बाकूके विषोंसे भी अधिक भयानक मालूम होते हैं। अनुभवी लोग कहते हैं कि तम्बाकू और शराबका व्यसन करनेवाले स्थिरवीर्य नहीं रह सकते। फिर भी अिन व्यसनोंका

सेवन करनेके कुछ समय वाद शायद अिनका असर नही रहता होगा। पर कभी-कभी नाटक-सिनेमाके अेक वारके सेवनका असर भी शायद जीवनभर वना रहता है। और आजीवन न भी रहे, तो भी काफी लंवे समय तक तो रहता ही है। कोअी-न-कोअी विलासी दृश्य, हावभाव या सूक्ष्म सूचन युवकोके चित्त पर संस्कार छोड़ ही जाता है और अिच्छा न होने पर भी अुसकी स्मृति जाग अुठती है और अुनकी तमाम सयम-साधनाको मिट्टीमें मिला देती है, जिसकी अुन्होने वड़ी मेहनतके साथ वरसो अुपासना की है। वासनाअे जागृत हो जाती है और कितने ही दिनोकी संगृहीत शक्तिका वांध टूट जाता है।

कितने ही युवक देशप्रेमकी भावनासे सेवाक्षेत्रमे आये है। मातृभूमिकी सेवामें ही हमारा सारा जीवन अर्पित हो जाय, अैसी अुदात्त साध वे अपने मनमे रखते है। अिनमे से अनेकोने तो अपने परिवारका विरोध भी वरदाश्त किया है, द्रव्यार्जनके लोभ और अवसरोका जान-वूझकर त्याग किया है। कअी वार कुटुम्वी जनोको रुलाया तक है। अगर वे अपने मनोरथोंको सिद्ध करना चाहते है, अपनी मातृभूमिके लिअे अपने सुखोंकी कुरवानी करनेकी शक्ति संपादन करना चाहते है और अुसकी रक्षा करना चाहते है और सेवाक्षेत्रमे डटे रहना चाहते है, तो अुन्हें शराव और तम्वाकूके व्यसनोकी अपेक्षा भी नाटक-सिनेमा आदिके सेवनसे अधिक सावधान रहनेकी जरूरत है। अगर वे अिस तरहका मनोरजन प्राप्त करना ही चाहे, तो संस्थाओके अुत्सवो और सम्मेलनोसे प्राप्त कर सकते है।

अिस्लाम और अीसाअी धर्ममें मुहम्मद और अीसाके नाटक खेलनेकी सख्त मनाही है। हिन्दू धर्ममें अैसी मनाही नही है। मेरी अपनी राय यह है कि धार्मिक व्यक्तियोके नाटक पेशेवाज नटो द्वारा नही खेले जाने चाहिये, और न अैसे नाटकोके प्रयोगों पर किसी प्रकारका टिकट होना चाहिये। नाटककलाके जानकार प्रौढ अुम्रवाले स्त्री-पुरुष केवल भक्तिभावसे अेकाध वार अैसे नाटकोका अभिनय करके दिखाना चाहे, तो भले ही दिखावें। अगर अैसे लोग न मिलें, तो छोटे छोटे वच्चो द्वारा भी अैसे प्रयोग हो सकते है।

हरिजनसेवक, २८–११–'३६

१५

कमजोर सात्त्विकता

हमारे देशमें अेक अच्छासा वर्ग अैसे पढ़े-लिखे और विचार करनेवाले लोगोंका पाया जाता है, जो दिलसे भले हैं, भलाअी चाहते हैं और भलाअीकी राह पर चलकर अपने मन और कर्मोंको ज्यादासे ज्यादा पवित्र बनाते रहना चाहते हैं। लेकिन साथ ही वे अपनेमें अेक तरहकी कमजोरी भी महसूस करते हैं। वे अपने निश्चयों पर स्थिर रहने या अमल करनेकी अपनेमें ताकत नहीं पाते और चाहते हैं कि कोअी अैसा अच्छासा आधार अुन्हें मिल जाय, जिसे पकड़ कर वे आसानीसे अुन्नतिके रास्ते पर चला करें। अपने आसपास वे अैसा कोअी वायु-मण्डल नहीं पाते, जो अुन्हें अच्छे कामों और विचारोंकी हमेशा प्रेरणा करता रहे, अुनका जोश और अुत्साह बढ़ा दे और अपनी सद्भावनाको अमलमें लानेकी तैयार तजवीज और तरकीब बता दे। बल्कि वे अपने आसपासका वायु-मण्डल — घरमें, जातिमें, गांवमें, मंदिरोंमें और मठोंमें, सरकारी दफ्तरोंमें तथा सार्वजनिक संस्थाओंमें — स्वार्थ, तंगदिली, दंभ, छल-कपट आदिसे भरा हुआ देखते हैं। परिणाममें कहीं पर भी अुनका दिल आराम नहीं पाता।

अैसे प्रतिकूल वातावरणसे परेशान होकर कुछ तरुण अेक दिन जोशमें आकर घर छोड़ जाते हैं और किसी दूर स्थान पर किसी प्रसिद्ध पुरुष या आश्रमका आश्रय खोजते हैं। अुत्तरका तरुण दक्षिणमें जाता है और दक्षिणका अुत्तरमें। बाज दफा वहांसे भी निराश होकर वे वापिस घर लौटते हैं और फिर भलाअी तथा अुन्नति परसे ही अुनकी श्रद्धा अुठ जाती है। "दुनियामें भलाअी करनेमें कोअी लाभ नहीं", यह अुनके अनुभवका निचोड़ हो जाता है।

लेकिन, अिस तरह अेक बार भी घर-बार छोड़ सकनेवाले लोग भी तो अिने-गिने ही होते हैं। हजारों आदमियोंके लिअे यह रास्ता भी बन्द-सा होता है। बचपनमें ही पारिवारिक बंधनोंमें वे अिस कदर फंसे हुअे होते हैं कि घरसे दूर जाना और अपने जीवनका

रास्ता विलकुल निराला कर देना अुनके लिअे असंभव होता है। अेक तरफसे अुनमें अितना जोश और कर्तृत्व नहीं होता कि वे अपने आसपासकी कठिनाअियोका सामना करके अुच्च ध्येयके प्रति अपने कदम स्थिरतासे रखते हुअे चले जा सकें। दूसरी तरफसे अुनकी अुच्च जीवन और वायुमण्डलकी भूख वनी रहती है। परिणाममें अुनका जीवन "न मिला ही खुदा, न मिला ही सनम, न अिधरके रहे न अुधरके रहे" –के अनुसार निराश, सदा प्यासा और अप्रसन्न रहता है और स्वभाव भी धीरे-धीरे सात्त्विकता और सत्प्रवृत्तिकी ओर वढ़नेके वजाय क्रोध, आलस्य, कोरी तत्त्व-चर्चा, थोथे वेदान्तकी ओर वढ़नेवाला, हरअेककी कमियोंकी सूक्ष्म खोज करनेवाला वनता जाता है और अकर्मण्यताके प्रति झुकता जाता है।

मै जहां तक सोच सकता हूं, अिन सवके जीवनकी मुख्य समस्या यह है—अुनकी कर्तृत्वशक्ति, त्यागशक्ति और आत्मसंयमकी शक्ति मर्यादित है। फिर भी अुनकी अुन्नतिकी अभिलाषा सच्ची है। वे किस तरह अपने अिर्द-गिर्द ही अुन्नतिकी ओर धकेलनेवाला वायु-मण्डल पैदा करें?

देखने पर मालूम होगा कि अिस मनोदशाके पीछे अेक तरफसे सात्त्विकता और दूसरी तरफसे कमजोरीका मिश्रण है। हमारे समाजमें अैसी वेमेल अवस्था पैदा होनेके कारण यदि हम खोजेंगे तो मेरा खयाल है कि अकसर नीचे लिखी परिस्थितियोमें से अेक या अधिककी हस्ती पायी जायगी।

१. वचपनमें और जवानीके शुरूके दिनोमें प्रसन्नताके साथ शारीरिक मेहनत करनेकी रुचि और आदतका अभाव, घरके काम, खेल-कूद, व्यायाम, हाथ-पैर चलाकर कोअी पदार्थ वनाने या सुधारनेकी मेहनत और कलाके प्रति अरुचि।

२. दिनचर्याका वहुतसा हिस्सा पढ़ने-लिखनेमें लगानेका शौक; फिर वह पढ़ना-लिखना चाहे पाठशालाके विषयोका हो, अुपन्यासोंका हो या धार्मिक साहित्यका ही क्यों न हो।

३. अथवा, अुसमें भी अरुचि, और केवल सुस्त वैठे रहने, वहुत सोने या निकम्मी ग्रामचर्चाअें करनेकी आदत।

४. अपनेमें जो कुछ शक्तियां अथवा सद्‌गुण हों, अुन्हें बढ़ानेके विचारके बदले अपनी कमियोंका ही चिन्तन करते रहनेकी आदत।

५. सर्वत्र अनास्था, अश्रद्धा और भावनाओंकी शुष्कता।

६. तत्त्वज्ञानके अन्तिम सिद्धांतोंके निरीक्षण, अभ्यास और अनुभवके द्वारा प्रतीति पानेकी कोशिश करनेके बदले कल्पना, तर्क और शास्त्रार्थ द्वारा तथा अभ्यास और पोपटपंत्री करके निश्चय बनानेकी कोशिश।

७. धार्मिक ग्रंथोंकी अत्युक्तिपूर्ण और अेकांगी कथाओंको वर्तनका आदर्श समझनेकी भूल। अुदाहरणके लिअे, अतिथि-सत्कारके विषयमें कबीर या चेलैयाका आख्यान, नामस्मरणके बारेमें अजामिलकी कथा आदि।

८. किसी अेक गुण, धर्म या साधनको सब गुणों, धर्मों और साधनोंको परिपूर्ण करनेवाला समझनेकी भूल। अुदाहरणार्थ "अहिंसा परमो धर्मः" कहा है। लेकिन अिसके मानी यह नहीं कि दूसरे गुण, धर्म और साधनोंकी कोअी जरूरत नहीं और अेक अहिंसाकी पराकाष्ठा हो जाय, तो जैसे शरीरके साथ छाया आती है वैसे ही दूसरे गुण, धर्म या साधन आप ही पूर्ण हो जायंगे।

९. व्रत-तप-संयमोंके विषयमें अेक तरफसे बहुत ही भूंचे और असाध्य आदर्शकी कल्पना और दूसरी तरफसे भोगोंमें सामान्य नियमोंका पालन करनेकी अशक्ति और मानसिक अस्थिरता।

१०. अैसा साधन या युक्ति खोजनेकी अिच्छा, जिससे जीवन सुखसे बीते, बहुत पुरुषार्थ या त्याग करना न पड़े, साधन-संयम आदिका कष्ट न अुठाना पड़े, और फिर भी जीवनका पूर्ण अुत्कर्ष और शांति हासिल हो।

११. "सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच.॥*

(गीता, १८-६६)

* सब धर्मोंको छोड़कर मेरे ही शरणमें आ। मैं तुझे सर्व पापोंसे छुड़ा दूंगा। तू चिन्ता न रख॥

—कहकर अैसी साधना और कर्तव्य-पालनके परिश्रमसे मुक्ति देनेवाले तारक गुरुकी खोज।

और भी कुछ कारण वताये जा सकते हैं जैसे असंस्कारी, केवल धन-लोलुप और पुराने खयालोंमें मशगूल परिवारके वीच जीवन, वाल-विवाह आदि।

अगर कमजोर सात्त्विकताका यह निदान सही हो, तो साफ है कि अिन कारणोंको जितनी हद तक अेक आदमी हटा सकेगा, अुतनी हद तक वह अपनी तरक्की कर सकेगा और जीवनमे सहेतुकता, प्रसन्नता और शांतिका अनुभव कर सकेगा और अपने अिर्द-गिर्द अपने और दूसरोंके लिअे भी अेक अच्छा वायु-मण्डल पैदा कर सकेगा।

अिन कारणोंको हटानेके लिअे तीन वस्तुओकी जरूरत है। (१) कुछ वातोंके विषयमें भ्रम-निरास, (२) धृति याने स्थिरता-पूर्वक सतत प्रयत्न और (३) अनुकूल कर्मयोग।

हरअेकके विषयमें थोड़ासा लिख देता हूं।

१. **भ्रम-निरास**—धर्म और साधन-योगसे संवंध रखनेवाली अनेक वातोंमे हमारे दिल पर गलत तत्त्वज्ञान या सच्चे तत्त्वज्ञानकी गलत समझ, और गलत आदर्श, या सच्चे आदर्शकी गलत कल्पनाओंके संस्कार पडे हुअे हैं। मेरे खयालसे मनुष्यकी कर्तृत्व शक्तिके प्रवाहको सुखा देने या रोक देनेमे शुष्क अज्ञानकी अपेक्षा भ्रामक और भ्रमयुक्त ज्ञानका हिस्सा वहुत जवरदस्त होता है। अुदाहरणके तौर पर कुछ अैसे गलत खयाल पेश करता हूं:—

(क) **ज्ञान और मोक्ष**—"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" ज्ञानके विना मोक्ष नहीं, अैसा अुपनिषद्का सूत्र है। सूत्र तो अच्छा है। लेकिन ज्ञान क्या और मोक्ष क्या अिसके वारेमें हमारे दिल पर विचित्र खयालोंका संस्कार पड़ा हुआ है। ज्ञान परसे साक्षात्कार अथवा किसी अनोखी—गूढ़ वस्तुका दर्शन, चौवीस तत्त्वोंकी सूक्ष्म छान-वीन, मायावाद, अलिप्तता, आदिके खयाल वने हुअे है और मोक्षके मानी जन्म-मृत्युसे छुटकारा—अिसे हमने जीवनका सवसे अूंचा और श्रेष्ठ

पुरुषार्थ माना है। फिर जीवनसे संबंध रखनेवाली सैकडो वातोंके वारेमें घोर अज्ञान और भ्रम रखते हुअे, मानव अुत्कर्षके लिअे अनेक आवश्यक गुणोका अभाव होते हुअे भी, अपनी वासनाओका परीक्षण किये विना और योग्य अिलाज पाये विना भी, हम अेकदम ज्ञान और मोक्षकी प्राप्तिको अपना ध्येय वनानेका खयाल करते है और कृत्रिम साधनोके पीछे लगते है।

हमें गर्व है कि हमारे देशने अध्यात्म-विद्यामें पराकाष्ठा प्राप्त की है और न सिर्फ आत्माका अविनाशित्व वल्कि अुसका ब्रह्म या विश्वके मूल तत्त्वके साथ तादात्म्य भी सिद्ध किया है। फिर भी कितना आश्चर्य है कि जन्म-मृत्युका जितना डर हमें है, अुतना किसी दूसरी अज्ञान मानी हुअी मानव या मानवेतर जातियोको भी नही। वास्तवमें देखे तो जन्म तो हो गया और गर्भवास और जन्मके समयके दु ख-सुखका हमें कोअी स्मरण नही। सच तो यह है कि जन्मपूर्वकी परिस्थितिमें १० मासका गर्भवास ही जीवनके लिअे सुरक्षित स्थान होता है और अुसके वाद योग्य समय पर ही अुसका वाहर आना हितावह है। लेकिन कल्पनासे हम भविष्य कालके जन्मोका चित्र खडा कर देते है। और कविने गर्भवासकी यातनाओका जो काल्पनिक वर्णन धार्मिक ग्रथोमें पेश किया है, अुसे सच्चा मानकर अुससे वचनेकी चिन्तामें पडते है। यही वात मृत्युकी है। मृत्युका डर अेक तरहसे स्वाभाविक कहा जा सकता है। अुसके लिअे आत्म-अनात्म विवेक ठीक है। अगर अुतना ही मनुष्य दृढ कर सके तो काफी है। वह न कर सके तो भी,

> "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुव जन्म मृतस्य च।
> तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥" *

(गीता, २–२७)

---

* जो जन्मा है, अुसका मरण निश्चित है, और जो मरा है, अुसका जन्म निश्चित है। अिसलिअे जो वात टल नहीं सकती, अुसका तुझे शोक न करना चाहिये।

--यह विचार वह पक्का कर ले तो भी बस है। लेकिन हमारे दिल पर तो अिस देहकी मृत्युका नही, बल्कि अनेक जन्मोकी भावी मृत्युओंका डर सवार है और कल्पनासे बने हुअे जन्म-मृत्युके भयसे छुटकारा पाना हमारे जीवनका लक्ष्य बन जाता है।

(ख) **नामस्मरण**--हमारे साधन-मार्गमे भी अैसी बहुतसी कृत्रिमताये और विलक्षणतायें पैदा हो गअी है। चित्त-शुद्धिकी साधनामे नामस्मरण अेक अच्छा सहारा अवश्य है और अुसमे जपकी संख्याकी अपेक्षा सतत जागृतिका महत्त्व है। लेकिन कविने अुसकी महिमा वर्णन करते समय अनेक गलत दृष्टान्त खडे कर दिये है। अिसके कारण किसी भी तरह माला फेरते रहने और जप-बैंकमें जपोकी रकम जमा करानेको ही साधना माना जाता है।

(ग) **संयम**--मन, ज्ञानेन्द्रियो और कर्मेन्द्रियोके संयम-नियत्रणके बिना कोअी पुरुष या स्त्री अपना शारीरिक, बौद्धिक या मानसिक विकास और गुणोत्कर्ष नही कर सकता। लेकिन अिनकी अेक अेक बातका जब ब्यौरेवार वर्णन दिया जाता है, तब हरअेकका बडा विलक्षण आदर्श और माहात्म्य खड़ा किया जाता है। स्वभावकी प्राकृत नैसर्गिक प्रेरणाओंको संस्कृत करने और अुन पर अपना स्वामित्व जमानेका क्रम-मार्ग निर्माण करनेकी अपेक्षा अिन प्रेरणाओको नष्ट करनेका आदर्श रखा जाता है, और तरह-तरहके अिन्द्रिय-दमनके व्रत-तप और कृत्रिम नियम बरते जाते हैं। परिणाम यह होता है कि अिन प्रेरणाओंको दबाते रहनेके निष्फल प्रयत्नमे ही सात्त्विक वृत्तिके लोगोंकी बहुतसी शक्ति खर्च हो जाती है। जीवनके अन्त तक दमनमें पूरी सिद्धि तो मिलती ही नही। बीच-बीचमे जोरोसे प्रकृति अपना बल बताती है और अेकाध जबरदस्त और शर्मनाक गलती कराके मनुष्यकी सालोकी साधना और प्रतिष्ठा पर पानी फेर जाती है और कभी-कभी दम्भके नरकमे फेक देती है। अिसकी अपेक्षा जो लोग साधनाके पीछे न पड़कर बर्तनकी अेक धर्म्य-मर्यादामे रहते हुअे संयमी जीवन बसर करते हैं, वे ज्यादा तेजस्वी, कर्त्तव्यनिष्ठ, प्रसन्नचित्त और नीरोग भी पाये जाते हैं।

'कर्मेन्द्रियाणि सयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
अिन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स अुच्यते ।।
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ।।'*

(गीता, ३–६,७)

अिस तरह अनेक तरहके आदर्श, साधना, पूजा-विधि, सदाचार-दुराचारके नियम, पूर्णता-अपूर्णताके माप-दण्ड वगैराके बारेमे गलत खयालोंके हमारे दिल पर गहरे संस्कार पड़े हुअे है। वे हमारी शक्तिको नष्ट करते है और जिन प्रत्यक्ष अज्ञान, रोग, दारिद्र्य, आपसी वैर, छल-कपट, गुलामी वगैरा दु:खोसे मुक्त होनेमे हमारी सात्त्विक बुद्धिका अुपयोग होना चाहिये और हमारी कर्तृत्व-शक्ति लगनी चाहिये, अुनके लिअे पुरुषार्थ करनेसे हमें रोक देते है। भ्रमोकी शिलाके नीचे हमारे पुरुषार्थका स्रोत छिपा है। अिस शिलाको हटाये बिना वह स्रोत बाहर नही निकल पायेगा।

(२) धृति — यह दूसरी महत्त्वकी चीज है। गीतामें बुद्धि और धृतिके भेदोका पास-पास ही जिक्र है। फिर भी हमारे शास्त्रीय-ग्रथोमे मनुष्यकी अुन्नतिमें धृतिके महत्त्व और विकास पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। बुद्धिके नाम पर सूक्ष्म तार्किकताका हमारे विद्वानोमे बहुत ही ज्यादा विकास हुआ है, लेकिन धृतिका बहुत कम खयाल पाया जाता है। धृतिके मानी धारण-शक्ति। बुद्धिसे अेक सिद्धान्तका निर्णय तो कर लिया, लेकिन निष्ठामे अुसी सिद्धान्त पर अपनी जीवन-व्यवस्था करनेके लिअे जो दृढता चाहिये अुसमें हम बड़े ढीले है। सिद्धान्तमे हम सब वेद-धर्मी, जैन-धर्मी या बौद्ध-धर्मी प्राणीमात्रकी समानताके सिद्धान्तका अितने व्यापक रूपमें प्रति-

---

* कर्मेन्द्रियोका सयम करके, अिन्द्रियोके विषयोंका जो मूढ मनुष्य मनसे स्मरण किया करता है, अुसका संयम मिथ्याचार है। परंतु जो अिन्द्रियोंको मनसे नियममें रखता हुआ, अिन्द्रियोंके जरिये अनासक्ति पूर्वक कर्मयोगका आचरण करता है, वह अधिक है।

पादन करेंगे कि किसी मुसलमान या अीसाअीकी तो वैसा करनेकी हिम्मत ही न होगी।

'विद्या-विनय-संपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥' *

(गीता, ५-१८)

अितने विशाल रूपमें समताका प्रतिपादन करनेकी साधारण मुसलमान या अीसाअीकी हिम्मत न होगी। कमके कम मनुष्य और अितर प्राणियोंके बीचमें भेद-दृष्टि रखना शायद वह अपना फर्ज भी बतायेगा। लेकिन अितने बड़े सिद्धान्तकी शिक्षा पाने पर भी न हमारे धर्मात्मा या ब्रह्मनिष्ठ पंडितों और न हमारे अनेक सुधारकों — विचारक, परंतु बड़े परिवारमें रहनेवाले कार्यकर्ताओं — की हिम्मत होती है कि वे अपने घरके भीतरके भागमें अछूतको ले जाय और अपने आसन पर बिठावे तथा अुसके साथ भोजन करें। सबब यह है कि हमने बुद्धिको बढ़ाया है, धृतिको नहीं बढ़ाया। आचारके समय हम कदम-कदम पर व्यावहारिक मुश्किलोंका खयाल करते हैं। परिणामोंसे, यानी अपने पर आनेवाली कठिनाअियोंसे डरते हैं, और कुछ न कुछ बहाना निकालकर सिद्धान्त पर चलनेको टालते हैं। हमारे देशमें अपनी धृति-शक्तिको बढ़ानेकी सिर्फ अपने-आपमें नहीं बल्कि बुद्धिकी शुद्धि-वृद्धिके लिअे भी बहुत बड़ी जरूरत है। क्योंकि जब हम अिस नजरसे हर-अेक सिद्धान्तकी जांच करेंगे कि अुस पर हम किस हद तक चल सकते हैं, तब हमारे सिद्धान्तोंके प्रतिपादनमें अगर कुछ संशोधनकी जरूरत हो तो हम खोज सकेंगे और हमारे सिद्धान्त और वर्तनमें मेल बिठा सकेंगे। यह याद रहे कि जब तक सिद्धान्त और वर्तनमें मेल नहीं बैठता, तबतक कोअी प्रामाणिक मनुष्य शांति नहीं पा सकता।

(३) **अनुकूल कर्मयोग** — यदि हम धृतिके महत्त्वको समझ लें, तो अुसके लिअे अनुकूल कर्मयोगकी अनिवार्यता तुरन्त ही मालूम हो जायगी। अेक सिद्धान्तको अगर हमने मान लिया और अुस पर दृढ़

---

* विद्या-विनय युक्त ब्राह्मण गाय, कुत्ता या चाण्डाल सबमें पंडित समदृष्टि रखते हैं।

रहनेकी जरूरत स्वीकार की, तो अुसे छोटे पैमाने पर ही क्यों न हो शुरू करना लाजिमी हो जाता है। किसी बाह्य-साधनकी जरूरत हो, तो अुसे प्राप्त करनेकी चेष्टा की जाय; किसीके साथकी जरूरत हो, तो साथी ढूंढा जाय। जानकारी हासिल करना हो तो साहित्य खोजा जाय। शारीरिक शक्ति या संयमकी कमी हो, तो वह बढानेकी कोशिश की जाय। अुपासनाकी कमी हो तो अुसे तीव्र किया जाय। थोड़ेमें, मनुष्य बैठा नहीं रह सकता, अुद्योग-परायण हो जाता है। वह अपने पासमें ही अनुकूल वायु-मण्डल बनानेमें सफल होता है।

मैं आशा करता हूं कि ये थोड़े विचार अपनी सात्त्विकताकी कमजोरी हटानेकी अिच्छा रखनेवाले मित्रोंको कुछ मददगार होंगे।

१-१२-'४६

(मूल हिन्दुस्तानी)

१६

कर्मक्षय और प्रवृत्ति

अेक सज्जन मित्र लिखते हैं: "कुछ साधु कहते हैं कि कर्मका संपूर्ण क्षय हुअे बिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। और कर्मसे निवृत्त हुअे बिना कर्मक्षयकी संभावना नहीं है। अिसलिअे निवृत्ति मार्ग ही आत्मज्ञान अथवा मोक्षका मार्ग है। क्योंकि, जो भी कर्म किया जाता है, अुसका फल अवश्य मिलता है। अर्थात् मनुष्य जब तक कर्ममें प्रवृत्त रहेगा, तब तक वह चाहे अनासक्तिसे करता हो तो भी, कर्मफलके भारसे मुक्त नहीं हो सकता। अिससे कर्मबंधनका आवरण हटनेके बदले अुलटा घना होगा। जिसके फलस्वरूप अुसकी साधना खंडित होगी। लोककल्याणकी दृष्टिसे भले अनासक्तिवाला कर्मयोग अिष्ट हो, परंतु अुसमें आत्मज्ञानकी साधना सफल नहीं होगी। अिस विषयमें मैं आपके विचार जानना चाहता हूं।"

मेरी नम्र रायमें कर्म क्या, कर्मका बंधन और क्षय क्या, प्रवृत्ति या निवृत्ति क्या, आत्मज्ञान और मोक्ष क्या, अित्यादिकी हमारी कल्पनाअे बहुत अस्पष्ट है। अतअेव अिस संबंधमें हम अुलझनमें पड़ जाते है, और साधनोमे गोते लगाते रहते है।

अिस संबधमे पहले यह समझ लेना चाहिये कि शरीर, वाणी और मनकी क्रियामात्र कर्म है। कर्मका यदि हम यह अर्थ लेते है, तो जब तक देह है तब तक कोअी भी कर्म करना बिलकुल छोड़ नही सकता। कथाओमे आता है अुस तरह कोअी मुनि चाहे सौ वर्ष तक निर्विकल्प समाधिमे निश्चेष्ट रहकर पडा रहे, परंतु जिस क्षण वह अुठेगा अुस क्षण वह कुछ न कुछ कर्म अवश्य ही करेगा। अिसके अलावा, यदि हमारी कल्पना अैसी हो कि हमारा व्यक्तित्व देहसे परे जन्मजन्मान्तर पानेवाला जीवरूप है, तब तो देहके बिना भी वह क्रियावान रहेगा। यदि कर्मसे निवृत्त हुअे बिना कर्मक्षय नही हो सके, अिसका तो यह अर्थ हुआ कि होनेकी कभी भी संभावना नही है।

अिसलिअे निवृत्ति अथवा निष्कर्मताका अर्थ स्थूल निष्क्रियता समझनेमें भूल होती है। निष्कर्मता सूक्ष्म वस्तु है। वह आध्यात्मिक अर्थात् बौद्धिक, मानसिक, नैतिक, भावना-विषयक और अिससे भी परे बोधात्मक (संवेदनात्मक) है। क, ख, ग, घ, नामके चार व्यक्ति प, फ, ब, भ नामके चार भूखे आदमियोको अेकसा अन्न देते है। चारो बाह्य कर्म करते है, और चारोको समान स्थूल तृप्ति होती है। परतु संभव है क लोभसे देता हो, ख तिरस्कारसे देता हो, ग पुण्येच्छासे देता हो, और घ आत्मभावसे स्वभावत. देता हो। अुसी तरह प दु.ख मानकर लेता हो, फ मेहरबानी मान कर लेता हो, ब अुपकारभावसे लेता हो और भ मित्रभावसे लेता हो। अन्नव्यय और क्षुधातृप्तिरूपी सबका बाह्य फल समान होने पर भी अिन भेदोंके कारण कर्मके बंधन और क्षयकी दृष्टिसे बहुत फर्क हो जाता है। अुसी तरह क, ख, ग, घ से प, फ, ब, भ अन्न मांगे, और चारो व्यक्ति अुन्हे भोजन नही करावें, तो अिसमें कर्मसे समान परावृत्ति है; और

चारोकी स्थूल भूख पर समान परिणाम होता है। फिर भी भोजन न कराने या अन्न न पानेके पीछे रही वुद्धि, भावना, नीति, सवेदना अित्यादिके भेदसे अिस कर्म-परावृत्तिसे भी कर्मके बंधन और क्षय अेकसे नही होंगे।

यहां प्रवृत्ति और निवृत्तिके साथ परावृत्ति और वृत्ति शब्द भी याद रखने जैसे है। परावृत्तिका अर्थ निवृत्ति नहीं है। परतु बहुतसे लोग परावृत्तिको ही निवृत्ति मान बैठते है। और वृत्ति अथवा वर्तनका अर्थ प्रवृत्ति नही है। परंतु बहुतसे लोग वृत्तिको ही प्रवृत्ति समझते हैं। वृत्तिका अर्थ है केवल बरतना। प्रवृत्ति यानी विशेष प्रकारके आध्यात्मिक भावोसे बरतना। परावृत्तिका अर्थ है वर्तनका अभाव; निवृत्तिका अर्थ है वृत्ति तथा परावृत्ति-सबधी प्रवृत्तिसे भिन्न प्रकारकी अेक विशिष्ट आध्यात्मिक संवेदना।

कर्मबंधन और कर्मक्षयके विषयमें बहुतोंका अैसा खयाल मालूम होता है मानो कर्म नामकी हरअेकके पास अेक तरहकी पूजी है। पाच हजार रुपये ट्रंकमें रखे हुअे हों और अुनमें किसी तरहकी वृद्धि न हो, परंतु अुनका खर्च होता रहे, तो दो-चार वर्षमे या पच्चीस वर्षमे तो वे सब अवश्य खर्च हो जायेंगे। परतु यदि मनुष्य अुन्हें किसी कारोबारमें लगाता है, तो अुनमें कमीवेशी होगी और सभव है कि पांच हजारके लाख भी हो जाय या लाख न होकर अुलटा कर्ज हो जाय। वह घाटा भी चिंता और दु:ख अुत्पन्न करता है। सामान्य रूपसे मनुष्य अैसी चिंता और दु:खकी सभावनासे घबडाते नही और लाख होनेकी सभावनासे अप्रसन्न नही होते। वे न तो रुपयोंका क्षय करना चाहते है और न रुपयोंके बंधनमें पड़नेसे दु:खी होते हैं। निवृत्तिमार्गी साधु भी मदिरोंमे और पुस्तकालयोमे बढनेवाले परिग्रहसे चिंतातुर नही होते। परंतु कर्म नामकी पूजीकी हमने अैसी कल्पना की है मानो वह अेक बड़ी गठरी है और खोलकर, जैसे बने वैसे, अुसे खतम कर डालनेमे ही श्रेय है, कर्मका व्यापार करके अुसमें से लाभ अुठानेमें नही। कर्मको पूजीकी तरह समझनेके कारण अुसे लुटानेकी अिस तरहकी कल्पना पैदा हुअी है।

परंतु कर्मका चिपकना — वंधन रुपयोकी गठरी जैसा नही है। और वृत्ति-परावृत्ति (अथवा स्थूल प्रवृत्ति-निवृत्ति) से यह गठरी घटती-वढ़ती नही है। जगत्में कोअी भी क्रिया हो — जानमें हो या अनजानमे हो — वह विविध प्रकारके स्थूल और सूक्ष्म परिणाम अेक ही समयमें या भिन्न भिन्न समयमे, तुरंत या कालान्तरमे, अेक ही साथ या रह रहकर पैदा करती है। अिन परिणामोमें से अेक परिणाम कर्म करने-वालेके ज्ञान और चरित्रके अूपर किसी तरहका रजकण जितना ही असर अुपजानेका होता है। करोड़ों कर्मोंके अैसे करोडो असरोके परिणाम-रूप हरअेक जीवका ज्ञान-चरित्रका व्यक्तित्व वनता है। यह निर्माण यदि अुत्तरोत्तर शुद्ध होता जाय, ज्ञान, धर्म, वैराग्य, अित्यादिकी ओर अधिक अधिक झुकता जाय, तो अुसके कर्मका क्षय होता है अैसा कहा जाता है। यदि वह अुत्तरोत्तर अशुद्ध होता जाय, अज्ञान, अधर्म, राग, अित्यादिके प्रति वढता जाय, तो अुसके कर्मका सचय होता है अैसा कहा जाता है।

अिस तरह कर्मोंकी वृत्ति-परावृत्ति नही, परंतु कर्मका जीवके ज्ञान-चारित्र्य पर होनेवाला असर ही वंधन और मोक्षका कारण है। जीवन-कालमें मोक्ष प्राप्त करनेका अर्थ है अैसी अेक अुच्च स्थितिका आदर्श कि जिस स्थितिके प्राप्त होनेके वाद अुस व्यक्तिके ज्ञान-चारित्र्य पर अैसा असर पैदा ही न हो सके, जिससे अुसमे पुनः अशुद्धि घुस सके।

अिसके लिअे कर्तव्य कर्मोंका विवेक तो अवश्य करना पड़ेगा। अुदाहरणार्थ, अपकर्म नही करने चाहिये; सत्कर्म ही करने चाहिये, कर्तव्यरूप कर्म तो करने ही चाहिये; अकर्तव्य कर्म छोड़ने ही चाहिये; चित्तशुद्धिमे सहायक सिद्ध होनेवाले दान, तप और भक्तिके कर्म करने चाहिये अित्यादि। अिसी तरह कर्म करनेकी रीतिमें भी विवेक करना पड़ेगा; जैसे ज्ञानपूर्वक करना, सावधानीपूर्वक करना, सत्य, अहिंसा आदि नियमोका पालन करते हुअे करना, निष्कामभावमे अथवा अनासक्तिसे करना अित्यादि। परंतु यह कल्पना गलत है कि कर्मोंसे परावृत्त होनेसे कर्मक्षय होता है। कर्तव्यरूप कर्मसे

परावृत्त होने पर कदाचित् सकाम भावसे अथवा आसक्तिसे किये हुअे सत्कर्मोंसे भी अधिक कर्मबंधन होनेकी पूरी संभावना है।

अिसकी अधिक सविस्तर चर्चाके लिअे 'गीतामंथन' पढ़ियेगा।

दिसम्बर, १९४१
('महावीर जैन विद्यालय रजत-स्मारक')

१७

धर्म और तत्त्वज्ञान

. यह सत्य है कि मैं तत्त्वज्ञान और धर्मके विषय पर लिखता आया हूं। परन्तु अिससे यदि कोअी यह कल्पना करे कि मैंने अिस विषयके बहुतसे ग्रन्थ देख लिये होंगे, और कुछ ग्रन्थोंका तो अत्यन्त सूक्ष्मतासे अभ्यास किया होगा, तो वह गलत होगा। 'नाऽमूलं लिख्यते किंचित्' अिस प्राचीन प्रणालिकाका पालन करनेकी योग्यता मुझमें नहीं है। अिस प्रकार अिस विषयमें विद्वत्ताकी कसौटी पर संभव है मैं नापास हो जाअूं।

तत्त्वज्ञान और धर्मके विषयोंका मैंने साहित्यिक अभ्यासकी दृष्टिसे या धार्मिक वाचनके शौककी दृष्टिसे शायद ही विचार किया है। भक्तिमय जीवन मुझे माके दूधके साथ ही मिला था; परन्तु जब तक तत्त्वज्ञान और धर्मका गहरा विचार किये बिना मुझे अपना जीवन निस्सार जैसा नहीं लगा, तब तक मैं अिसमें अधिक गहरा अुतरा नहीं था। जब मुझे पूरा विश्वास हो गया कि 'ज्यां लगी आतमा तत्त्व चीन्यो नहीं, त्यां लगी साधना सर्व जूठी'— जब तक आत्मतत्त्वको पहचाना न जाय तब तक सारी साधना व्यर्थ है, तब मेरे लिअे अिसके पीछे लगे सिवा कोअी चारा नहीं रह गया। अिस प्रकार मुझे अिसकी साधना और शोधमें लगना पडा। अिसमें मुझे जितनी जरूरत महसूस

---

* दिसम्बर १९३७ में कराचीमें हुअे गुजराती साहित्य समेलनके धर्म और तत्त्वज्ञान विभागके सभापति पदसे दिया हुआ व्याख्यान।

हुअी, अुतना ही मैंने पढ़ा। और जितना पढा अुसमे से जितने अुपयोगी मालूम हुअे अुतने सस्कार ले लिये, वाकीका छूट गया।

अितनी मर्यादाओंके साथ पाठकको मेरे विचार लेने चाहिये।

आज धर्म और तत्त्वज्ञानसे संबंध रखनेवाले कितने ही प्रश्न विद्वानोंको अुलझनमे डाले हुअे है। कुछ विषयो पर मेरे विचार आजकी सामान्यत. प्रचलित मान्यताओसे भिन्न दिशामे वह रहे है। अिन सवकी सविस्तर चर्चा करना शक्य नही है। अिसलिअे मैंने अैसा विचार किया है कि अपने मंतव्योंको, दलीलोंके विना, लगभग सूत्र-रूपमे और अिसके परिशिष्टके रूपमे रख दू और अुसकी प्रस्तावनाके रूपमे कुछ विचार पेश करूं।

पाश्चात्य सस्कृति भौतिक अथवा आसुरी है, और पूर्वकी अथवा आर्योंकी संस्कृति आध्यात्मिक अथवा दैवी है; हिन्दुस्तानकी प्रजा वहुत धर्मपरायण है और यही अुसके पतनका कारण है; वगैरा वातें कहनेका हमारे देशमे रिवाज है। मैं अैसा नही मानता, अैसा कहने पर यदि किसीको चोट पहुंचे तो क्षमा करे। यह वात सच है कि वेदान्तकी भाषा और जप-वाक्य (नारे) हमारे देशके कोने कोनेमे फैल गये हैं, हमारे देशमें वर्षाॠतुके घासकी तरह संप्रदाय फूट निकलते है, साधुओके झुंड सारे देशमे अिधर अुधर दिखाअी देते है, राज-नैतिक नेताओकी अपेक्षा व्रह्मज्ञानियोकी संख्या अधिक होनेकी संभावना है, और ससारके दु.खसे दग्ध कितने ही लोगोंको भर जवानीमें वैराग्य आ जाता है। फिर भी मुझे अैसा लगता है कि कुछ नही तो लग-भग हजार वर्षसे हमारे देशमें धर्मका ह्रास हो गया है। तत्त्वकी कहो या अीश्वरकी कहो, प्राणवान् निष्ठाका वहुत अंशोमें लोप हो गया है; और हमारी संस्कृतिमें न आध्यात्मिकता, न धर्मका और न भौतिक विद्याका ही वल रहा है। परंतु अध्यात्मकी चोला पहने क्लोरोफार्म सूंघती हुअी किसी संस्कृतिका शरीर पडा हुआ है। अैसे वड़े देशमे वीच वीचमें कवीर, नानक, सहजानंद, दयानंद या गांधीजी जैसे दो चार अलौकिक व्यक्ति निकल आवें और समाजको झकझोर दें, तो यह कोअी वडी वात नही है। परंतु अिनमें से हर-

अेकअेकी देनके बारेमे विचार करनेसे मालूम पड़ेगा कि अुन्होने प्रचलित तत्त्वज्ञान या धर्ममें जो कुछ नवीन वृद्धि की है अुसकी अपेक्षा अुस पर प्रहार ही ज्यादा किये हैं। जिस प्रकार खेतमे अुगे हुअे कुशको केवल अूपर अूपर काटनेसे वह नष्ट नही होता, अुसे खोदना और जलाना पडता है, अुसी प्रकार तत्त्वज्ञान और धर्मके क्षेत्रमे अुगे हुअे कुशको अुखाड़नेके लिअे अुनमें से कुछ लोगोने प्रयत्न किये और अुसीमें अुनकी सारी जिन्दगी चली गअी। अुनमें से किसीको फसल लेनेका शायद ही अवसर मिला। अुनके बादमें रहनेवालोने तो फिर थोड़े ही समयमें अुतना ही कुश बढ़ा दिया।

हिन्दुस्तानमें दिखाअी देनेवाले भक्तिभावके विषयमें कबीर अेक पदमें कहते है:

> अैसी दिवानी दुनिया भक्तिभाव नहीं बूझेजी।
> कोअी आवे तो बेटा मागे यही गुसाअी दीजेजी।
> कोअी आवे दुःखका मारा हम पर किरपा कीजेजी।
> कोअी आवे तो दौलत मागे भेंट रुपैया लीजेजी।
> सांचेका कोअी गाहक नाही झूठे जगत खोजेजी।
> कहे कबीर सुनो भाअी साधो अंधोको क्या कीजेजी।

परंतु अध्यात्म और धर्मके विरुद्ध अिन प्रहारो और आजके युनिवर्सिटियोमें मे निकले हुअे विद्वानोके प्रहारोमे बहुत अंतर है। सतोने अपने देशके लोगोको अधिक निकटसे और गहराअीसे देखा था। और खुद क्लोरोफार्मके नशेका अनुभव ले चुके थे। अिसलिअे अुनका प्रयत्न सिर्फ क्लोरोफार्मका नशा अुतारनेके लिअे था। अर्वाचीन विद्वान् अैसा नही मानते। वे मानते हैं कि यदि अध्यात्म और धर्मका चोला फाड डाला जाय, तो क्लोरोफार्मका नशा अुतर जायगा और हमारी प्रजामें नवीन प्राणका सचार होगा। यह कपडे बदलकर साहब बनने जैसा है। अिससे 'साहब' तो जरूर कहला सकते हैं। परतु यदि मनमें हीनताका सस्कार रह गया हो, तो गोरे साहबके आगे तेजोहीन होकर ही खडा रहना पडता है।

सब तत्त्वकी ज्ञान-प्राप्तिमें अेक काल मस्तीका आता ही है। नया अंग्रेजी सीखनेवाला लड़का माताको 'ब्रिंग वॉटर', 'सी वॉन्ट हॉट हॉट ब्रेड' का हुक्म देता है; बादमें संस्कृत सीखना शुरू करता है, तब 'जलं आनय' 'अुष्णा अुष्णा गोधूमपत्रिकां यच्छ' के हुक्म देता है। अैसी ही मस्तीका काल तत्त्वज्ञानमें भी आता है। 'मैं ब्रह्म हूं, मैं अिस विश्वका आत्मा हूं, मैं ही राम हूं, मैं ही कृष्ण हूं,' अिस तरह बोलता बोलता वह आनंदमें झूमने लगता है। भौतिक विद्याओंमें भी अैसी मस्ती चढ़ती है। जिस तरह कोअी भक्त 'राम राम' या 'शिव शिव' कहता है, अुसी तरह वह 'अणु, अणु, अणु' या 'मैटर, मैटर' कहता है। परंतु मस्ती कभी ज्ञान नहीं हो सकती। वह बदहजमीकी निशानी है। आत्मामें मस्तीके लिअे मुझे कहीं भी अवकाश दिखाअी नहीं देता। यदि मैं आत्मा या ब्रह्म हूं, तो क्या बाकीका जगत ठीकरा है? यदि मैं ही राम हूं, कृष्ण हूं, अीशु हूं, मुहम्मद हूं, तो जगतके दूसरे प्राणी क्या हैं? और किसीको अैसा कहनेकी मस्ती क्यों नहीं आती है कि 'मैं ही रामा भंगी हूं, मैं ही कासा चमार हूं, जगतकी हीनसे हीन वस्तु मैं ही हूं?' यदि अैसी शुद्ध प्रतीति हो गअी हो कि सारा जगत अेक ही चैतन्य तत्त्व है, तो ब्रह्मानंदकी खुमारीके लिअे अवकाश कहां रहता है? चित्तमें मैं और ब्रह्म अिन दोनोंके अेक ही समय रहनेके लिअे जगह ही कहां है?

सच्चाअी यह है कि हमारे पूर्वजोंने सारे जगत्में अेक अखण्ड, अविनाशी, अभेद्य चैतन्यके अस्तित्वका अनुभव किया पर हमने अुसे अिस तरह साधा कि हमारा प्रत्यगभिमान मिटनेके बदले अुलटा पक्का हुआ। हम पक्के व्यक्तिवादी बन गये। जो अपने ही हितकी अधिक चिंता रखता हो और जगतके हितकी ओर बिलकुल अुदासीन वृत्ति रखता हो, वह अधिक सच्चा मुमुक्षु कहलाता है!

और जिस तरहसे तत्त्वज्ञान सिद्ध किया, अुसका परिणाम भक्तिमार्ग पर भी अच्छा नहीं हुआ। अिससे भक्तिमार्ग कृत्रिम बननेके साथ साथ व्यभिचारी भी बना। अेकेश्वरनिष्ठा, अनन्याश्रय, अेकान्तिक भक्ति, अैसी भावनाके बढ़नेके लिअे वातावरण ही न रहा। वैदिक

देवोंसे भी देवोंकी संख्या वढ गअी और गुरुग्राहीके लिअे रास्ता ज्यादा खुला हो गया सो अलग। "छोडिके श्रीकृष्णदेव, औरकी जो करूं सेव, काटि डारो कर मेरो तीखी तलवारसे" — अैसी अनन्यता कुछ व्यक्तियोंकी ही विशिष्टता वनी। और वह कुछ लोगोंके मतानुसार अनुदारता भी गिनी जाती है। ज्ञानी तो सवके स्तोत्र रचता है, सवको पूजता है और सवकी महिमा वढाता है, और दूसरे ही क्षण कहता है "कौन देव और कौन भक्त, सभी अज्ञानियोंका आचार है!"

अिस स्थितिमें तत्त्वज्ञान और धर्म मूढ, अविकासशील और प्रगतिविरोधी वन जायं तो कोअी आश्चर्य नही।

श्री शंकराचार्यने जिस प्रकार अनुभूतिमात्र आत्माका निरूपण किया है, और श्री वल्लभाचार्यने जिस तरह जगत्का ब्रह्मरूपमें वर्णन किया है, वह मुझे वहुत अंशमें मान्य है। परन्तु अिनके मायावाद और लीलावाद मुझे स्थूल या सूक्ष्म किसी भी अवलोकनमें सच्चे नही लगते। अिसकी अपेक्षा श्री रामानुजका 'जड और जीवरूपी शरीरधारी ब्रह्म' का निरूपण अधिक सरल और कमसे कम स्थूल अवलोकनमें सच्चा लगता है। 'शरीरधारी' के वदले 'स्वभावधारी' कहें, तो गीताके सातवें अध्यायके निरूपणसे वह मिल जाता है। जिस प्रकार व्यवहार-दृष्टिसे वेदान्तको सांख्य-दर्शनका निरूपण लगभग साराका सारा स्वीकार कर लेना पड़ा है, अुसी तरह शांकरवेदान्ती तथा वल्लभवेदांतीके लिअे जगत्के व्यवहारोंमें विशिष्टाद्वैतकी भूमिका रखनी ही पड़ती है। विशिष्टाद्वैत अर्थात् आकाश जैसा अेक नहीं, सफेद और काले जैसा द्वैत नही, परन्तु कडे और कुण्डल जैसी विशेषतावाला अद्वैत। दूसरी तरह कहें तो समानतावाला द्वैत भी कह सकते हैं। "मैं ही राम और कृष्ण हूं" या "मैं ही रामा भंगी या काना चमार हूं", ये दोनो अध्यासयोग हैं, कल्पनाका विहार है, साक्षात् अनुभव नही है। परन्तु जो राम है, जो कृष्ण है, जो भंगी है, जो चमार है, तथा जो मैं हूं, वे सव अेक ही परम चैतन्यके रूप और घटक हैं और अनेक तरहसे अेक ही शरीरके अवयवोंकी तरह अेक दूसरेके साथ जुड़े हुअे

है, यह अैसा सत्य है जो अनुभवमे आ सकता है, व्यवहारमे अुतारा जा सकता है, और साधारण बुद्धिके मनुष्यकी समझमे भी आ सकता है। सामनेकी दीवार जिसे दिखाअी देती है, वह 'दिखाअी देती है' कहे तो अज्ञानी, 'है ही नही' अैसा कहकर भी, वह है अैसा मानकर व्यवहार करे सो ज्ञानी! आत्मामे अज्ञान नही रह सकता; फिर भी अज्ञानके कारण जगत्का भास होता है, परन्तु अुस अज्ञानका भी वास्तविक अस्तित्व नही है! अिस अुपपत्तिने परमेश्वरको अैसा गूढ बना दिया है कि जो वस्तु खुली आंखोसे चारो ओर फैली हुअी दिखाअी देनी चाहिये, वह गायब हो गअी जैसी या केवल काल्पनिक और 'अिनकार' करने जैसी लगती है।

"पानी बिच मीन पियासी,
मोहि सुन सुन आवत हासी;
घरमे वस्तु नजर नही आवत
बन बन फिरत अुदासी।"

अिसका कारण मुझे यह लगता है कि तत्त्वज्ञान और धर्मका विकास आज कितनी ही सदियोसे हमारे देशमे केवल तार्किक तथा साहित्यिक विलासका विषय बन गया है, शोधनका नही। जो अुसका केवल शौक या धधेके लिअे ही अभ्यास करते है, वे बच जाते है; परन्तु जो सत्यको प्राप्त करनेके लिअे अुसका आधार लेते है, वे बेचारे हैरान होते है। अिसीलिअे कबीर कटाक्ष करते है :—

"गौतम, कपिल, कणाद अरु शेष, जैमिनी, व्यास,
षड् धीवर षड् जाल रची डाले जीवको फास।"

जब तर्कशास्त्र और साहित्यका विकास अिस प्रकारसे होता है कि जिस वस्तुको अविद्वान् मनुष्य सरलतासे समझ जाता है, अुसे समझनेमें विद्वान् अुलझनमे पड जाय अथवा अुसे बहुत विस्तारसे समझाना पडे तब यह मानना चाहिये कि अुसके विकासमें कहीं बहुत बडा दोष रह गया है। विद्वानोकी बहुतसी चर्चाअें अिस प्रकारकी होती है। अुदाहरणके लिअे, किसी अविद्वानोकी सभामें जाकर हम पूछे कि गाधीजीको

साहित्यकार कह सकते है या नहीं, तो वे कहेंगे कि हम तो केवल अुनके ही लेख पढकर मार्गदर्शन प्राप्त करते है और हमें अुन्हीके लेख सबसे ज्यादा समझमें आते है। अुन्हे यदि साहित्यकार न कहा जाय तो किसे कहा जाय? फिर भी, विद्वानोकी सभामे अिस प्रश्न पर कमसे कम दो दो दिनतक चर्चा चलाना कठिन नही होगा। और अैसा भी हो सकता है कि अन्तमें बहुमतसे वे अैसे निर्णय पर पहुचें कि गाधीजीको लेखक तो कह सकते हैं, परन्तु साहित्यकार नही।

अिसी तरह किसी अविद्वान्को हम पूछें कि मिठास किसे कहते हैं? तो वह कहेगा कि गुड़के जैसा स्वाद मिठास है। वह मान लेगा कि या तो आपने गुड़ चखा होगा या चख कर जान लेंगे। और यदि अुसे अधिक पूछें कि गुड़ मीठा क्यो लगता है, तो अधिक पिष्ट-पेषण किये बिना अेकदम अुत्तर देगा कि यह अुसका स्वाभाविक धर्म ही है। परन्तु यदि किसी विद्वान्को प्रश्न पूछेंगे तो वह बहुत विचार करके कदाचित् यह अुत्तर देगा. "पदार्थोमें रहनेवाले कुछ कार्बोहाअि-ड्रेट तथा कुछ सल्फाअिड रसायनोका जीभकी लारमें रहनेवाले अमुक निश्चित रसायनोंके साथ सम्बन्ध होनेसे जीभके ज्ञानततुओ पर जो असर होता है, अुसे लोग मिठासके नामसे पहचानते है। और अुसका अैसा ही असर क्यो होता है, अिसके विषयमें अभी तक निश्चित रूपसे नही जाना जा सका है।" यह जवाब बेचारा अविद्वान् तो समझ ही नहीं सकेगा, और विद्वान समझकर भी ज्ञानमें अविद्वान्से आगे नहीं बढ़ सकेगा।

अिसी प्रकार किसी अविद्वान्से हम पूछें कि पाप क्या है और वह कैसे होता है, तो वह कहेगा कि हमारी विवेकबुद्धि और अन्त.करण जो न करनेके लिअे कहे अुसे करना पाप है, अथवा अैसा काम जिससे दूसरेके साथ अन्याय हो या दूसरेको पीडा पहुचे, पाप है; और वह हममें रही हुअी काम , क्रोध, लोभ अित्यादि बलवान वासनाओंके कारण होता है। साधारण जिज्ञासु, परन्तु अविद्वान् मनुष्य अितने निरूपणमें से व्यवहारोपयोगी नियम बना लेगा। परन्तु यदि किसी विद्वान्से ये प्रश्न पूछेंगे, तो वह कहेगा कि पापके स्वरूपके विषयमें

विद्वान् लोग अभी तक छानबीन कर रहे हैं और किसी निर्णय पर नहीं पहुंच सके हैं; क्योंकि पाप-पुण्य सापेक्ष है या निरपेक्ष, सर्वदेशी और सर्वकालीन है या देशकालानुसारी, अिन प्रश्नोंका अभी तक निश्चित निर्णय नहीं हो सका है। यह क्यों होता है, यह निश्चित करना तो और भी कठिन है। क्योंकि काम-क्रोध-लोभ अित्यादि वृत्तियोंको अिसमें जो खराब ही मान लेना पड़ता है, अुसके लिअे कोअी आधार नहीं है। अिस तरह विद्वान् अुलझनमें पड़ जाते हैं। अविद्वान् अुलझनमें नहीं पड़ता, क्योंकि वह जानता है कि मनुष्यमें सफेद और कालेकी परीक्षा करनेकी स्वाभाविक नेत्रशक्ति है, अुसी तरह काम-क्रोध-लोभ अित्यादिकी योग्य और अयोग्य वृत्तियां कौनसी हैं, अुसे परखनेकी भी कुछ कुदरती शक्ति रहती है। अुनके निर्णयों पर आधार रखकर जीवनके सामान्य काम हल हो जाते हैं। जिस तरह समुद्रके अमुक रंगको लाल कहना या हरा, यह अुलझन शायद ही पैदा होती है, अुसी तरह अमुक कामको पाप कहना या पुण्य, यह अुलझन भी रोज रोज पैदा नहीं होती। किसी समय अैसा प्रसंग आने पर किसी अधिक अनुभवी और चतुर व्यक्तिको पूछकर निर्णय कर लिया जायगा।

सरल वस्तुको कठिन बनानेकी कलाका तत्त्वज्ञान और धर्मके विषयमें काफी विकास हुआ है। और यह कला ही बहुतसे धार्मिक झगड़ोंका मूल है। जो वस्तु प्रत्यक्ष अनुभवसे या प्रयोग द्वारा जानी जा सकती है अुसे वादविवाद द्वारा सिद्ध करनेकी कोशिश करनेके अैसे ही परिणाम आते हैं। चार्ल्स द्वितीयकी अेक बात है। अुसने रॉयल सोसायटीके सामने अेक समस्या रखी कि लबालब भरे हुअे पानीके बर्तनमें मरी हुअी मछली छोड़नेसे थोड़ा पानी ढुल जाता है, परंतु जीवित मछली छोड़नेसे नहीं ढुलता अिसका क्या कारण है? कहते हैं कि रॉयल सोसायटीके विद्वानोंने अिसके लिअे अनेक प्रकारके खुलासे लिख कर भेजे। परंतु किसीके खयालमें यह नहीं आया कि पहले अिसका तो निर्णय कर लें कि जीवित मछली छोड़ने पर पानी ढुलता है या नहीं! अिसी तरह तत्त्वज्ञानका पंचीकरणका विषय लीजिये। आकाशसे वायु, वायुसे तेज, तेजसे जल, जलसे पृथ्वी

होती है, जिस तरह हम पिछले अेक हजार वर्षसे रटते आये है। अुस पर वडे वडे संस्कृत और प्राकृत विवेचन लिखे गये हैं । और अेक पंचपचीकृत गणित भी है। अुसमें कहा गया है कि हर अेक महाभूतमें अुस महाभूतका आधा और दूसरे चारमें से हरअेकका आठवा भाग है । यह कितना काल्पनिक गणित है । कपिलने अथवा जो कोअी जिसका मूल अुत्पादक हो अुसने तो कुछ अवलोकन करनेके वाद जिस कार्यकारणकी परंपराकी व्यवस्था की है । परंतु अुसके वाद शायद ही किसीने अुसमें संशोधन-परिवर्धन करनेकी या अुसके सत्यको कसौटी पर कसनेकी तकलीफ अुठाअी है। हां, अुसे केवल अधिक दृढ वनानेके लिअे कल्पना-विलास जरूर किया है।

जिसी तरह साधारण मनुष्यको यह समझनेमे देर नही लगेगी कि जगत्में निश्चित नियमाधीनता है। कुदरतके कुछ अचल नियम है। जगत्का तंत्र हमारी जिच्छानुसार भले न चलता हो, अुसमें अव्य-वस्था नही है। सूखा पत्ता भी किसी नियमके वश होकर ही अपनी जगहसे खिसकता है। फिर भी, योगवासिष्ठके विद्वान् रचयिताने जगत् केवल मायिक है, जिसमे किसी प्रकारकी निश्चित व्यवस्था है ही नही, यह सिद्ध करनेके लिअे अरेवियन नाअिट्सको भी मात कर देनेवाली आश्चर्यजनक कथाओकी कल्पना की है! अुसने पत्थरमें कमल अुगाये है, साध्य कार्यकारण परपरासे विभिन्न प्रकारकी परंपराओवाली सृष्टियोका वर्णन किया है। हरअेक कल्पमे और प्रत्येक ब्रह्माण्डमें राम, कृष्णादिके अवतारोकी आवृत्तिया निकाली है। और सयमी-स्वछदी, चतुर-पागल, दैवी-राक्षसी सव प्रकारके ब्रह्मनिष्ठ समाज सामने रखे हैं। वेचारे साधकको जिन सवका वारवार पारायण करना पडता है । और यह सव अैसा ही है, जिस तरह अपनी वुद्धिमें अुतारनेके लिअे प्रयत्न करना पड़ता है और जव जिसमें शकाअें पैदा हो अथवा यह वस्तु अनुभवमें न अुतरे, तव अपनी साधनामें कुछ त्रुटि समझकर अुद्विग्न रहना पडता है । जो जिन सवका शास्त्रकी रीतिसे वार वार निरूपण कर सकता है, वह हमारे देशमे ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु वनता है!

तत्त्वज्ञानमे सूक्ष्मता और कठिनता जरूर है। बुद्धिमे न अुतर सकें, अैसी अनेक विद्याअे जगत्‌मे हैं। केवल तत्त्वज्ञान ही कठिन है, अैसा नही। परंतु अिसे गूढ (mysterious) मनवाने या बनानेके जो प्रयत्न होते है, अुनमे मुझे रुचि नही है। स्वामीनारायण संप्रदायमें अिसे 'खूणियु ज्ञान'—गुप्त रीतिसे शिष्य पर अनुग्रह करके दिया जानेवाला ज्ञान कहा जाता है। अैसे ज्ञानके प्रति शकाकी दृष्टिसे देखा जाता है। अिसमे बहुतसी गूढता तो केवल शब्दाडम्बर बढाकर ही पैदा की जाती है। तीन देह, तीन अवस्था, अुनके तीन अभिमानी, तीन सृष्टि, तीन सृष्टिकी अवस्थाये और अुनके अभिमानी तीन अीश्वर, चार व्यूह, पांच कोश, सात भूमिकाअे, चौदह प्रकारका ब्रह्मानंद, स्वर्ग, वैकुण्ठ, गोलोक, अक्षरधाम, जीव-अीश्वर-माया-ब्रह्म-परब्रह्म, जीवन्मुक्ति विदेहमुक्ति, अित्यादि अित्यादिके पीछे कितना शब्दविलास हुआ है। यह शब्दविलास मनुष्योकी वास्तविक समस्याको हल करनेमे अधिक मदद नही देता। अिन सबमे कुछ विचारने या समझने जैसा है ही नही, यह बात नही। परंतु अिसके आसपास जिस गूढताका कुहरा छा जाता है, अुससे तत्त्वज्ञान या धर्मको लाभ नही होता।

अिसी तरह धर्मनिरूपणमें मूलको छोड़कर शाखाओको पोसने और अुन्हे चमत्कारोंके शृंगारसे सुसज्जित करनेका आडबर हुआ है। ढाअी हजार वर्ष पहले बुद्धने लोगोके सामने पांच व्रत रखे थे: शराब नही पीना, हत्या नहीं करना, चोरी नही करना, व्यभिचार नही करना और असत्य नही बोलना। बौद्धधर्ममे अिससे अधिक गहन विचार और विषय भी है, अुसका अेक अलग तत्त्वज्ञान भी है। परंतु ये पांच नियम संप्रदायोसे परे सार्वजनिक अुपदेश हैं। अिस अुपदेशको किये २५०० वर्ष हो गये। परतु सवा सौ वर्ष पहले हो गये स्वामीनारायणको भी,

"दारु, माटी,[1] चोरी, अवेरी,[2] चारनो त्याग करी,
भजी ल्योने सहजानंद हरि"

---

१. माटी = मास; २. अवेरी = व्यभिचार।

अैसे अुपदेशके द्वारा गुजरात-काठियावाडकी आम प्रजामें अपनी प्रवृत्ति चलानी पडी। पाचमें से अेक कम करना पड़ा, और वह भी चौवीस-सौ वर्षके वाद! परंतु आज भी क्या स्थिति है? अधिकसे अधिक हम लोगोको शराव छोडनेके लिअे कह सकते है। मासाहारका निषेध करनेकी आज हमारी हिम्मत नही है। अुलटे, शाकाहारियोमें भी अिसका प्रचार होनेके चिह्न दिखाअी देते है। दवाके नामसे तो लिया ही जाता है। व्यभिचार, असत्य और चोरीके प्रति तो लगभग आंख-मिचौनी करके ही चलना पडता है। अैसी हालतमे आम प्रजाके लिअे धर्मोपदेश कितनी वातोमे मर्यादित होना चाहिये, अिसकी कल्पना करनी चाहिये।

शराव, मास, चोरी, व्यभिचार और असत्य — अिन वातोमें विद्वान और सस्कारी कहे जानेवाले वर्ग अविद्वान् और असस्कारी लोगोसे ज्यादा अूचे अुठे होते है, अैसा कुछ नही। फिर भी, यदि कोअी धर्मोपदेशक केवल अितनी ही वातो पर भार देकर विद्वानोके सामने व्याख्यान दे, तो वह प्रतिष्ठा नही प्राप्त कर सकता। अिसलिअे धर्मविवेचकोने मूलोको छोडकर शाखाओको पोसनेका वहुत प्रयत्न किया है। खाद्य भोजन कौनसा, अखाद्य भोजन कौनसा, जूठा क्या, साफ क्या, कौन स्पृश्य, कौन अस्पृश्य अित्यादिका सूक्ष्म विवेचन करते है। नहानेसे, खेती करनेसे, सन्ध्या हो जानेके वाद भोजन करनेसे, विना अुवाला हुआ पानी पीनेसे तथा पैदल चलनेसे कितनी हिंसा होती है, अिसकी सूक्ष्म समीक्षा करते है, परतु धर्मके मूलोको वेधडक अुखाडते है। अर्थात् चोरी, व्यभिचार, मानवहिंसा या मोती अथवा रेशम जैसी धन देनेवाली व्यापारकी हिंसा पर मौन रखते है। फिर भी हम धर्मका कितनी सूक्ष्मतासे विचार करते है या कितनी वारीकीसे अुसका पालन करते है, अिसका हमें अभिमान होता है! अिससे यह सिद्ध होता है कि हमारी विचार करनेकी रीति कितनी विकृतिपूर्ण है।

हम किसी धार्मिक पुरुषके जीवनचरित्र तथा सम्प्रदायकी पुस्तके देखें। अुनमें से सच्चे या वनावटी चमत्कारोकी वातें, पूजायें,

स्वागत-समारोह, भेंट-पूजा, भोज, शृंगार अित्यादिकी बातें निकाल डाले और केवल चरित्रनायकका अितिहास और अुसके चरित्र और गुणोका चित्र देखनेका प्रयत्न करे। अैसा करके देखेंगे तो पता चलेगा कि यह काम धूलमे से धानके कण ढूढनेके समान कठिन है, और फिर भी हम कही भी भूले नही, अैसा विश्वास नही होगा।

मेरे कहनेका आशय यह नही है कि यह हकीकत केवल हमारे ही देशकी है। सब देशोके तत्त्वज्ञान और धर्ममे ये दूषण घुसे हुअे है। परतु हमारा तत्त्वज्ञान और धर्मविचार जगतमे सबसे श्रेष्ठ है, अैसा हमारा दावा है। अिसलिअे ये दूषण हमारे लिअे तो अधिक लज्जास्पद है, और अुनका संशोधन अधिक आवश्यक है।

विद्वानोको अुलझनमें डालनेवाले अनेक प्रश्नोमें मे ये दो प्रश्न भी है—परमेश्वर है या नही; और है तो जगतमे अन्याय, दु:ख अित्यादि क्यो है? अिनकी यहा चर्चा करना कठिन है। यहां तो अितना ही कहूगा·

परमेश्वर है या नही, अिस प्रश्नका केवल तर्कके द्वारा फैसला करना चाहें, तो वह कभी नही हो सकता। अिसमें अनुभवशुद्धि, विचारशुद्धि और भाषाशुद्धि, तथा पहली दोके आधारके रूपमे भावना-शुद्धि-अिन चारोकी अपेक्षा है। जगत् केवल जड तत्त्वका बना हुआ है, या जड और जीव दो तत्त्वोका है या अुनके सिवाय अेक परमात्मा तत्त्व भी है, या न तो पुरुष है और न प्रकृति है, केवल शून्यमे से ही सब पैदा हुआ है, और यह आत्मा या परमात्मा (दो मे से जो भी हो) सगुण है या निर्गुण, कर्ता है या अकर्ता, अिन दोनोके बीचमें द्वैत है, अद्वैत है या विशिष्टाद्वैत है? अैसे अैसे कअी प्रश्न तत्त्वज्ञानके रास्ते जानेवाले हरअेकके मनमें अुठते है। प्राचीन कालसे अिन प्रश्नों पर चर्चा होती आअी है और भविष्यमें भी होगी। जगत्मे परमेश्वर है तो दु:ख और अन्याय क्यो होते है, अिसका अुत्तर भी अिन मूल प्रश्नोके योग्य निराकरणसे संबंध रखता है। जिनके मनमे प्रामाणिक शोधन करते हुअे ये शंकाअे अुठती है, अुनमें

परस्पर अिसकी चर्चा हो तो भी झगडा होनेका कोअी कारण नही है। परमेश्वरके अस्तित्वके विषयमें अश्रद्धा होने मात्रसे कोअी तत्त्व-जिज्ञासु दुराचारी नही हो जाता। परमेश्वरमे श्रद्धा रखने जितनी ही महत्त्वपूर्ण वस्तु मानवतामें श्रद्धा रखना है। मानवतामें जिसकी श्रद्धा नही, वह परमेश्वरका अस्तित्व स्वीकार करे या न करे, नास्तिक ही है। अुनके मनमे ये प्रश्न श्रेयशोधन करते हुअे नही अुठते; वे तो व्यक्तिगत प्रेयशोधनको अनुकूल बनानेके लिअे अिन प्रश्नोकी आड़ लेते हैं।

धार्मिक झगडोको देखेंगे तो मालूम होगा कि सब धर्म अनेके-श्वरवादी हैं। अिनमें पहला अीश्वर सब धर्मोमे अेक ही है। अुसका स्वरूप सद्‌रूप माना गया हो या असद्‌रूप, अुसकी सद्‌रूपता तथा असद्‌रूपता सनातन और स्वाभाविक स्वीकार की गअी है। परतु अिस अीश्वरके साथ हरअेक धर्म दूसरा अेक या अधिक अीश्वर — अथवा अुसके पेशवा या प्रतिनिधि — रखना चाहता है, और यही किसे रखना तथा किस रूपमे रखना अिसके लिअे झगड़े होते हैं। क्योंकि अुसके लिअे यह दावा किया जाता है कि वह तारनहार है। और अिस तरहका दावा करनेवालोको सिर्फ अपने अुद्धारकी चिंता नही होती, परतु दूसरेके अुद्धारकी होती है। तथा आवश्यकता पडने पर बला-त्कारसे, धोखा देकर या लालच बताकर भी अुसे करनेका आग्रह होता है। अिसलिअे, दूसरे धर्मोके प्रतिस्पर्धी पेशवाओको पदभ्रष्ट करनेके लिअे लडाअी करना जरूरी लगता है। जितनी जिहादे पुकारी जाती हैं, वे सब अिन पेशवाओके नामसे ही पुकारी जाती है। अेकको शिवकी अुपासना चालू करनी होती है, दूसरेको विष्णुकी, तीसरेको विष्णुके किसी खास अवतारकी, चौथेको गणपतिकी, पाचवेंको देवीकी, छट्ठेको तीर्थंकरोकी, सातवेंको बुद्धकी, आठवेंको पैगम्बरोकी, नवेंको मसीहकी और दसवेंको आखिरी पैगम्बरकी ही। अिसके अलावा हिन्दूधर्मके भिन्न भिन्न गुरु सप्रदायोमें अपने अपने गुरु परब्रह्मकी। हरअेकको अैसा लगता है कि मेरा पेशवा ही सच्चा है; दूसरे गौण-अधिकारी, पदच्युत हुअे अथवा ढोंगी हैं। मराठाशाहीके समयमें धीरे

धीरे छत्रपतिकी गद्दी अेक कोनेमे रह गअी और पेशवाओंका पद महत्त्वपूर्ण हो गया था। बादमे छत्रपतिके कारण पेशवाकी पेशवाअी नहीं रही, परतु पेशवाओके कारण छत्रपतिकी 'सत्ख्याति' हुअी। और छत्रपतिकी आज्ञाओंकी अपेक्षा पेशवाकी आज्ञाओका अधिक डर लगने लगा। अिसी तरह धर्म संप्रदायोमें परमेश्वरके कारण अुसके पेशवाओंको नही, परतु पेशवाओंके कारण परमेश्वरको 'सत्ख्याति' मिलती है। और अीश्वरके नियमोंकी अपेक्षा अिन पेशवाओंके नियमोका अधिक डर लगता है।

सत्य यह है कि मनुष्यको जो बुद्धि मिली है वह केवल आशीर्वाद रूप नही, शापरूप भी है। अुसके कारण वह मूलको छोड़कर शाखाओमें फंस जाता है, और धर्मको पालनेके प्रयत्नोमें ही अधर्म करने लगता है। क्या यह आश्चर्यकी बात नही है, कि विभिन्न धर्मोंने अीश्वरके स्वरूपका और धर्मके विविध अगोका बहुत ही सूक्ष्म विचार किया है, सूक्ष्म जंतुओकी भी हिंसाका विचार करके अुसका निषेध किया है, परंतु अेक भी महान् धर्ममें स्वयं मनुष्यकी हिंसाका सर्वथा निषेध नहीं किया गया है। मनुष्यने दूसरे बहुतसे पाप माने हैं, परंतु स्वजातिसंहारमे शायद ही पाप माना है। अिसलिअे अेक नही तो दूसरे निमित्तसे, अैहिक न मिलता हो तो पारलौकिक निमित्त अुपस्थित करके भी, वह स्वजातिका संहार करनेके लिअे तत्पर होता है। 'चेतनका गल काटत है, वर पत्थर पाहन मानत है।' जगत्में नास्तिकता और मूर्तिपूजाका विरोध करनेवाले अनेक संप्रदाय है। परंतु खुद नास्तिकता या बुतपरस्तीमें न पडा हो, अैसा अेक भी धर्म नहीं है। कारण यह है कि नास्तिकता और बुतपरस्ती अीश्वरविषयक ज्ञान-अज्ञानमें से ही नही पैदा हुअी है, परंतु स्वजाति-शत्रुत्व और अुसकी हिंसा करनेकी तत्परतामें से तथा अीश्वरके बदलेमे किसे स्वीकार करना चाहिये, अिसके आग्रहमे से पैदा होती है। चेतनकी अपेक्षा जडकी अधिक महिमा समझना, और जड़की ओरके आदरके लिअे चेतनका संहार करना, अिसीका नाम नास्तिकता और बुतपरस्ती है।

अिसका अुपाय क्या है? कितने ही लोग कहते हैं कि धर्मका अुच्छेद करना चाहिये। खूनकी नदियां बहाकर भी धर्मका अुच्छेद करना शक्य नहीं है। जब तक मनुष्य विचारी प्राणी है, श्रेयका शोधक है, ज्ञानका शोधक है, तब तक धार्मिक समाजोंकी रचना होती रहेगी। और जब तक अुसकी बुद्धि और चरित्रका विकास अपूर्ण है तब तक अज्ञान, अंधविश्वास, पक्ष और झगड़े भी होते ही रहेंगे। धर्मके अलावा दूसरे क्षेत्रोंमें भी कुछ कम झगडे नहीं होते। अिस सारी परिस्थितिमें से हमें मानवकल्याणके मार्ग ढूंढने हैं। परिशिष्टमें दिये हुअे सूत्र अिसी हेतुसे लिखे गये हैं। पाठकोंसे निवेदन है कि वे अुन पर मनन करें।

* * *

अंतमें, मानवकी हिंसा न करना, सब मनुष्योंके विषयमें सम-वृत्ति, सर्वधर्मसमभाव, तथा असत्य, मद्य, चोरी और व्यभिचारसे परहेज, व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक स्वच्छता, और जगत्के प्रति कर्तव्य-निष्ठा — ये मनुष्यके कमसे कम सदाचार अथवा धर्म हैं। अिनके बिना बाकी सारा तत्त्वचिंतन, योगाभ्यास या धर्मपालन अपनी छायाको पकड़नेके लिअे की गअी होड ही है। और सारी सूक्ष्मचर्चा परि-णाममें केवल बुधली बुद्धि ही है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्याऽपिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ औश — १५

·१

तत्त्वज्ञान

प्रस्तावना

१. वेद, अर्थात् ज्ञान, अर्थात् अनुभव। वेदान्त अर्थात् ज्ञानका —अनुभवका अंत, जिस मर्यादासे आगे अनुभव नही हो सकता। केवल वेद नामके ग्रथ या वेदान्त नामक दर्शन ही वेद या वेदान्त नही है।

२. तत्त्वज्ञानमे ग्रथका या अनुभवी पुरुषका महत्त्व या प्रामाण्य अुतने ही अंश तक माना जाना चाहिये, जितने अंश तक वह अनुभवको प्रकट करता है या अुसकी ओर हमे ले जाता है।

३. अिस तरह प्राचीन श्रुति-स्मृतियोमें, मध्यकालीन सतवाणीमें, अर्वाचीन ग्रथोमे, बाअिबल, कुरान, बौद्धग्रन्थोमे या जगतकी किसी भी भाषाकी प्राचीन या अर्वाचीन पुस्तकोमे तथा किसी भी देशके किसी जीवित संतकी वाणीमे वेद तथा वेदान्तके वचन हो सकते है, और अुससे विरुद्ध वचन भी हो सकते है। अिसके लिअे ग्रन्थ पढनेका अुत्साह रखनेवालेको सब ग्रंथोको समान आदर तथा विवेचक बुद्धिसे देखना चाहिये। अुस अवलोकनका हेतु है अपने अनुभवको दूसरेके अनुभवसे मिलाना, और अपने अुत्कर्षके लिअे अुसमे से सूचना प्राप्त करना।

४. सब शास्त्रोके बीच किसी भी तरह अेकवाक्यता बैठानेका प्रयत्न करना ठीक नही है।

५. अनुभव और अनुभवकी अुपपत्ति अर्थात् भाषाके द्वारा समझाना और सजाना अेक बात नही है। अेक ही तरहका अनुभव होने पर

भी अलग अलग अनुभव करनेवालोके समझाने और सजानेमें फर्क हो सकता है, अथवा अिससे अुलटा, अेक ही प्रकारकी भाषाका प्रयोग होने पर भी अुनके अनुभवमे फर्क हो सकता है। अिसलिअे अेक ही विषयके निरूपणमें परिभाषाका तथा मण्डनका फर्क पडता है अथवा अेक ही परिभाषा और मण्डनमें से अनेक अर्थ निकलते है।

६ खास करके जब मूल वस्तु अदृश्य होती है और अुसके परिणाम ही दृश्य होते हैं, तब अुस वस्तुके स्वरूपके विषयमें तथा अुसके और परिणामके बीच हुअे व्यापारोके विषयमें अैसी अुपपत्तिके बारेमे बारबार फर्क पडनेकी सभावना रहती है।

७ ज्ञानततुओंके द्वारा होनेवाले (जैसे कि ज्ञानेन्द्रियो, षडूर्मियो, भावनाओ अित्यादिके) सब अनुभवोका भाषा द्वारा पूर्ण रूपसे वर्णन नही किया जा सकता। केवल अुनका अगुलिनिर्देश ही किया जा सकता है। जैसे कि, मिठास अथवा दया, अिन दोनोका हम सबको अनुभव है, अैसा मानकर ही अिन शब्दोका हम सफल अुपयोग कर सकते है। अैसा भी संभव है कि अेक मनुष्यको अमुक अनुभव होने पर भी अुसके प्रति अुसका ध्यान न जाता हो। अुसके लिअे भी भाषा द्वारा किया हुआ वर्णन अुपयोगी हो सकता है। परतु जिस वेदनाका किसी मनुष्यको कभी अनुभव ही नही हुआ हो, अुसे शब्दोसे समझानेमे पूरी सफलता नही मिलती। जैसे जिसे कभी महा-रोग न हुआ हो, अुसे वर्णनसे महारोगीकी वेदनाका पूरा खयाल नही आ सकता।

८. अदृश्य पदार्थोके स्वरूपको, दृश्य परिणामोके अदृश्य कारणोंके स्वरूपको, कारण और कार्यके बीचके व्यापारोके स्वरूपको, तथा जिस अनुभवके प्रति ध्यान न गया हो तथा जो अनुभव कभी हुआ ही न हो, अुसे मनुष्य अुपमा या रूपकोंके द्वारा समझने-समझानेका प्रयत्न करता है। अर्थात् अुसकी किसी स्थूल पदार्थ या स्थूल व्यापारके साथ तुलना करता है और अुसके जैसा ही यह पदार्थ या व्यापार होगा अैसी कल्पना करता है। अिस तरह अदृश्यको दृश्यकी परिभाषामें समझाने सजानेको 'वाद' कह सकते है। अैसे वादोका विज्ञानशास्त्रो तथा

तत्त्वज्ञान दोनोमें अुपयोग होता है। विश्वके मूल तत्त्वके अदृश्य स्वरूपके विषयमें तथा अुसके और दृश्य विश्वके बीचके संबंधके विषयमें अिस तरह वाद रचे जाते हैं। मायावाद, लीलावाद, पुनर्जन्मवाद अित्यादि अिसी तरहके वाद हैं।

९. वाद कोअी सिद्धान्त-नियम अथवा अटल कानून नही है, परतु अेक कामचलाअू समझ है। हरअेक पीढीमे जैसे जैसे जीवनमें अनुभव और अवलोकन वढ़ता है और सूक्ष्म होता है तथा विज्ञान-शास्त्रोका विकास होता है, वैसे वैसे वादोके स्वरूपमें परिवर्तन होता रहता है। कलकी अुपपत्ति आज छोड दी जाती है और नवीन अुपपत्ति पेश की जाती है। अिस वाद द्वारा हम जितने अंशमे अदृश्य पदार्थों या व्यापारोको समझा सकते हैं, अुतने अशमें वह अेक अुपयोगी साधन होता है। जव अिस वादके द्वारा किसी अनुभवको ठीक तरहसे नही समझाया जा सकता, तव अुसे छोडना पड़ता है। अव तकके सारे अनुभवोको अुसके द्वारा समझनेमें सफल हो, तो वह अधिक श्रद्धायोग्य होता है। अैसा करनेमें कोअी वाद सिद्धान्त अथवा नियमके रूपमे भी सिद्ध हो जाता है। परतु तव तक अमुक वादको ही पकड़ रखनेका आग्रह सत्यशोधनमें विघ्नरूप होता है।

१०. तत्त्वज्ञानका विज्ञानके साथ अधिक निकट संवंध है। विज्ञानका विचार सूक्ष्म होने पर तत्त्वज्ञानमे पहुंच जाता है और तत्त्वज्ञानका विचार तफसीलोमे अुतरते अुतरते विज्ञानके क्षेत्रमे पहुच जाता है। तत्त्वज्ञान विज्ञानका निचोड और विज्ञान तत्त्वज्ञानका प्रमाण वने, तो वे परस्पर पूरक माने जा सकते हैं।

११. अनुभवोके ढूंढने, सुधारने, विचारने, तोलने तथा भाषाके द्वारा प्रकट करनेके लिअे तर्कशास्त्र अिन दोनोके लिअे सहायक हो सकता है।

१२. परंतु हमारे देशमे तत्त्वज्ञानको विज्ञानसे अलग करके मानो वह तर्कशास्त्रका अेक परिशिष्ट हो अिस तरह अुसका अभ्यास करनेकी प्रथा पड़ गअी है। वादोंको सिद्धान्त अथवा नियमोका महत्त्व दिया गया है और वे साम्प्रदायिक ममत्वके विषय वन गये हैं। अनुभवोको

वादोकी मददसे समझानेके वदले केवल वादोको समझानेके लिअे वड़ी वड़ी कथाअें रची गअी हैं। अिससे तर्कशास्त्रका तथा कल्पनाशक्तिका दुरुपयोग हुआ है। और तत्त्वज्ञान वहुत अंशमें तार्किक और काल्पनिक वन गया है।

१३. अिसका परिणाम यह हुआ है कि जिज्ञासुके लिअे तत्त्वज्ञानका पाण्डित्य सहायक होनेके वदले वाधक होता है।

१४. और तत्त्वज्ञानका जीवनके सामान्य व्यवहारोंके साथ अर्थात् धर्म, अर्थ और कामके पुरुषार्थोंके साथ — निकट संवंध है। ये चारो अेक दूसरे पर आधार रखनेवाले और परस्पर अुपकारक पुरुषार्थ हैं।

१५. परंतु अिन तीनोंके और तत्त्वज्ञानके वीच रात और दिनका-सा विरोध है, अैसा समझानेसे ज्ञानकी साधना अुलटी दिशामें चली गअी है, और कभी कभी तो आलस, स्वार्थ तथा दुराचारकी तरफ भी झुक गअी है।

१६. सत्यकी शोधके लिअे हमारे देशमें अनेक मनुष्योने काफी त्याग करके अपार परिश्रम किया है, फिर भी अूपरकी मान्यताके परिणामस्वरूप तत्त्वज्ञानने ज्यादातर व्यक्तिवादका ही पोषण किया है।

१७. और, अुसीके परिणामस्वरूप वेदांतके लेखकोने वाल, अुन्मत्त और पिशाचवृत्तिके ज्ञानियोका अेक वर्ग पैदा किया है। अिसमें विचारदोष है। अैसी वृत्तिको आचार, विचार या साधनामें हुअी किसी भारी भूलका परिणाम समझना चाहिये, और वैसे लोगोकी वह अपूर्णता मानी जानी चाहिये।

१८. अैसी ही दूसरी भूल ज्ञानियोको चरित्र और शीलके नियमोंसे परे माननेमें हुअी है। ज्ञानीका चरित्र और शील सामान्य मनुष्योंसे वहुत अूचा होना चाहिये और अुसके द्वारा अिस तरह संशोधन और मार्गदर्शन होना चाहिये, जिससे भूतमात्रका कल्याण हो।

परमेश्वर

१९. अपने अस्तित्व-संबंधी अनुभवो, और जगतमें मिलनेवाले अनुभवोके स्वरूपको सूक्ष्मतासे देखने पर बेशक यह प्रतीति होती है कि सबके मूलमे अेक ही तत्त्व है। जगत्के सब गोचर और अगोचर पदार्थ तथा शक्तिया अिसी तत्त्वमे से निकली है, अिसीमे रहती हैं और जब लय होती हुअी दिखाअी देती है तब अिसीके किन्ही कार्योमे — अर्थात् अेक प्रकारके दृश्योमे से दूसरे प्रकारके दृश्योमे — केवल रूपान्तरित होती है।

२० अिस परमतत्त्वको क्रियाशून्य, चेतनाशून्य, ज्ञानशून्य, प्रेम-शून्य, सुखशून्य अथवा जड़ या विनाशी नही कहा जा सकता। अिसे जड अथवा आदि-अतवाला समझनेमे विचार और अवलोकनकी पूर्ण सूक्ष्मताका अभाव है। अिस सूक्ष्म तत्त्वके स्वरूपका और चाहे जिस तरह वर्णन किया गया हो, फिर भी अितना तो अिस विषयमे अवश्य कहा जा सकता है कि अिसकी सत्ता अविनाशी है। तथा अिसमें क्रिया, ज्ञान, प्रेम और सुखकी शक्तिमत्ता अथवा बीजरूप शक्ति हैं।

२१. अपने अस्तित्व-संबंधी सारे अनुभवोका विश्लेषण करते करते आत्माका स्वरूप अनुभूतिमात्र, ज्ञप्तिमात्र, चिन्मात्र और निरहकार अर्थात् व्यक्तित्वशून्य मालूम पडता है। अिस विश्लेषणको कुछ कम सूक्ष्म करके कहे, तो वह अनुभविता, ज्ञाता, चैतन्य, साक्षी और सत्य-व्यक्ति (अर्थात् सदा अेक रूपमे रहनेवाला) होने पर भी अहतायुक्त प्रत्यगात्मा लगता है। अिससे भी कुछ कम सूक्ष्मतासे कहे, तो वह कर्ता, भोक्ता तथा अुन्नति-अवनतिको प्राप्त करनेवाला जीव लगता है।

२२. अिसी तरह जगत्में प्राप्त होनेवाले अनुभवोके स्वरूपको बहुत सूक्ष्मतासे देखें, तो अुसके मूलतत्त्वका स्वरूप अनुभूतिमात्र, ज्ञप्तिमात्र, चिन्मात्र और व्यक्तित्वशून्य मालूम पडता है। अपने तथा जगत्के अति सूक्ष्म परीक्षणमें व्यक्तित्व दिखाअी न देनेसे, दोनोकी अेकताकी प्रतीति होती है। परंतु अिस सूक्ष्मताको कुछ कम करके बोलें तो अैसा लगता है कि जगत्में कोअी सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी, सर्व-

व्यापक, कर्मफलप्रदाता और तटस्थ सत्त्व है। अिससे भी कम सूक्ष्मता कहें तो अैसा लगता है कि वह अुत्पत्ति-पालन-संहारकर्ता, सबका भोक्ता और सबका स्वामी तथा नियामक है।

२३. अिस परमतत्त्वको भगवान, परमात्मा, ब्रह्म, अल्लाह, खुदा अित्यादिके नामसे पहचानें, और कहें कि अेक परमेश्वरका ही सनातन अस्तित्व है और जो कुछ अलग अलग दिखाअी देता है, अुसमे भी अुसके सिवाय कोअी निराला तत्त्व मिला हुआ नही है।

२४. सब सतोकी यह निश्चित प्रतीति है, परतु परमेश्वरके स्वरूपकी अुपपत्ति देनेमे सतोके निरूपणमें भेद हो जाता है। कुछ संत परमेश्वरको ज्ञप्तिमात्र, अनुभूतिमात्र, चिन्मात्र और सत्तामात्र कहते हैं। कुछ अिसे सत्यकाम, सत्यसंकल्प, सर्वकल्याणकारी गुणोका भण्डार और आनदघन कहते हैं, और कुछ अिसे सबका स्वामी, सबका कर्ता, नियामक, पालक और सहारक कहते हैं। जिस तरह कोअी सिनेमाको शीघ्र गतिसे चलनेवाली चित्रमालाके कारण नेत्रको होनेवाला आभास कहे, और कोअी गतिमान पदार्थोकी चित्र-परपरा कहे और कोअी हिलनेवाले चित्र कहे, अुस तरह अिन निरूपणोका भेद है। जिस तरह सामान्य मनुष्योको 'हिलनेवाले चित्र' अितना निरूपण पर्याप्त लगता है, अुसी तरह अुन्हें परमेश्वरका सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सृष्टिका अुत्पत्ति-पालन-प्रलय करनेवाला और सबका स्वामीवाला निरूपण काफी लगता है। अिन निरूपणोमें यह अनुभव तो समान है कि सबसे परे अेक सच्चित् परमेश्वर तत्त्व ही है। परंतु अुसके सबधमे विचार या निरूपणकी सूक्ष्मतामे भेद है।

२५. मेरी दृष्टिसे परमेश्वर अिस विश्वका सनातन और सर्वत्र फैला हुआ चैतन्यबीज है। चैतन्य अर्थात् अिच्छा-(अथवा सकल्प) शक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति। परमेश्वरका अस्तित्व काल्पनिक नही बल्कि सत्य होनेसे ही अुसकी सकल्पशक्ति भी सत्य सिद्ध होती है। अर्थात् सकल्पके अनुसार जगत्मे परिणाम अुत्पन्न होते हैं।

२६. जिस तरह सोनेके अनेक आकार गढे जाने पर भी अुसका सुवर्णत्व बदलता नही है, अुसी तरह विश्वमें होनेवाली सब तोड़-

फोड़, जन्म-मृत्यु और अुत्पत्ति-प्रलयकी घटनाओसे परमेश्वरके सिवाय कोअी नया या भिन्न तत्त्व आता-जाता नही है।

२७. अिस तरह परमेश्वर निर्विकार और अकर्ता (अर्थात् अपने सिवाय अन्यको पैदा न करनेवाला) है, परतु वह निष्क्रिय या स्थूल दृष्टिसे अपरिणामशील नही है।

२८. परमेश्वरकी अिच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्तियोंके व्यापार निरंतर और सर्वत्र चलते रहते हैं। अिस कारणसे जगत्मे अेक विपल भी बिना परिवर्तनके व्यतीत नही होता। और ये परिवर्तन अनंत प्रकारके और अनंत रीतियोसे होते हैं, अतः अुनमें सदैव नवीनता रहती है। अिसलिअे जगत्मे विगत क्षणकी स्थिति वैसीकी वैसी फिर कभी नही आती। ये व्यापार सर्वत्र चलते रहते हैं, अतअेव हरअेक व्यापारमे कुछ व्यक्तित्व और मर्यादा भी आ ही जाती है। ये दोनो मिलकर हमें काल और देशका अनुभव कराते हैं।

२९. परमेश्वर संकल्प, ज्ञान, और क्रियाशक्तिरूप है और वह सर्वत्र तथा सत्य है। अिस कारणसे अेक प्रकारकी अिच्छा-ज्ञान-क्रियामें से दूसरे किसी प्रकारकी अिच्छा-ज्ञान-क्रिया वगैरामें रूपान्तर होनेका व्यापार कुछ व्यवस्थापूर्वक चलता है, चाहे जैसे अुलटा सीधा नही चलता। अिस व्यवस्थाके सब नियमोका अन्वेपण हम कर सकें या न कर सके और जगत्मे हमारी आशाके अनुसार घटनाअे घटित हों या न हो, परतु अिसके व्यापारोमें कही पर भी नियमशून्यता नही है, अैसा कहनेके लिअे हमारे पास जगत्का पर्याप्त अनुभव है।

३०. अिस तरह किसी प्रकारकी व्यवस्थावाले, सर्वत्र फैल हुअे, अिच्छा, ज्ञान या क्रियाओके व्यापारोके हमें जो अनेक तरहके अनुभव होते हैं, वह यह जगत् है।

३१. बीता हुआ क्षण वापस नहीं आता और स्वप्नवत् हो जाता है, तथा भविष्यकाल केवल आशा ही है और सिद्ध होता है तो भी क्षण भर ही रहता है, फिर भी जगत् रज्जुमें सर्पके भ्रमके समान, या स्वप्नके भोगोके समान, या गंधर्व नगरीकी तरह केवल झूठी माया अथवा काल्पनिक भास नही है, परंतु जिस तरह नदी पानीकी खास

तरहकी गतिका सच्चा अनुभव है, अुसी तरह जगत् चारो ओर सतत चलते रहनेवाले व्यापारोका सच्चा अनुभव है।

३२. और जगत् किसी लाड़-प्यारसे विगड़े हुअे, अूधमी या स्वच्छन्द लड़के-जैसे, परतु अत्यंत शक्तिमान् सत्त्वकी लीला, अर्थात् खेल नही है; लेकिन अेक महान् शक्तिमें अुसके स्वभावानुसार नियम-पूर्वक चलनेवाले व्यापार हैं।

जीव और जड़

३३. अनादि और अविनाशी केवल परमेश्वर ही है। अुसके सिवाय दूसरा कोअी अत्यन्त अनादि या अत्यन्त अविनाशी नही है। अर्थात्, जीव या जड तत्त्व चाहे जितने लंबे समय तक अेकरूप रहे हुअे प्रतीत हो, फिर भी अुनका आदि तथा अंत है। परतु आदिका अर्थ शून्यमें से अुत्पन्न होना नही और अंतका अर्थ शून्य होना नहीं। अुनका अर्थ अेक प्रकारके दृश्योसे दूसरे प्रकारके दृश्योमें परिवर्तित होना है।

३४. जीव और जडके वीच भी कोअी सनातन और नित्य भेद हो, अैसा मालूम नही होता। अर्थात् जीवमें से जड और जड़मे से जीवका परिवर्तन होना असंभव नही है।

३५. जिसे अलग पहचाना जा सके, अैसा कोअी भी जड़ या चेतन पदार्थ या व्यापार जव तक अुसका अलगाव रहता है, तव तक भिन्न व्यक्ति है। अिस तरह हरअेक व्यक्तिका सच्चा अस्तित्व है।

३६. अैसा कोअी भी व्यक्ति विश्वसे विलकुल अलग और स्वतंत्र नही हो सकता। सव अेक दूसरेके साथ और जगत्के साथ किसी न किसी तरह जुड़े हुअे है।

३७ परतु व्यक्तिमात्रका अुपादान-कारण परमेश्वर ही होनेसे यह कह सकते है कि ये सव परमेश्वरके रूप हैं और परमेश्वरसे कोअी अलग नही है। परतु अैसा कोअी भी व्यक्ति अेक ही समयमें परमेश्वरकी सव प्रकारकी शक्तियों या व्यापारोको प्रकट नहीं कर सकता। अिसलिअे किसी भी जड या चेतन व्यक्तिके वारेमें यह

कहना ठीक नहीं कि वह परमेश्वर अर्थात् समग्र ब्रह्म है। परंतु यह कहना ठीक है कि खुद या कोअी दूसरा ब्रह्मसे अलग नहीं है या तत्त्वत: ब्रह्म है।

३८. ब्रह्मके विषयमें 'मैं' का प्रयोग नहीं हो सकता। अिस तरह प्रत्यगात्माको विशिष्ट ब्रह्म कहनेकी रीति ज्यादा ठीक लगती है।

३९. हममें जो भी अिच्छाअें, ज्ञान और क्रियाअें मालूम होती हैं और जिन्हें हम अपनी अिच्छाअें, ज्ञान और क्रियाअें मानते हैं, वे सचमुच वैसी न हों और सम्भव है कि हम विश्वमें व्याप्त अनेक तरहके अिच्छा-ज्ञान-क्रियाके तरंगोंको झेलनेवाले और प्रकट करनेवाले भिन्न प्रकारसे रचे हुअे द्रष्टा अथवा साक्षी, और कदाचित् अुन्हें किसी भिन्न दिशामें ले जानेवाले निमित्त ही हों।

४०. अिससे देहके बिना अथवा अलग अलग देहोंको धारण करके हमारा व्यक्तित्व सदैव बना रहे, अथवा सारे जगत्का चाहे जो हो और वह चाहे जितना परिवर्तनशील हो परंतु हमारा व्यक्तित्व अपरिवर्तनशील और नित्य टिकनेवाला, अथवा जगत्से निराला, स्वतंत्र और परे हो, अथवा जगत्में हमारा व्यक्तित्व दूसरोंसे निराला मार्ग निकालकर अपनी विशेषता प्रकट करनेका हमें संतोष दे — अिन सब अिच्छाओंमें व्यक्तिवाद है, और आत्माका अशुद्ध अभिमान है।

४१. परमेश्वरमें विश्वरूपमें चलनेवाले अिच्छा-ज्ञान-क्रियाके अनंत व्यापारोंमें से कुछको प्रकट करनेके, रूपान्तर करनेके और पहचाननेके हम अेक खास रचनावाले साधन अथवा यंत्र हैं। यह यंत्र जगत्के महायंत्रका अेक अंग है, और अुसके साथ संकलित है। जगतमें चलनेवाले व्यापारोंका अिस यंत्र पर असर होता है, और अिसमें चलनेवाले व्यापारोंका जगत् पर प्रभाव पड़ता है। हममें मालूम होनेवाले व्यक्तित्वके भानका योग्य अुपयोग यह है कि परमेश्वरके लिअे, अर्थात् जगत्के हितके लिअे अिस यंत्रको अर्पण कर दिया जाय। अिसकी विशेषताअें स्वार्थके लिअे नहीं, पर परार्थके लिअे हों। अिसमें प्रकट होनेवाली अिच्छा-ज्ञान-क्रियाओंमें अपने लाभ या संतोषकी वृत्ति नहीं, पर यथासंभव

जगत्के हितकी वृत्ति हो। जिस दिशामें किया जानेवाला प्रयत्न व्यक्तित्वकी शुद्धि, अथवा आत्माका शुद्ध अभिमान और निरहंकारिताके प्रति प्रयाण है।

४२. मरनेके बाद हममें दिखाजी देनेवाले वर्तमान व्यक्तित्वका क्या होगा, अुसकी चिंता अथवा अुसे टिकानेकी अिच्छा योग्य नहीं है। संभव है कि छांदोग्योपनिषद्के कथनानुसार, जिस तरह अलग अलग फलोंका मधु छत्तेमें अेकत्र होनेके बाद, अथवा विभिन्न नदियोंका पानी समुद्रमें मिलनेके बाद, अुनमें यह अिस फूलका मधु है, अथवा यह अिस नदीका पानी है, अैसा व्यक्तित्व मालूम नहीं होता, अथवा पानीके बूंदकी भाप बनकर अुड़ जानेके बाद अुसके अंगोंका अितिहास नहीं ढूंढा जा सकता, अुसी तरह 'अिमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह अिति।' ६-९-२ (सब प्रजाअें सत्में जानेके बाद, हम सत्में चली गअी हैं अैसा नहीं जानतीं, यानी अपना निराला व्यक्तित्व नहीं रख सकतीं।)

२

धर्म

(अ) सामान्य रूपसे

१ प्राणीमें विचार और विवेक अुत्पन्न होनेके साथ ही धर्म अुत्पन्न हो जाता है।

२ धर्म अर्थात् आचारके नियम — विधि-निषेध; क्या, कब, कैसे, कितना, किस तरह अमुक काम करना या न करना — यह सब धर्म-विचार है।

३. जो वचन सब मनुष्योंके सब प्रकारके श्रेय और प्रेयका समवृत्तिसे विचार करके तथा अन्य भूतोंके हितोंका भी सहानुभूतिपूर्वक विचार करके आचार-व्यवहार और प्रायश्चित्तके नियम सूचित करते हैं, अुनका नाम है धर्मशास्त्र। भले ये वचन किस देशके पुरुषोंके हों या

परदेशके हो, प्राचीन हो या अर्वाचीन हो, और धार्मिक पुस्तकोके नामसे अुनकी ख्याति हुअी हो या न हुअी हो। अिससे अुलटे, धर्मशास्त्रके नामसे पहचाने जानेवाले प्राचीन या अर्वाचीन ग्रंथोमे तथा संतोकी वाणीमे धर्मशास्त्रकी कोटिमें न आ सकनेवाले वचन भी हो सकते है। जितने अंशमे वे वचन मनुष्यमें सद्‌बुद्धि और सत्प्रवृत्तिको प्रेरित करते है तथा सर्व भूतोके प्रति समभावको प्रकट करते है, अुतने अंशमें वे धर्मशास्त्र गिने जा सकते है।

४. अकेले रहनेवालेको भी अपने श्रेय (चित्तके सतोष) और प्रेय (भौतिक सुख)के लिअे धर्मका पालन करना पडता है। परन्तु विशाल दृष्टिसे कोअी भी प्राणी बिलकुल अकेला रहता ही नही। सजातीय जीव न हो तो विजातीय जीव साथमें होते है। और अुनके साथमे भी किसी न किसी प्रकारका समाज और अुसका धर्म अुत्पन्न हो जाता है।

५. धर्मका पालन अपने तथा समाजके, दोनोके सुखके लिअे है। अुसमे होनेवाले भगका परिणाम दोनोको भोगना पड़ता है। किसी समय भंग करनेवालेको अधिक भोगना पड़ता है और किसी समय समाजको।

६. अिससे, सजातीय समाजोमे हरअेक व्यक्तिसे अुसके कर्तव्योका पालन करानेके लिअे अलग अलग व्यवस्थाअे अुत्पन्न होती है।

७. मनुष्यके सिवाय दूसरे प्राणियोमें भी अैसी व्यवस्थाअें देखनेमे आती है। यह अलग वात है कि अुन्हे हम धर्मका नाम नही देते।

(आ) मानव समाज और धर्म

अव हम मानव समाज और धर्मका विचार करे।

८ समाजकी व्यवस्थाओ और नियमोके पीछे अुसके आधारके रूपमे जीवन तथा जगत्‌के स्वरूप और सम्वन्धके विपयमें, जीवनके आदर्शोके विपयमे, जिसे नियमोका पालन करना है और जिससे नियमोका पालन कराना है अुनके वीचके सम्वन्धके विषयमे, व्यक्ति तथा

समाजके सम्बंधके विषयमे, तथा समाजकी व्याप्ति तथा मर्यादाके विषयमे, कम-ज्यादा विकसित कोअी दृष्टि तथा भावना रहती है; अर्थात् तत्त्वज्ञान, भौतिक तथा सामाजिक विज्ञान और बुद्धि तथा हृदयका (अर्थात् दृष्टि तथा भावनाकी विशालताका) कम-ज्यादा विकास है।

९. अिस तरह तत्त्वज्ञानकी, बुद्धिकी और हृदयकी विभिन्न भूमिकाओंके अनुसार अलग अलग नियमोंको धर्म माननेवाले अलग अलग समाज हैं।

१०. धर्मकी नींव गहरी हो या छिछली, मजबूत हो या कमजोर, व्यापक क्षेत्रमें फैली हुअी हो या छोटे क्षेत्रमे; परन्तु धर्मका हेतु अपने क्षेत्रमें आनेवाले समाजका श्रेय और प्रेय करना होता है।

११. कुछ धर्म मुख्यतः श्रेय दृष्टिसे विचारे गये होते हैं, कुछ प्रेय दृष्टिसे। दोनोमें कभी तत्त्वदृष्टि प्रधान होती है, कभी विज्ञान-दृष्टि।

१२. जिस समाजकी रचनामें तत्त्वदृष्टि और विज्ञानदृष्टि, अथवा श्रेयदृष्टि और प्रेयदृष्टि, अेक-दूसरेके साथ खूब घुलमिल जाती हैं, वह समाज और अुसका धर्म दोनो अेकरूप हो जाते हैं, जैसे कि हिन्दू समाज और हिन्दूधर्म, मुसलमान समाज और अिस्लाम। अैसे समाजोंको हम जातीय समाजके नामसे पहचानते हैं।

१३. जिस समाजकी रचना प्रधानरूपसे तत्त्वदृष्टि द्वारा श्रेय और प्रेय दोनोकी सिद्धिके लिअे होती है, वह धार्मिक मत, पंथ, सम्प्रदायका रूप धारण करता है। कालान्तरमें, अुसमें से अुपर्युक्त प्रकारका समाज भी अस्तित्वमें आ सकता है। अिसे हम साम्प्रदायिक समाज कहेंगे।

१४. जिस समाजकी रचना प्रधानरूपसे तत्त्वदृष्टि या विज्ञान-दृष्टिके द्वारा केवल श्रेयप्राप्ति (मानसिक संतोष) के लिअे होती है, वह विभिन्न दर्शनों (schools, academies) का रूप लेता है। अिन्हे हम दार्शनिक समाज कहेंगे।

१५ जिस समाजकी रचना मुख्यतः विज्ञानदृष्टिके द्वारा केवल प्रेयप्राप्तिके लिअे होती है, अुसके भौतिक, राजकीय, आर्थिक, सामाजिक

अित्यादि समाज वनते हैं और वे प्रजाओ, वर्गो, दलो या पार्टियोके नामसे पहचाने जाते हैं। अिसे हम भौगोलिक समाज कहेगे।

१६. अिन चारो तरहके समाजोंमें परस्पर संघर्ष और कलहकी तथा स्नेह और भाअीचारेकी शक्यता है।

१७. अिनमे से यहा भौतिक समाजोका विचार छोड दिया है। केवल अितना कहना चाहिये कि अिन समाजोंमें भी अधविश्वास, अधश्रद्धा, अज्ञान, जानवूझकर गलत मार्गदर्शन अित्यादि पहले तीन प्रकारके समाजोकी अपेक्षा कम होते हैं, अैसा माननेके लिअे कोअी कारण नही है।

१८ जातीय समाज, साम्प्रदायिक समाज, और दार्शनिक समाजोमे सही या गलत कुछ श्रेयदृष्टि रहती ही है, और धर्म शब्दके रूढ़ अर्थमें श्रेयका भाव समझा जाता है, अिसलिअे सुविधाके खातिर अिन तीनोको हम धार्मिक समाज अथवा धर्मों (वहुवचनमे) के नामसे पहचानेगे। अनुगम अिनका सही नाम होगा।

(अि) धार्मिक समाज

१९. मनुष्यका स्वभाव ही कुछ अैसा है कि केवल प्रेयोंकी प्राप्तिसे ही अुसे पूरा सतोप और शाति नही होती। सव तरहके प्रेय होने पर भी अुसे जीवनमे कुछ अैसी कमी महसूस होती रहती है, जिसके कारण वह सतोप और शांतिका अनुभव नही कर पाता। सतोप तथा शातिकी शोध श्रेयकी शोध है।

२०. कुछ मनुष्योमें यह अिच्छा अितनी तीव्र होती है कि वे न केवल प्रेयको ढूढते नही हैं, परन्तु प्राप्त हुअे प्रेयोको भी छोड देते हैं। परन्तु कअी वार अैसा वनता है कि जिन्होने श्रेयके लिअे प्रेयको छोड दिया है, वे अमुक कालके वाद फिर प्रेयार्थी वन जाते हैं। धर्मोमे पाखडका प्रवेश ज्यादातर अिसी वर्गके मनुष्यो द्वारा होता है। अिन दोनोको छोडकर वाकीका वड़ा जनसमुदाय श्रेय और प्रेय दोनोकी अिच्छा करनेवाला होता है।

२१. ज्यादातर धर्मों और सम्प्रदायोका अुद्भव और प्रचार पहले दो वर्गके मनुष्य करते है, और बहुजन समाजमें से अुनके अनुयायी बनते है। जिस तरह सामान्य मनुष्य अपने दुनियावी कामोमें भी डॉक्टर, वकील, अिंजीनियर जैसे अलग अलग धंधेके निष्णातो पर अुस अुस कामके लिअे विश्वास रखते है, अुसी तरह वे श्रेयके सम्बन्धमें अूपरके दो वर्गोके मनुष्योका अनुसरण करते है। जिस तरह स्वार्थी निष्णात अपने पर विश्वास रखनेवाले मुवक्किलोंके विश्वास और अुस कामके बारेमें अुनके कम ज्ञानका नाजायज फायदा अुठाता है, अुसी तरह धार्मिक निष्णातोका भी होता है।

२२. और मनुष्यका चित्त कुछ अिस तरहसे बना हुआ मालूम होता है कि कोअी वस्तु असत्य अथवा कम सत्य है, अैसा जानते हुअे भी अुसे सत्य अथवा पूर्ण सत्यके रूपमें पेश करता रहनेवाला मनुष्य धीरे धीरे अैसा ही मानने लग जाता है। अिस तरह असत्यमें सत्याग्रहनिष्ठा जमनेकी सभावना रहती है। अिस तरह पाखण्ड भी धार्मिक बन जाता है, और अुसमें यदि अनीति स्पष्ट न दिखाअी दे तो अुसे सहिष्णुवृत्तिसे देखनेके प्रसग आते है। धर्मोकी अनेक रूढियो और मान्यताओ अित्यादिके सम्बन्धमें अैसा ही हुआ है। परधर्म-सहिष्णुता, पर-अधर्म-सहिष्णुता तथा पुराने अन्यायोंके प्रति क्षमादृष्टि रखनेके पीछे अैसी अुदारता रहती है।

२३. सामान्यत. धर्मोका स्वरूप जाचने पर अुनमें नीचेकी असत्य या अर्धसत्य बातोमें सत्यनिष्ठासे प्रचार और पोषण किया हुआ देखनेमें आता है।

(१) परमेश्वरके सगुण निरूपणमें;

(२) किसी व्यक्तिको तारणहारके रूपमे पेश करनेमे;

(३) किसी वादको अचल सिद्धान्तके तौर पर पेश करनेमें;

(४) समीपवर्ती समाजकी तत्कालीन स्थितिमें से पैदा होनेवाले आचारके नियमोको सर्वव्यापक और सर्वकालीन गिननेमें;

(५) किसी ग्रंथको विवेकबुद्धिसे परे समझकर प्रमाणभूत माननेमें;

(६) सामान्यतः ज्ञान, आलंबन (अुपासना अथवा आश्रय), भक्ति, साधना, तप और धर्म (अर्थात् आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त) तथा सदाचारके मूलोंका पोषण करनेके बदले केवल शाखाओंको संभालनेमें;

(७) वाममार्ग अथवा दुराचार अुत्पन्न करनेमें।

२४. जैसा कि परमेश्वर विषयक सूत्रमे कहा गया है, परमेश्वरका सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सारी सृष्टिका अुत्पत्ति-पालन-प्रलयकर्ता, सबका स्वामी और सर्वश्रेष्ठ गुणोंका भण्डार आदि शब्दोंमें वर्णित स्वरूप सामान्य मनुष्योंके लिअे पूर्ण तथा समझनेमें सरल होता है। अिस निरूपणमें परमेश्वरके विषयमें किसी आकारका आरोपण या सृष्टिकी रचनामें किसी दूसरे अुपादान कारणकी कल्पना नही है। परन्तु विभिन्न धर्मोमे परमेश्वरके लिअे राजा या योगीके रूपकोकी कल्पना की गअी है। अर्थात् समाजमें अेकाध चक्रवर्ती राजा या योगीश्वर और अुसके वैभवके विषयमें जो कल्पना होती है, अुससे अनेक गुनी बढ़ी-चढ़ी कल्पना परमेश्वर तथा अुसके धाम, वैभव तथा व्यवस्थाके विषयमें की जाती है। अिन कल्पनाओंके लिअे रखी जानेवाली आग्रहबुद्धि धर्मोके बीचके कलहका अेक कारण होती है। अिन कल्पनाओंके परिणामस्वरूप बड़े बड़े पडितो और धर्माचार्योमें भी यह मान्यता पाअी जाती है कि परमेश्वर जगत्का निमित्तकारण ही है, अथवा मनुष्यके जैसी योजना और विचार करनेकी पद्धतिसे जगत्की व्यवस्था चलती होगी। और सामान्य मनुष्योंके मनमें अैसी कल्पना तक नहीं अुठती कि परमेश्वर जगत्का अुपादान कारण है।

२५. राजारूप या योगीरूप परमेश्वरवादमें से ही अुसके अवतार, पुत्र, प्रतिनिधि, पैगम्बर तथा अुसके विरोधी शैतान, मार, कलि अित्यादिकी कल्पनाअे हुअी हैं। समाजको अूपर अुठानेवाले किसी लोकोत्तर पराक्रमी अथवा संत पुरुषको परमेश्वरका पूर्ण स्वरूप या अुसकी ओरसे नियुक्त किये हुअे तारकरूपसे पेश करके, अुसके आसपास अेक समाजकी रचना करना विभिन्न धर्मोकी विशेषताअें हैं। धर्म धर्मके

बीचके झगड़ोंमें अिन तारणहारोंके प्रति रहे अनुचित अभिमानका वड़ा हिस्सा रहता है।

२६. अेक नवीन समाज रचनेवाला पुरुष अपने कालके और आसपासके लोगोंकी अपेक्षा चाहे जितना अूचा अुठा हुआ हो और वह अपने नवीन समाजमें अुस समय चाहे जितने भारी परिवर्तन करता दिखाओी देता हो; फिर भी सूक्ष्मतासे देखने पर वह अपने कालकी सैंकडों रूढ़ियोंमें से कुछ अिनीगिनी रूढ़ियोंमें भी मुश्किलसे मूल परिवर्तन कर सकता है। दूसरी रूढ़ियोको वह जैसीकी तैसी रखकर, अुन पर अपनी स्वीकृतिकी मोहर लगाकर, कदाचित् अुन्हें और अधिक मजवूत कर जाता है। सभव है ये रूढियां भी अुसके आसपासके और अुसीके समयके समाजके लिअे अयोग्य न हो। परन्तु अुस पुरुपके पीछे अेक धार्मिक समाज अुत्पन्न होता है, तव अुन रूढियो तथा अुसके द्वारा किये हुअे परिवर्तनोको सर्वकालीन और सर्वदेशी वनानेका और अुनमें परिवर्तन न होने देनेका आग्रह पैदा होता है। सनातनी वृत्तिका तथा अिन धर्मोंके वीच कलहोका और धर्मके विकासको रोकनेका यह भी अेक कारण है। जव अिन रूढियोंके पीछे किसी वर्गके प्रेय भी जुडे रहते हैं तव वह, कलह और प्रगति-विरोधका अधिक वलवान कारण वनता है।

२७. मनुष्योंकी वुद्धिया और वृत्तियां विविध प्रकारकी है। परन्तु साथ ही अुनमें समानतायें भी है। अिससे थोड़ी-वहुत समानवुद्धि और वृत्तिवाले मनुष्योंके अलग अलग झुंड वंध जाते हैं। कुछ झुंड विखर जाते है, तो थोडे ही समयमें दूसरे नये पैदा हो जाते हैं। समाजके वीचमें रहनेवाला अैसा शायद ही कोओी मनुष्य मिल सकता है जो किसी झुडमें शरीक न हो। फिर मनुष्योकी वुद्धि तथा अुसके अनुसार आचरण करनेकी शक्तिमें वहुत अंतर रहता है। अिस तरह सारी मानव जातिके लिअे अेक ही विधान होना कठिन है। अैसा मानकर ही चलना चाहिये कि मनुष्य जुदी जुदी तरहके, कहीं परस्पर संकलित और कही स्वतंत्र समाजोंकी रचना करके रहेंगे। यह वात धार्मिक तथा दूसरी तरहके समाजोको भी लागू होती है। सारा मानव-

समाज किसी अेक ही धर्म या मतका किया जा सकता है अथवा हर व्यक्तिका स्वतंत्र ही धर्ममत होना चाहिये ये दोनो मान्यताअें अव्यवहार्य हैं।

२८. अिसलिअे जगत्‌के वर्तमान हिन्दू-मुसलमान अित्यादि धर्म मिट जायं तो भी जब तक मनुष्य विचारी प्राणी है, तब तक, विभिन्न धर्ममतोंका निर्माण होता ही रहेगा। अिन सबका निर्माण मानव समाजके सुख और शांतिके लिअे हो और वे सर्वोदयको बढ़ानेमें हिस्सा लें, अैसी शर्तें ढूढनी चाहिये। और अिन शर्तोंका पालन हो सके, अिस तरहसे प्रचलित धर्मोंका संशोधन और नवीन धर्मोंकी रचना होनी चाहिये।

(औ) धर्मोंका संशोधन

२९. मनुष्यके श्रेय-साधनके प्रयत्नोंको पोसनेके लिअे अलग-अलग धर्मोंने अलग-अलग बातों पर जोर दिया है। फिर भी सब धर्मोंमें नीचेके छः अंग सामान्य रूपसे दिखाअी देते हैं:—तत्त्वज्ञान, आलंबन (अुपासना अथवा आश्रय), भक्ति, साधनमार्ग, तप और सदाचार।

३०. हरअेक धार्मिक समाज अिन अंगोंका खास खास ढंगसे पोषण करे अिसमें दोष नहीं है। परन्तु अिस पोषणमें नीचेके नियमोंका पालन करना चाहिये, और जिस हद तक किसी धर्म या अुसके ग्रंथोंमें अुन नियमोंका भंग होता हो, अुस हद तक अुनमें संशोधन करके दोष निकाल डालने चाहिये।

३१. पहला नियम है मानव-अहिंसाका। सब धर्मोंने थोड़े-बहुत प्रमाणमें अहिंसावृत्तिको पोषण दिया है। तथा अुसके अूपर भार भी दिया है। परन्तु प्राचीन धर्मोंने शायद ही मानवहिंसाका पूरा निषेध किया है। अिन धर्मोंकी अुत्पत्ति जिस कालमें हुअी, अुस कालमें मनुष्योंकी परस्पर हिंसा लगभग प्रतिदिनकी वस्तु थी, अतअेव अुस समय प्राणी-हिंसाकी अपेक्षा मानव हिंसाका निषेध करना ज्यादा कठिन मालूम हुआ होगा। अिस कारणसे धर्म प्रवर्तकोंको अुस दिशामें अपने विचार पेश करनेकी बात ही नहीं सूझी। अिसके परिणामस्वरूप, अहिंसावादी

या भूतदयावादी धर्मोंमें भी मानवहिंसाके प्रति शायद ही ध्यान दिया गया है; अुलटे कअी वार अुसे अुत्तेजन भी मिला है। खुद धर्मके प्रचारके लिअे भी मानवहिंसा हुअी है और अुसे पुण्यकार्य भी माना गया है। धर्मोंकी अिस त्रुटिको सुधारना चाहिये। और अहिंसाके पालनमें मानवहिंसाके निषेधको प्रथम और दूसरे प्राणियोंकी हिंसाको दूसरा स्थान दिया जाना चाहिये। अपने धर्मके पालन, प्रचार या विकासमें कहीं भी मानवहिंसा करनेकी छूट नहीं होनी चाहिये। अिसमें आततायीके सामने अपना या दूसरेका प्रत्यक्ष रक्षण करनेमें जो हिंसा अनिवार्य रूपसे करनी पड़े, अुसीका अपवाद माना जाय। कोअी अपराध हो जानेके बाद अपराधीको सजाके तौर पर देहान्त-दण्ड देनेकी या अुसका अंगछेद करनेकी प्रथा बिलकुल बन्द हो जानी चाहिये।

३२ दूसरा नियम है सर्वधर्म-समभावका। अर्थात्, मनुष्य अपनी बुद्धि या वृत्तिके अनुसार अलग-अलग गुरुओं, संतों, मार्गदर्शकों, वीरों, अैतिहासिक, पौराणिक या रूपकात्मक व्यक्तियोंके प्रति भले ही भक्ति-भाव रखे और अुनके अुपदेशोंका अनुसरण करे, परन्तु किसी भी धर्मका अनुयायी अैसा न कहे कि वह व्यक्ति समग्र परमेश्वर है, अथवा परमेश्वरका अवतार, पैगम्बर या दूसरा प्रतिनिधि है, या वैसे व्यक्तियोंमें सर्वश्रेष्ठ है। तथा अैसा भी न कहे कि अुसके आलंबनके बिना किसीका अुद्धार नहीं होगा। बल्कि अैसा समझकर कि अपने जैसी वृत्तिके मनुष्योंके लिअे वह योग्य मार्गदर्शक हो, तो भी दूसरी वृत्तिके मनुष्योंके लिये दूसरे भी अुतने ही योग्य मार्गदर्शक हो सकते हैं, सब धर्मों और अुनके प्रामाणिक अनुयायियोंके प्रति आदरभाव रखे और अैसा आदर रखकर ही अपने मार्गदर्शकके प्रति रही अपनी भक्ति और समझको दूसरोंके सामने प्रकट करनेकी जरूरत हो तो करे।

३३. तीसरा नियम है पाखण्डनिषेधका। सब धर्मोंकी अनेक बातोंमें अशुद्धि, मूढता, त्रुटि वगैरा है। हरअेक में कुछ पाखण्ड, प्रत्यक्ष दुराचार अित्यादि भी घुस गये हैं। अैसा कहते हैं कि हरअेक धार्मिक समाजमें दक्षिणमार्गी और वाममार्गी पथ हैं। फिर, कुछ दक्षिणमार्गी

होनेका ढोंग करते है, और कुछ सच्ची निष्ठासे वाममार्गी होते है। सर्वधर्म-समभावका अर्थ यह नही है कि अपने या दूसरेके धर्ममें दिखाअी देनेवाली त्रुटि, अशुद्धि या मूढताकी टीका ही नही की जा सकती, दंभ और स्वार्थ प्रकाशमे नही लाये जा सकते अथवा पाखण्ड और दुराचारोका विरोध नही किया जा सकता। परन्तु टीका और विरोध तीव्र होते हुअे भी अहिंसात्मक ढंगसे ही होने चाहिये, असत्य या अतिशयोक्तिपूर्ण आक्षेप, विडम्बना, गालीगलौज, अुद्धतता या असभ्यताके लिअे स्थान नही होना चाहिये। सत्याग्रहका आचरण किया जा सकता है, परन्तु वलात्कारका प्रयोग कदापि नही किया जा सकता।

३४. चौथा नियम है समाजव्यवस्थाके पालनका और पड़ोसी-धर्मका अर्थात् कोअी मनुष्य भले अपनी रुचिके अनुसार भक्ति या अनुष्ठानकी विधि रखे, व्रतोका पालन या अुद्यापन करे परन्तु वह सव सार्वजनिक हितके विरुद्ध न हो और पडोसीकी अुचित भावनाओका ध्यान रखकर ही होना चाहिये।

३५. पाचवा नियम है सदाचारका। किसी धर्मको दुराचारका वचाव नही करने दिया जा सकता। जैसे सत्य, अहिंसा, नियताचार[१], स्वच्छता, अमत्तता (non-drunkenness) अित्यादि सार्वजनिक सभ्यताअें है। अिसलिअे विश्वासघात, व्यभिचार, अत्याचार, चोरी, लूट अित्यादि आततायी कर्म, सार्वभौम अधर्म अथवा दुराचार है, और अविनय, गदगी, शरावखोरी अित्यादि सार्वजनिक असभ्यताअें है। अैसे कार्यो या आदतोमे धार्मिकताका खयाल वढानेवाले अुपदेशोको त्याज्य समझकर निकाल डालना चाहिये।

३६. छठा नियम है सार्वजनिक प्रेयसिद्धिका। राज्य, समाज, कुटुम्व, लग्न, अुत्तराधिकार, अुद्योग, नगर अित्यादिकी व्यवस्थाओमे विभिन्न धर्म अपने अनुयायियोके लिअे जो खास नियम निश्चित करें या प्रचलित रूढ़ियोमें परिवर्तन करें, वे अैसी मर्यादामे होने चाहिये कि जिससे वे अुस धर्मके अनुयायियोंसे भी अधिक विशाल समाजके

---

१. पति-पत्नीके वीच भी स्त्री-पुरुषके सम्वन्धोंमे आचार मर्यादा।

लिअे हितकारी हो अथवा अनुकरण करने योग्य लगे, केवल अुस धर्मके अनुयायियोका ही प्रेय बढ़ानेवाले अथवा विशाल समाज पर भार बढ़ानेवाले न हो। अुदाहरणके लिअे, आसपासके समाजमे अनेक स्त्रियोंसे व्याह करनेकी प्रथा हो तो कोअी धर्म अपने अनुयायियो पर अेकपत्नीव्रतका नियम लाद सकता है, परन्तु आसपासके समाजमें अेकपत्नीत्वकी प्रथा हो तो वह बहुपत्नीत्वका हक पेश नही कर सकता। अथवा आसपासके समाजमे स्त्रियोका अुत्तराधिकार कम हो तो कोअी धर्म अुसे बढ़ा तो सकता है, परन्तु आसपासके समाजमें जितना अधिकार प्रचलित हो अुसे कम करनेका हक नही बता सकता। अिसी तरह धर्मोके क्षेत्रको अिस सम्बन्धमें अितना मर्यादित समझना चाहिये कि विशाल समाज अिस सम्बन्धमें सामाजिक हित बढानेके लिअे जो परिवर्तन करना चाहे अुसमें धार्मिक समाजोकी ओरसे बाधा नही खडी की जा सकती। यह नियम नवीन धर्मोंको, बाहरसे आकर नये क्षेत्रमें प्रवेश करनेवाले धर्मोंको तथा धर्मान्तर करनेवालोको लागू होना चाहिये। मतलब यह है कि धार्मिक समाज प्रेयोके क्षेत्रमे जो विशेषता अपने अनुयायियोंके लिअे दाखिल करे वह श्रेयकी दृष्टिसे और सयमकी दिशामें होनी चाहिये, भोगवृद्धिकी तथा अपने ही अनुयायियोंके अधिकारोकी वृद्धिकी दिशामें नही होनी चाहिये।

३७. अिस दृष्टिसे सब धर्ममतोका सशोधन और अुनका नया विवेचन होनेकी जरूरत है। अुदार धार्मिक वृत्तिवाले, सर्वधर्म-समभावी, धर्म और तत्त्वज्ञानके अभ्यासी अिस तरहसे अलग-अलग धर्मोंका संशोधित स्वरूप प्रजाके सामने रखें तो वह अच्छी सेवा हो सकती है।

३८. यह सशोधित विवेचन अिस तरहका होना चाहिये कि बहुत सकुचित दृष्टिसे न देखनेवाले अनुयायीको भी वह मान्य हो, और अन्य धर्मियोको अुसमें कुछ खटकनेवाली चीज न मालूम हो। वह केवल अुन अुन धर्मोकी प्रशस्तिमात्र न हो। अुनमें घुसे हुअे दोषोका तथा छोड़ देने योग्य अंगोका निडरतासे परन्तु समभावसे किया हुआ निरूपण भी अुसमें होना चाहिये।

३९. अुन अुन धर्मोके अनुयायियोको यह काम करनेका स्वभावतः ज्यादा अधिकार है। अुन्हे अिसके लिअ ज्यादा अनुकूलता होनेके कारण अैसा करना अुनका कर्तव्य भी माना जा सकता है। परन्तु यह नही मानना चाहिये कि दूसरे धर्मके अधिकारी पुरुप वैसा नही कर सकते।

४०. संकुचित दृष्टिवाले अनुयायियों तथा जिनके स्वार्थ और वामाचारको आघात पहुंचे अैसे पाखण्डी पुरुषोकी ओरसे अिस प्रयत्नका विरोध होनेकी संभावना है। परन्तु यदि ये ग्रंथ सामान्य मनुष्योंकी अपने अपने धर्ममे विकसित धार्मिक वृत्तिका अुचित पोषण करनेवाले और अुनके ज्ञान, आलंबन, भक्ति, तप, और सदाचारको योग्य दिशामे ले जानेवाले होगे, तो मान्यता और प्रतिष्ठा प्राप्त किये बिना नहीं रहेगे।

४१. अिसीके लिअे प्राचीन या अर्वाचीन बहुमान्य धर्मग्रंथोकी संशोधित (expurgated) आवृत्तियां तथा अुनके प्रमाणभूत सरल और शुद्ध अनुवादोकी भी जरूरत है। जिस तरह बहुत बड़े विद्वानोके सिवाय दूसरा कोअी बाअिबलको हिब्रू, ग्रीक या लेटिनमें नही पढ़ता है, अुसी तरह अुपनिषद्, गीता, कुरान, ज़ंद अवेस्ता अित्यादिके मूल ग्रन्थोके समान ही प्रमाणभूत अनुवाद लोकभाषाओंमें मिलने चाहिये।

(अु) लोकधर्म

४२. अुपर्युक्त विचार और सूचनाअें अलग-अलग प्रचलित धर्मोके विषयमे हुअीं। परन्तु जिस तरह नैतिक बातोमे कुछ लोग दृढ़तापूर्वक अेक पक्ष या दूसरे पक्षके आग्रही होते है, परन्तु सामान्य जनता किसी भी पक्षके लिअे बहुत अभिमान रखे बिना हरअेक मौके पर अपनी समझके अनुसार जो पक्ष अच्छा लगता है अुसका समर्थन करती है, अुसी तरह धार्मिक विषयोमे भी होता है। धर्मके आग्रही अनुयायी बहुत थोड़े होते है। सामान्य जनसमाज आम तौर पर जन्मधर्मका अनुसरण करता है, फिर भी अुस विषयमें अत्यंत अभिमान नहीं रखता। धर्म बदलनेवालोका बहुत बड़ा भाग अिन्ही लोगोंमें से निकलता है।

४३. अिसलिअे, सब प्रसिद्ध धर्मोसे तटस्थ रहकर प्रजाकी धार्मिक और सदाचारप्रिय वृत्तिका विकास करनेवाले ढगसे तत्त्वज्ञान और धर्मके सरल निरूपणकी आवश्यकता है। अिसमें तत्त्वज्ञानकी सरलसे सरल समझ, आलंबन (अुपासना)का शुद्ध स्वरूप, भक्तिकी असाम्प्रदायिक और अकर्मकाण्डी रीति, साधना और तपके बुद्धिगम्य प्रकार तथा सामान्य मनुष्योंकी नैतिक शक्तिको अनजानमें बढ़ानेवाले तरीकेसे सदाचारके सरल नियमोंका निरूपण होना चाहिये तथा जगत्में जो धार्मिक पुरुष हो गये हैं अुनके जीवनसे चमत्कारोंको अलग करके अुनकी धर्मभावना, अीश्वर-परायणता तथा अुच्च चारित्र्यको दिखलानेवाले चरित्र होने चाहिये। आम जनता और शुद्ध जिज्ञासुओंके लिअे तो ये ही धर्म और धर्मग्रंथ हो जायगे।

४४. धर्म और तत्त्वज्ञानके चरित्रवान अभ्यासी और धार्मिक वृत्तियोंके प्रबुद्ध कवि तथा लेखक अिस तरहके साहित्य द्वारा जनताकी अच्छी सेवा कर सकते हैं।

३१-१२-'३७

परिशिष्ट

स्वकर्मयोग

गीताके कुछ श्लोकोमे थोड़ा परिवर्तन करके तथा कुछ श्लोक नये जोडकर मैंने स्वकर्मयोगके वारेमे अपने विचार नीचे पेश करनेका प्रयत्न किया है:

यतः प्रवृत्तिर्भूताना येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्यं सिद्धि विन्दति मानवः ॥ १ ॥
सहजं कर्म मेधावि सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवाऽऽवृताः ॥ २ ॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः
युक्तं स्वभावजं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥ ३ ॥

न्याय्य वा विपरीतं वा पुरुषस्येह कर्मणः
अनिष्टमिष्टमिश्र च भवति त्रिविवं फलम् ॥ ४ ॥
नेह देहभृता शक्य प्राप्तुमिष्टमशेपतः।
अनिष्टफलसंयोगे ह्यनुद्विग्नमना वशी ॥ ५ ॥
कर्मण्येवाऽधिकारस्ते साफल्ये न तु कर्मणः।
मा दु.खेनाऽभिभूतो भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ ६ ॥

संनियतेन्द्रियग्रामा दक्षा ब्रह्मविहारिणी।
सर्वत्र समदृष्टिर्या सर्वभूतहिते रता ॥ ७ ॥
लोकसंग्रहं सपश्यत् सदा कर्मण्यतन्द्रिता।
हर्षामर्पभयोद्वेगैर्मुक्ता प्रसादसंयुता ॥ ८ ॥
सत्यं भूतहितं ज्ञानं विज्ञानं च समाश्रिता।
भक्त्या चाव्यभिचारिण्या पूता कर्तव्यनिश्चया ॥ ९ ॥
अेतैर्लक्षणैर्युक्ता वुद्धिः शुद्धा स्थिरा भवेत्।
अधीताऽप्यविशुद्धास्यादन्यथालक्षणा हि या ॥ १० ॥

अवर सहज कर्म दुर्बुद्धयाऽविद्यया कृतम् ।
फल चैव समुद्दिश्य यत्तत् शांतिप्रदं न हि ॥ ११ ॥
सद्धेतुश्रद्धया युक्तमज्ञानेनाऽविधिना कृतम् ।
सहजमपि तत्कर्म कुर्वन्प्राप्नोति किल्विषम् ॥ १२ ॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन. ।
स यत्प्रमाण कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ १३
तस्माद्विद्या समाश्रित्य कार्याऽकार्यव्यवस्थितौ ।
जोपयेत् सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ १४ ॥
बुद्धया विशुद्धया दृष्टो नियतो विद्यया कृत. ।
स्वभावज. सदाचार· स्वकर्मयोग अुच्यते ॥ १५ ॥
स धर्म अिति सप्रेक्ष्य समाचरितुमर्हसि ।
स्वकर्माचरणाच्छ्रेयोऽन्यन्मनुष्यस्य न विद्यते ॥ १६ ॥
मा स्वधर्मणि भीतो भूर्माह्यनिष्टफलोद्गमे ।
स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मो भयावह· ॥ १७ ॥
योगस्थः कुरु कर्माणि भय त्यक्त्वा फलस्य च ।
सिद्धयसिद्धयो. समो भूत्वा समत्वं योग अुच्यते ॥ १८ ॥
सुखदु खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो धर्माय युज्यस्व नैव पापमवाप्स्यसि ॥ १९ ॥
स्वकर्मणि भय त्यक्त्वा बुद्धियुक्ता मनीषिण·
सर्वबन्धविनिर्मुक्ता. पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ २० ॥
बुद्धियुक्तो जहातीह अुभे सुकृतदुष्कृते ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणा फलदु खिन. ॥ २१ ॥
अेषा तेऽभिहिता बुद्धिर्वत्स योगे स्वकर्मणः
बुद्धया युक्तो यया तात कर्मबंध प्रहास्यसि ॥ २२ ॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ २३ ॥
मृतो वा प्राप्स्यसि शान्ति जीवन्वा भोक्ष्यसे यशः ।
तस्मादुत्तिष्ठ मेधावि धर्माय कृतनिश्चयः ॥ २४ ॥

१. जिसमें से भूतोकी प्रवृत्ति होती है, जिससे यह सव व्याप्त है, अुसकी स्वकर्मसे पूजा करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है।

२. अपने सहज कर्ममे दोष हो तो भी अुसे नही छोडना चाहिये; जिस प्रकार अग्निमें धूम होता है अुसी प्रकार सव कर्मोंमें दोष रहता है।

३. मनुष्य स्वकर्ममें मग्न होकर सिद्धि प्राप्त करता है। योगपूर्वक किये जानेवाले स्वभावजन्य कर्मोंमे दोष नही होता।

* * *

४. मनुष्यका कर्म न्यायपूर्ण हो या अन्यायपूर्ण, अुसका अच्छा, वुरा और मिश्र तीन प्रकारका फल होता है।

५. अिस जगत्मे मनुष्यके लिअे केवल अिप्टकी ही प्राप्ति संभव नही है; अनिष्ट फल मिलने पर योगी अुद्वेग नही करता।

६. तुम कर्म करनेके ही अधिकारी हो, कर्मकी सफलताके नही; तुम दुःखसे अभिभूत मत होओ और न तुम्हारी अकर्ममे प्रीति हो।

* * *

७. जो अिन्द्रियोंको नियममे रखती है, दक्ष है, व्रह्मविहारिणी[1] है; जो सर्वत्र समदर्शी है और सर्वभूतहितमे रत है।

८. जो लोककल्याणको देखती हुअी कर्ममे सदा निरालस रहती है, जो हर्ष-क्रोध-भय-क्षोभसे मुक्त और नित्य प्रसन्न है।

९. सत्य, भूतहित, ज्ञान और विज्ञानका आश्रय लेकर जो अनन्य भक्तिसे पूत है और दृढनिश्चयी है।

---

१. मुदिता, मैत्री, करुणा और अुपेक्षा अर्थात् गुरुजनों और सुखी लोगोंके प्रति हर्षकी, समान स्थितिके लोगोंके प्रति मित्रताकी, दुःखीके प्रति करुणाकी और दुराग्रहीके प्रति अुपेक्षाकी भावनाको व्रह्मविहार कहते हैं।

१०. (अैसे लक्षणोंसे युक्त) वह बुद्धि स्थिर है और शुद्ध है; अिनसे विपरीत लक्षणोंवाली बुद्धि अवीत होकर भी अशुद्ध है।

११. सहज कर्म अज्ञानसे, दुष्ट बुद्धिसे तथा केवल फलकी अिच्छासे किया जाय, तो वह हीन है और अुससे शांति प्राप्त नहीं होती।

१२ विधि या ज्ञानके विना श्रद्धा और सद्हेतुसे किया हुआ सहज कर्म करनेमें भी दोष लगता है।

१३. श्रेष्ठ मनुष्य जो कुछ करते हैं, वही अन्य मनुष्य भी करते हैं; वे जिसे मान्यता देते है, अुसीका सामान्य लोग आचरण करते है।

१४. अिसलिअे विद्याका आश्रय लेकर कार्याकार्यका निश्चय करनेके लिअे ज्ञानीको योगपूर्वक सब कर्मोंका शोधन करना चाहिये।

१५. विशुद्ध बुद्धिसे खोजा और शुद्ध किया हुआ, नियममें रहकर ज्ञानपूर्वक किया हुआ स्वभावज (अपनी प्रकृतिसे अुत्पन्न हुआ) सदाचार स्वकर्मयोग कहा गया है।

१६. 'वह धर्म' है अैसा समझकर भलीभाति अुसका आचरण करना चाहिये; स्वकर्माचरणसे वढकर मनुष्यके लिअे दूसरा कोअी श्रेय नही है।

१७. स्वधर्ममे भय नही होना चाहिये, न अनिष्ट फलकी अुत्पत्तिका भय रखना चाहिये। स्वधर्ममें मृत्यु भी श्रेयस्कर है, परधर्म भयावह है।

१८ फलके भयको त्यागकर, योगयुक्त होकर और यशायशको समान समझकर कर्म करो। समता ही योग है।

१९. लाभ-हानि, सुख-दु ख, हार-जीतको समान समझते हुअे धर्मके लिअे सज्ज हो जाओ, तो तुम्हे पाप नहीं लगेगा।

२०. भयको त्यागकर स्वकर्ममें निरत रहनेवाले बुद्धियुक्त मुनीश्वर सब बन्धनोंसे छूट कर निर्दोष पदको प्राप्त करते है।

२१. बुद्धियुक्त पुरुष अिस जगत्‌मे पाप और पुण्य दोनोको छोड़ देता है। तुम बुद्धिकी शरण खोजो। फलसे दु:खी होनेवाले दीन होते है।

२२. यह मैने तुम्हे स्वकर्मयोगकी बुद्धि कही। अिस बुद्धिसे युक्त होकर तुम कर्मके बन्धनोको तोड़ दोगे।

२३. यहा न तो आरंभ किये हुअे कार्यका नाश होता है और न अुसमे विघ्न अुत्पन्न होता है। अिस धर्मका थोड़ासा अंश भी मनुष्यको बड़े भयसे बचा देता है।

२४. स्वकर्म करते हुअे मर जाओ तो शांति प्राप्त होगी और करके जीवित रहोगे तो यश मिलेगा। अिसलिअे हे मेधावि, तुम दृढ निश्चय करके धर्मके आचरणके लिअे खड़े हो जाओ।

संसार और धर्म

चौथा भाग

पूज्य नाथजीकी पूर्ति

१

तत्त्वज्ञानका साध्य

तत्त्वज्ञानकी निर्मिति

संसारके किसी भी प्राणीसे मनुष्यमे विचार-शक्ति अधिक है। मानव-जीवनके हर क्षेत्रमें अिस शक्तिका प्रभाव दिखाओी देता है। दु.खका नाश करके सुखकी वृद्धि करनेके अुपाय मनुष्यने अपनी बौद्धिक शक्तिसे ही निर्माण किये हैं। सुख-दु.खके कार्यकारण-सम्बन्ध जानने और अिस ज्ञानकी मददसे सुखको बढाकर दु.खका नाश करनेके अुपाय ढूढ़ निकालने और अुन्हे अमलमें लानेका प्रयत्न करनेसे ही अनेक शास्त्रों और कलाओंका विकास होता रहा है। मनुष्य-जाति ठेठ प्रारम्भिक कालसे अिसी हेतुके पीछे लगी हुओी दिखाओी देती है। मानव-शरीरमें जो भी नओी नओी शक्तिया प्रगट होती गओी, अुन सब शक्तियो द्वारा मनुष्य यही हेतु पूरा करनेका प्रयत्न करता रहा है। कर्मेन्द्रियो और ज्ञानेन्द्रियो द्वारा अलग अलग विषयोंका जितनी अलग अलग तरहसे रसास्वादन किया जा सके, अुतनी तरहसे करने और हर तरफसे दु.खसे बचनेका अुसका सदासे प्रयत्न रहा है। अिस प्रयत्नसे आगे बढ़कर विचारवान मनुष्यके मनमें यह शका पैदा हुओी कि क्या ये शास्त्र, ये विद्यायें और ये कलाअे मनुष्यके दु ख और भय दूर करके अुसे सचमुच स्थायी रूपमें सुखी बना सकेंगी? बडेसे बडे प्रयत्नो द्वारा प्राप्त किया हुआ सुख आखिर तो अशाश्वत ही होता है। सुखानुभूति क्षणिक होती है; और अेक भय या दु खको टाल दें तो दूसरा सामने खडा ही रहता है। अिस प्रकारके मानव-जीवनमें और अैसी परिस्थितिमे क्या मनुष्य सचमुच कभी भी स्थायी रूपसे दु.खरहित और सुखी हो सकेगा? कितने ही प्रयत्न करे और तरह तरहकी खोज और अिलाज करे, तो भी मनुष्य बुढ़ापेको नही टाल सकता, अुसकी व्याधि नही टलती और मृत्यु तो किसीसे कभी टाली ही नही जा सकती। वह किस क्षण हम पर आक्रमण कर

देगी, यह नही कहा जा सकता। मनुष्यकी जीनेकी आशा कभी नही छूटती। अुपभोगकी — अिन्द्रियग्राह्य रसोकी — अिच्छा कभी क्षीण नही होती। शरीर-सुखकी अिच्छा अुसे हमेशा रहा करती है। अैसी स्थितिमें जरा, व्याधि और मृत्युका भय मनुष्यको हमेशा लगता ही रहेगा। अिस वारेमे विद्वान-अविद्वानका भेद नहीं है; सवल-निर्वल, अमीर-गरीव, राजा-रंकका भेद नही है। सारी मानव-जाति अिस दुःख और भयमे हमेशासे फंसी हुअी है। अिस प्रकारकी शंकाओ और प्रश्नोके कारण विचारवान मनुष्यका मन अधिक विचार करने लगा।

सुखकी अपेक्षा दु खके मौके पर मनुष्यका मन ज्यादा जाग्रत वनता है और अुसके कारणोकी खोज करनेकी तरफ झुकता है। अैसे ही मौकोंके कारण विचारशील मनुष्य जरा, व्याधि और मृत्युके वारेमे सूक्ष्मतासे विचार करने लगा। अिनके कारणोकी खोज करने लगा। मृत्युके साथ साथ जन्मका भी अुसे सहज विचार करना पड़ा। जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि अिन चार अवस्थाओमें से अुसे खास तौर पर जन्म और मृत्युका ही विचार करना पड़ा होगा, क्योंकि जन्म मानव-जीवनका आरम्भ है और मृत्यु अुसका अन्त है। जरा और व्याधिकी अवस्थायें मनुष्यको जन्मके कारण ही प्राप्त होती हैं। जन्म-मृत्युकी तरह ये अवस्थायें भी स्पष्ट है, परन्तु जन्मके पहले और मृत्युके पीछेकी दो अवस्थायें गूढ़ हैं। मनुष्यको मृत्युकी अवस्था भी जन्मके कारण ही प्राप्त होती है। अिसलिअे यदि जरा, व्याधि और मृत्यु नही चाहिये तो जन्मसे ही वचना चाहिये। परन्तु विचारवान मनुष्यको यह मालूम हुआ होगा कि जन्म-मरणके रहस्यका पता लगाये विना और अुनके कारण जाने विना यह वात सिद्ध नही हो सकती। अिसलिअे वह जन्म-मृत्युके कारणोकी खोज करनेकी तरफ मुडा होगा। मानव-जीवनमें मृत्यु जैसी भयानक, दु खरूप और अनिवार्य दूसरी कोअी आपत्ति नही है। मृत्युने ही मनुष्यको जीवनके विपयमें सूक्ष्म और गहरा विचार करनेको प्रेरित किया होगा। मृत्युके कारणो और अुसके वादकी स्थितिका विचार करते करते अुसे जन्म और अुसके कारणोंका विचार करना पड़ा होगा। शरीर और अुसकी भिन्न भिन्न अवस्थाओंका, मन-

बुद्धि-चित्त-प्राण, चैतन्य, कर्मेन्द्रियां, ज्ञानेन्द्रिया, अुनके कार्य और परिणाम, सृष्टि और पंचमहाभूत अिन सबका वह विचार करने लगा होगा। अिसी तरह मानव-स्वभाव, विकार, भावना, संस्कार, गुण, धर्म, जाग्रति-स्वप्न-सुषुप्ति, त्रिगुण, प्राणिवर्ग तथा वनस्पतिवर्ग, अुनके भेद, अुनकी अवस्थायें, जीवमात्रका परस्पर आकर्षण-अपकर्षण आदि सभी सचेतन-अचेतन वस्तुओंकी खोज करते करते अुसे अपना रास्ता निकालना पड़ा होगा। शरीरकी घटना-विघटना, सृष्टिका प्रिय-अप्रिय निर्माण-नाश और विश्वका अखंड रूपमे चलनेवाला प्रचंड व्यापार — अिन सबका कर्ता कौन है? जन्म और मृत्यु किसकी आज्ञासे होते हैं? विचारशील लोगोंके मनमें कुदरती तौर पर अिस विषयके विचार और प्रश्न अुठे होंगे। अुनके विचारों, प्रश्नों, शंकाओं और खोजोंने ही तत्त्वज्ञान तैयार हुआ है। अुसीने अीश्वर-परमेश्वर, प्रकृति-पुरुष, ब्रह्म-परब्रह्म, आत्मा-परमात्मा, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म आदि कल्पनायें और विचार मनुष्यको सूझे हैं।

खोजके अन्तमें कृतार्थता

हरअेक विचारककी ज्ञानसंबंधी जिज्ञासा, अुत्कंठा और व्याकुलता, अुसके वैराग्य, सचेतन-अचेतन सृष्टिके अुनके अवलोकन, निरीक्षण और परीक्षण, अुसकी बौद्धिक सूक्ष्मता और व्यापकता और अन्तमें अुसकी निर्णयशक्तिके अनुसार अुसे अपनी खोजमे सिद्धि प्राप्त हुअी होगी। अुस परसे अुसने जन्म-मृत्यु और समग्र सृष्टिके बारेमें सिद्धान्त निकाले होंगे। अिसीमें अुसे तृप्ति, समाधान, प्रसन्नता और जीवनकी कृतार्थता मालूम हुअी होगी। आगे चलकर बढ़ते हुअे अनुभव और ज्ञानके कारण, निरीक्षण और निर्णयशक्तिके कारण अपनी पहली मान्यतामें समय पाकर किसीके मनमें शंकायें पैदा हुअी होंगी और अिन नअी शंकाओंके साथ वह फिर खोज करने लगा होगा। या बादका विचारक पहले सिद्धान्त स्वीकार न होनेके कारण अपनी शंकाओंके साथ अधिक सूक्ष्मता और व्यापकतासे अुसी खोजके पीछे लग गया होगा। अिस प्रकार सारे चराचर तत्त्वोंकी बार-बार खोज करते-

करते किसी विचारकके तर्ककी मंजिल विश्वके आदिकारण तक पहुंच गअी होगी। अुसके बाद अुसे निश्चयपूर्वक लगा होगा कि सबका आदि-कारण-स्वरूप अेक ही सनातन, अविभाज्य तत्त्व सकल विश्वमे व्याप्त है; और अुसकी सूक्ष्मता, विशालता और व्यापकता परसे अुसने अुसीको ब्रह्मतत्त्व कहा होगा। और विश्वके सजीव-निर्जीव अणुसे लेकर ठेठ ब्रह्माड तक जो कुछ दृश्य-अदृश्य, गोचर-अगोचर, ज्ञात-अज्ञात, कल्पनामे आनेवाला और न आनेवाला है, वह सब — वह स्वयं भी — अुस महान और मूल तत्त्वका आविर्भाव है, अिस दृढ तर्क या अनुमान पर वह निश्चित रूपमे पहुंचा होगा और अिस ज्ञानको अुसने ब्रह्मज्ञान कहा होगा। विचारक जिस तत्त्वमे स्थिर हुआ, जिसके आगे विचार करनेकी अुसकी गति रुकी, जिस तत्त्व तक पहुंचकर अुसकी व्याकुलता शान्त हुअी, अुस तत्त्व या तर्कको मुख्य मानकर अुसने अपने अतिम निर्णयको अुस तत्त्वका बोधक या सूचक नाम दिया। जिस विचारकको सृष्टिके आदिकारणमें मुख्यत· नियामकता और शक्तिमत्ता दिखाअी दी, अुसने अुसे अीश्वर नाम दिया; जिसे व्यापकता और अनंतता दिखाअी दी, अुसने अुसे ब्रह्म कहा; जिसे यह लगा कि मनुष्य खुद भी अुसी विशाल तत्त्वका आविर्भाव है — जिसमे यह निश्चय दृढ हुआ कि शरीरका मुख्य तत्त्व यही है — अुसने अुसे आत्मतत्त्व माना। जिन्हे अत्यन्त परिश्रम, सतत सूक्ष्म अवलोकन और अभ्यास आदिकी मददसे अपनी खोजके अन्तमे यश मिला होगा, जिनके जीवनमें सत्य-ज्ञानके सिवाय और कोअी हेतु नही रहा होगा, जो वासनातृप्त, समस्त भौतिक विषयोंके प्रति अनासक्त, ज्ञानके लिअे अत्यन्त व्याकुल और समर्थ होते हुअे भी विरक्त होंगे, अुन्हे अपनी खोजके अन्तमे मिली हुअी सफलतासे कितना आनन्द, कितनी प्रसन्नता और कृतकृत्यता महसूस हुअी होगी, अुसकी कल्पना हम जैसोको कैसे हो सकती है! अेक ही अुच्च हेतुके पीछे तन-मन-धन सर्वस्व न्योछावर करके, अुसीको जीवनका अेकमात्र हेतु बनाकर, अुसके लिअे अपार परिश्रम करनेके परिणाम-स्वरूप जब अुन्हे अुसमे सफलता मिली होगी, तब अुन्हे कैसा लगा होगा? अुन्हे यदि यह अनुभव हुआ हो कि जीवन सार्थक हुआ, जीवनमें

कोओी भी हेतु बाकी नहीं रहा और कोओी भी कार्य या कर्तव्य अब करनेको रह नहीं गया, और जिससे अुन्हें परमानन्द हुआ हो, तो जिसमें आश्चर्य क्या? सृष्टिमें या अपनेमें, भीतर या बाहर अब कुछ भी जाननेको नहीं रह गया, अैसा प्रतीत होने पर अुन्हें परम कृतार्थता भी मालूम हुअी होगी। ज्ञानसे परिपूर्ण होनेके बाद जीवनकी अिच्छा नहीं और मृत्युका भय भी नहीं — अैसी अुनकी अवस्था हुअी होगी। किसी प्रकारका बन्धन नहीं, किसी तरहकी अिच्छा नहीं — अैसी स्थितिमें अुनके मनमें मोक्षकी कल्पना आअी हो तो वह भी स्वाभाविक था। अिसमें शक नहीं कि सत्यकी खोजका मूल हेतु, अुसके लिअे किया गया परिश्रम, चिन्तन, मनन, निदिध्यास, विरक्त स्थिति, स्वार्थका पूरी तरह अभाव, सब तत्त्वोंकी हुअी खोज, अपने प्रयत्नमें मिली हुअी सफलता और अुससे प्राप्त हुअी ज्ञानावस्था — अिन सबका वह स्थिति स्वाभाविक परिणाम होनी चाहिये। अिस प्रकार अेकसे अेक बढ़कर प्रखर, सूक्ष्म और गाढ विचारशील शोधकों द्वारा किये गये प्रयत्नोंसे निर्माण हुआ तत्त्वज्ञान हमें मिला है। यह सब अुन महाभागोंकी कमाअी है।

दर्शनकारोंका मानव-जाति पर अुपकार

अुन मूल दार्शनिकोंके बारेमें विचार करने पर अुनकी सत्य-ज्ञान संबंधी जिज्ञासा, अुत्कंठा और व्याकुलता; अुनके लिअे किया गया अुनका परिश्रम; अुनकी सूक्ष्म, कुशाग्र, मर्मस्पर्शी परन्तु व्यापक बुद्धिमत्ता; विषयको आरपार भेदकर ठेठ सत्य तक जा पहुंचनेवाली अुनकी दीर्घ, भेदक और पवित्र दृष्टि आदिका खयाल आते ही अुनके प्रति अत्यन्त आदर पैदा हुअे बिना नहीं रहता। भौतिक अिन्द्रियजन्य सुखके प्रति अुनका वैराग्य; प्रकृति — पंचमहाभूतोंसे लेकर मानव-शरीर, मन, प्राण, चित्त, जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि तक सारी चराचर सृष्टिका अुनका सूक्ष्म अवलोकन और निरीक्षण; साथ ही अिन सबके गुणधर्म और संस्कारोंका अुनका ज्ञान बहुत ही आश्चर्यकारक लगता है। मोह और अज्ञानमें गोते खानेवाले संसारमें तत्त्वशोधनके

पीछे पड़कर जिन महापुरुषोंने सत्यकी अुपासना की और अपने लिअे आवश्यक ज्ञान प्राप्त किया वे सचमुच धन्य है। मानव-जाति पर अुनके भारी अुपकार हैं। सारी मानव-जातिको अिस विषयमें सदैव अुनका ऋणी रहना चाहिये।

तत्त्वज्ञानका विकास बादमें कैसे रुका?

परन्तु मालूम होता है कि तत्त्वशोधनका यह प्रयत्न भारतवर्षमें पहले जैसा जारी नही रहा। वह किसी समय रुक गया। जिससे तत्त्व-ज्ञानका विकास हमारे देशमें और आगे नही हो पाया। अिसके कारणोंका विचार करने पर अैसा मालूम होता है कि हमने किसी समय तत्त्व-ज्ञानके साथ मोक्षका सम्बन्ध जोड़ दिया। तबसे हमारा शोधकपन खतम हो गया, केवल श्रद्धालुपन बढ़ता रहा और ज्ञानकी अुपासना बन्द हो गअी। मूल शोधकों और दार्शनिकोंको अपनी जिज्ञासा और परिश्रमका फल ज्ञान, शान्ति और प्रसन्नताके रूपमें मिल गया। अिस परसे किसी समय हममे यह गलत खयाल पैदा हो गया कि अुनकी तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी विचारसरणीको केवल मान लेनेसे ही हमें भी वैसा ही ज्ञान, शान्ति और प्रसन्नता मिल जायगी। अैसी शंका होती है कि यह सब अुसीका परिणाम होना चाहिये। अेक बार अैसा मजबूत खयाल बन जानेके बाद अुसीमे ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान, ब्रह्म-साक्षात्कार, आत्म-साक्षात्कार आदि कल्पनायें पैदा हुअी है और तत्त्वशोधक दार्शनिकोंके आनंद परसे ब्रह्मानंद, आत्मानंद, नित्यानंद आदि अलग अलग आनन्दोंकी कल्पना करके हमने आनन्दकी अुपासना आरम्भ की है। ज्ञान, आनन्द, कृतार्थता और बन्धनरहित अवस्था आदि सब किसके परिणाम हैं, अिसका विचार न करके हमने यह मान लिया कि अिन दार्शनिकों और विचारकों द्वारा पेश की गअी विचारसरणी ही अिन सब बातोंका साधन है। अनेक प्रकारके परिश्रम करनेके बाद, हेतु सफल होनेके बाद और शोधकोंकी ज्ञानकी आतुरता शान्त होनेके बाद अुनके चित्तकी जो स्वाभाविक अवस्था हुअी वह अिन सबके परिणामस्वरूप थी, अिस बात पर ध्यान न देकर हम केवल विचारसरणीसे या आनन्दकी कल्पनासे कृतार्थता

मानने लगे और मोक्ष प्राप्त करनेका प्रयत्न करने लगे। किसी न किसी समय हममें अिस प्रकारका भ्रामक विचार पैदा हो गया और परम्परासे दृढ होते होते अुसने श्रद्धाका स्वरूप धारण कर लिया।

अमरीकाका प्रथम दर्शन होने पर कोलम्बसको अतिशय आनद हुआ और अुस भूमि पर पहला कदम रखने पर अुसने कृतार्थता अनुभव की। न्यूटनको अपनी खोजमे सफलता मिलने पर आनन्द और धन्यता महसूस हुअी। आज भी बड़े बडे शोधको और वैज्ञानिकोको अपनी अपनी खोजो और प्रयत्नोमे सफलता मिलने पर आनन्द और कृतार्थताका अनुभव होता है। अिस परसे यह मानकर कि अमरीकाके दर्शन और अुस जमीन पर कदम रखनेमे ही आनन्द और कृतार्थता प्रतीत होनेका गुण है, या न्यूटनका सिद्धान्त समझ लेनेसे अुसे हुआ आनन्द प्राप्त हो जाता है, या आजके शोधकोकी खोजोकी अुपपत्ति समझ लेनेसे अुन्हे होनेवाला आनन्द और कृतार्थता हमें भी मिल जायगी, कोअी अुसके अनुसार प्रयत्न करने लगे तो क्या वह अुचित होगा? हम अुसे ठीक मानेंगे? ज्ञानके दूसरे क्षेत्रोमें जिस चीजको हम ठीक नही समझते या कभी नही समझेंगे, अुसको तत्त्वज्ञानके विषयमें अुसे दिये गये आध्यात्मिक स्वरूपके कारण ठीक समझते है, अुस पर श्रद्धा रखते आये है और अुस पर आज बडे बडे सम्प्रदाय चल रहे है।

मोक्ष-सम्बन्धी कल्पनाका आनन्द

अिन सब बातोका विचार करने पर खयाल होता है कि ज्ञान किसे कहा जाय? आनद और कृतार्थताका स्वरूप क्या है? अिन भावो या अवस्थाओका निर्माण किस चीजसे होता है? ये किसके परिणाम है? —अिन सब प्रश्नोका हमने सूक्ष्मतासे विचार नही किया। हम तत्त्वशोधक नही है। हममें शोधकी, जिज्ञासाकी आतुरता नही है। हमे आनन्दकी अिच्छा है। मोक्षकी अिच्छा भी किसी किसीको होगी। परन्तु मूल शोधकको होनेवाले आनन्द या कृतार्थताकी अिच्छा हमे नही है। अितने पर भी हम यह मानते रहे है कि शोधककी खोज पूरी होने पर अुसे जो वस्तु निर्णयके रूपमे मिली, अुस निर्णयको हम अपने चित्तमें अनेक प्रकारसे अुतार लें, तो जन्म-मरणसे मुक्त

हो जायंगे। यह मानकर कि अुस निर्णयको चित्तमें अुतार लेना साध्य है और अुसकी बताअी हुअी तात्त्विक विचारसरणी साधन है, अुसीको अलग अलग रूपको, आलंकारिक भाषा और पांडित्यपूर्ण तर्कवाद द्वारा पेश करके, ग्रंथ लिखकर और काव्य रचकर हम अपने और दूसरोंके चित्तमें अुतारने लगे। यह हिप्नोटिज्मका अेक प्रकार है, किन्तु ज्ञान नहीं है। अिसमें कृतार्थता नहीं है। अुन्हीं कल्पनाओंको अलग अलग ढंगसे रंगकर हम अपने पर अुनका रंग चढ़ाते रहे और दूसरोंको भी अुनका रंग चढाने और अुनमें रमाने लगे। अिससे हमें जो आनन्द मिलता है, वह खोजके अन्तमें होनेवाले ज्ञानका आनन्द नहीं होता; परन्तु हमारे ही द्वारा अपने चित्तमें अुतारी हुअी कल्पनाका, हमारे ही मनमें यह अुतारते रहनेका कि हम खुद कोअी दिव्य, अजर, अमर तत्त्व हैं, और आनंदकी धारणा रखकर पैदा किया हुआ आनन्द होता है। प्रत्यक्ष खोजमें होनेवाले ज्ञानका आनन्द और खोजकी विचारसरणीसे और आनन्दकी धारणा कर लेनेसे होनेवाला आनन्द, अिन दोनोंमें बड़ा फर्क है। हमारे तत्त्वज्ञानके सम्बन्धमें अैसा ही कुछ हुआ होगा। मोक्ष हमारे जीवनका ध्येय है। तत्त्वज्ञानियोंको मोक्ष मिला है। ज्ञानसे मोक्ष मिलता है। तत्त्वज्ञानीका ज्ञान हमने मान लिया और अुसे अपने चित्तमें अुतार लिया कि हमें भी मोक्ष मिल जायगा, अैसी हमारी श्रद्धा है! अिस श्रद्धाके दृढ होने पर मोक्ष निश्चित समझिये! अिस क्रमसे हममें अेक प्रकारकी जो श्रद्धा निर्माण हुअी, वह परम्परासे आज अितनी दृढ हो गअी है कि जिस दृष्टिसे मैं यह लिख रहा हूं अुस दृष्टिसे अिस विषयमें विचार करनेको शायद ही कोअी तैयार होगा।

शोधक और श्रद्धालुके बीचका भेद

तत्त्वज्ञानकी कअी अलग अलग प्रणालियां हैं। अुन सबमें अेक-वाक्यता हो सो बात भी नहीं है। अन्तिम सिद्धान्तके विषयमें तो अुनके बीच परस्पर विरोध भी जान पड़ेगा। तो भी जो मनुष्य जिस मतको अेक बार स्वीकार कर लेता है, वह अुससे अैसा चिपट जाता है कि अुसे कितना ही समझाया जाय वह अपनी विचारसरणीको नहीं छोडता। कारण, वह शोधक नहीं परन्तु श्रद्धालु होता है। और हमारे तत्त्वज्ञानमें

कोओी भूल है, यह मान लिया जाय या साबित हो जाय, तो हमारा तत्त्व-ज्ञान अपूर्ण सिद्ध हो जायगा; अिससे हमारे मोक्षमें और सद्‌गतिमें बाधा पडेगी; अितना ही नही परन्तु हम जिस सम्प्रदायके हैं अुसकी और अुसके मूल प्रवर्तककी यह त्रुटि मानी जायगी; अिससे मूल प्रवर्तककी दिव्यता या अवतारीपनके बारेमें शका पैदा होगी, अुस पर हमारी श्रद्धा कम हो जायगी और खुद हम तथा हमारी परम्पराके तमाम साम्प्र-दायिक अज्ञानी ठहरेंगे — अिस प्रकारकी अनेक शकाओ और भयके कारण आध्यात्मिक दृष्टिसे सर्वश्रेष्ठ माने गये तत्त्वज्ञानकी जाच करनेके लिअे कोओी तैयार नही होता। अिस तरहके श्रद्धालु सिर्फ साम्प्रदायिक लोगोमे ही होते हो सो बात नही। कोओी सम्प्रदाय स्वीकार न किया हो तो भी आध्यात्मिक हेतुके लिअे किसी विशेष तत्त्वज्ञानको माननेवाले लोगोमें भी ज्यादातर किसी महापुरुषकी दृष्टिसे ही तत्त्वज्ञानका विचार करनेवाले होते हैं। श्रद्धालु होनेके कारण वे भी अिसी दृष्टिसे विचार करते हैं कि अपनी विचारसरणीके बारेमे हमारे मनमे अश्रद्धा अुत्पन्न न हो और श्रद्धा बढती रहे। साम्प्रदायिकोमे या असाम्प्रदायिकोमे कोओी अभ्यासी नही होता सो बात नही। परन्तु अुनके अभ्यासका तरीका अेक निश्चित रूप धारण किया होता है। वे अपनी मूल श्रद्धाको कायम रखकर अभ्यास करते है, अिसलिअे अुनमे शोधक-वृत्ति होनेकी बहुत ही कम सम्भावना है। जो सचमुच शोधक होते हैं, वे केवल श्रद्धासे कोओी बात माननेको तैयार नही होते। वे हर बातको अनुभवसे साबित करनेकी कोशिश करते हैं। जितनी शकायें और तर्क अुठें अुन सबको दूर करके अुन्हे सत्यज्ञान प्राप्त करना होता है, अिसलिअे वे शका और तर्कसे डरते नही। परन्तु जिनकी तत्त्वज्ञान पर रही श्रद्धाकी जडमें मोक्षकी आशा होती है, वे भावुक भक्त जैसे अपनी पूज्य मूर्तिकी रक्षा करते हैं वैसे ही अपने तत्त्वज्ञानकी रक्षा करते है। जैसे वे भक्त अपनी मूर्तिको अलग अलग ढगसे शृगार करा कर या सजाकर अपनेमें आनन्द पैदा करनेकी कोशिश करते हैं, अुसी तरह ये तत्त्वज्ञानी भी अपने माने हुअे तत्त्वज्ञानको भिन्न भिन्न रूपको

और आलंकारिक भाषासे रोचक बनाकर आनन्द पैदा करनेका प्रयत्न करते हैं। और अुस आनन्दके आधार पर आत्मा ब्रह्म है, आनन्दरूप है वगैरा वगैरा वर्णन करते है।

तत्त्वज्ञान और कल्पनाजन्य आनन्दके बीच भेद

सत्यशोधन तत्त्वज्ञानका मुख्य हेतु है। अुसमें जो आनन्द है, वह सत्यज्ञानका है। अुस सत्यको शब्दोसे समझाना नही पडता और न अुपमा और अलकार द्वारा अुसमे माधुर्य लाना पड़ता है। ज्ञानसे आनन्द प्राप्त करनके लिअे पहले ज्ञानकी आतुरताकी जरूरत होती है। ज्ञान प्राप्त करनेके लिअे मेहनत करनी पडती है। जीवनका यही अेक अुद्देश्य रखकर तथा सर्वस्वका त्याग करके अुसके पीछे लगना पड़ता है। अिस मार्गमें प्रखर बुद्धि और अत्यन्त लगनकी आवश्यकता होती है। और अिन सबके अतिरिक्त सत्यकी परख और निर्णयशक्तिकी जरूरत होती है। ये चीजें जितनी मात्रामे हममे होती है, अुतनी ही मात्रामे हमे ज्ञानसे आनन्द मिलता है। वेदान्त या और किसी विचारसरणीको केवल मान लेनेसे, विश्वकी अुत्पत्ति या सहारका अुलटा-सुलटा क्रम ग्रथ द्वारा समझ लेनेसे, पचीकरण पद्धतिसे पंचमहाभूतोकी अलग अलग पद्धतिका बटवारा समझ लेनेसे और अन्तमे 'आत्मा या ब्रह्म मै ही हू' अैसी धारणा चित्तमे सतत अुतारते रहनेसे वह आनंद हमे नही मिल सकता, जो खोजके अन्तमे प्राप्त होनेवाली सफलतासे मिलता है। मोक्षकी आशासे 'मै कौन हू?' की जाच करनेका प्रयत्न करनेवाला श्रद्धालु साधक अूपर बताअी हुअी विचारसरणी द्वारा अपने मनको समझाते और मनाते हुअे अन्तमें 'मै ही आत्मा हूं, मै ही ब्रह्म हू; बाकीका सारा व्यापार शरीर, मन, बुद्धि, प्राण वगैरा सब प्रकृतिका खेल है' अिस समझ पर पहुंच कर 'अह ब्रह्मास्मि' के महावाक्य पर अपनी चित्तवृत्ति दृढ़ करनेका प्रयत्न करता है। सतत अभ्याससे अुसकी यह वृत्ति अितनी दृढ हो जाती है कि वह मानने लगता है कि यही सत्यका अनुभव है और यही आत्मबोध है। परन्तु अुसके ध्यानमें यह नही आता कि यह आत्मबोध नही बल्कि वेदान्त-प्रणालीके आधार पर हमारी ही बनाअी हुअी अेक चित्तवृत्ति है। जन्म-मृत्युके डरके कारण

'मैं कौन हूं?' की जांच होनी चाहिये अैसी व्याकुलतासे और साधक-दशाकी वैराग्यनिष्ठासे अुसमें कुछ कुछ संयम और सद्‌गुण आ जाते हैं। बादमें तत्त्वज्ञानके अेकाध सिद्धान्तको मानकर यह समझ दृढ कर लेनेसे कि 'वही मैं हूं' अुसके चित्तकी व्याकुलता शान्त हो जाती है। अैसी हालतमें श्रद्धालु अभ्यासीका यह खयाल हो जाता है कि मुझे आत्म-साक्षात्कार हो गया, और अुसे समाधान हो जाता है। तत्त्वज्ञानका अेकाध सिद्धान्त अिस तरह मानकर अुसे अलग अलग रूपकोंसे सजाकर और अुसमें भिन्न भिन्न रस और आनन्द पैदा करके हम मन ही मन अपना रंजन करने लगे। और हमारे चारों ओर जमा होनेवाले भावुकोंके मनमें अुस आनन्दकी अिच्छा अुत्पन्न करने लगे। भूतकालमें अध्यात्मज्ञानमें श्रेष्ठ मानी गअी या अवतारी समझी गअी विभूतियां हम खुद ही हैं, अैसी कल्पना करके और अैसा मानकर कोअी मनुष्य मस्तीका तो कोअी श्रेष्ठताका ढोंग दिखाने लगा। अिस प्रकार हम अपनी भ्रामक वृत्तिका ही अपने तत्त्वज्ञानके नाम पर पोषण करने लगे, और अिसके लिअे अुन तत्त्वज्ञानमें से मार्ग निकालने लगे। हममें शोधकका गुण होता तो ज्ञानके नाम पर अैसी भ्रामक बातें न होतीं, हमने अुन शास्त्रका विकास किया होता, अुससे हमें अनेक भौतिक और सात्त्विक लाभ हुअे होते और हम अुन्नत बने होते। परन्तु तत्त्वज्ञानका सम्बन्ध केवल मोक्षके साथ जोड़ दिये जानेसे वे लाभ नहीं हो सके। हरअेक सम्प्रदायने तत्त्वज्ञानकी कोअी न कोअी प्रणाली अवश्य स्वीकार की है। अिसका कारण हमारे महापुरुषों और सर्वसाधारण लोगोंमें चली आ रही यह श्रद्धा है कि तत्त्वज्ञानके बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता। अिसीसे अिन मार्गोंमें ज्ञानकी खोज न होकर श्रद्धालुपन बढ़ता रहा है।

तत्त्वज्ञानकी सिद्धि

सचमुच हम तत्त्वोंके शोधक और अभ्यासी बन जायं, तो पंच-भूतात्मक सृष्टिके तमाम स्थूल-सूक्ष्म पदार्थों और साथ ही अुनके गुण-धर्मोंका ज्ञान हमें हुअे बिना नहीं रहेगा। ध्वनि, प्रकाश और विद्युत् जैसे गूढ और महान तत्त्वोंके कार्य-कारणभावोंका हमें ज्ञान होगा। मनुष्य

और अन्य प्राणियोंके गुणधर्म, संस्कार, स्वभाव वगैराका भी हमें ज्ञान होगा। मन, बुद्धि, चित्त, प्राण, चैतन्य आदि सबका सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान हमारे सामने प्रगट होगा। सारी चराचर सृष्टि और साथ ही अुसके सूक्ष्म तत्त्वोंके हम जानकार बनेंगे। अिस प्रकार समस्त तत्त्वोंकी खोज करते करते अगर हम तत्त्वज्ञानके आखिरी छोर तक पहुंच जायं तो अिस विश्वमें हमसे कुछ भी अज्ञात नहीं रहेगा और बादमें अिस सारे ज्ञानका अुपयोग हम मानव-जातिके अुत्कर्ष और कल्याणके लिअे आसानीसे कर सकेंगे। अुस ज्ञानसे हमारे जीवनका स्वाभाविक झुकाव भूतमात्रका हित करनेकी ओर ही रहेगा। परन्तु अिनमें से किसी भी तत्त्वकी शोध हमें न लगी हो और अिनमें से किसी बातसे हम मानव-जातिका कल्याण और भूतमात्रका हित न कर सकते हो, तो ज्ञानमार्गमें यह वस्तु सभव प्रतीत नहीं होती कि केवल आत्मतत्त्वका ज्ञान होनेसे हमें ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाय। सत्यकी दृष्टिसे देखा जाय तो यह प्रकार केवल कल्पित और श्रद्धाकी बात ठहरेगा। अुसे ज्ञानकी सिद्धि नहीं कहा जा सकता।

तत्त्वज्ञानका जीवनसिद्धिमें पर्यवसान

अिन सब बातों पर विचार करनेसे मालूम होता है कि तत्त्व-ज्ञानका सम्बन्ध मोक्षके साथ न मानकर हमारी जीवनशुद्धि और सिद्धिके साथ जोड़ना चाहिये। मानवताके लिअे आवश्यक मालूम होनेवाली हरअेक बातको अधिक शुद्ध, अधिक तेजस्वी और अधिक प्रभावशाली बनानेका सामर्थ्य तत्त्वज्ञानमें होना चाहिये। मानव-जीवनमें धर्म, अर्थ और काम ये तीन बड़े पुरुषार्थ हैं। मनुष्यमात्रका सारा जीवन अिन तीन पुरुषार्थोंमें बंटा हुआ है। अिन तीनोंकी शुद्धि द्वारा ही जीवनशुद्धि और जीवनसिद्धि प्राप्त हो सकेगी। ज्ञानके बिना यह शुद्धि और सिद्धि सभव नहीं है। अिसलिअे धर्म, अर्थ और कामको शुद्ध करनेकी शक्ति ज्ञानमें होनी चाहिये। व्यक्ति और समष्टिका कल्याण परस्पर विरोधी या विघातक न होकर अेक दूसरेका सहायक बने, अिस दृष्टिसे धर्म, अर्थ और कामका विचार होनेके लिअे तत्त्वज्ञानकी खास तौर पर जरूरत है। यह

आवश्यकता पूरी करनेकी शक्ति तत्त्वज्ञानमे हो तो ही धर्म, अर्थ और कामकी शुद्धि होगी और मानवधर्मकी सिद्धि होगी। हम जिसे तत्त्वज्ञान कहते हैं अुसमे यह शक्ति न हो, तो अुस तत्त्वज्ञानका विकास करके अुसमें यह शक्ति लानी चाहिये। ज्ञानमे यदि पुरुषार्थ न हो, शक्ति निर्माण करनेका गुण न हो, तो अुस ज्ञानमें और अज्ञानमे कोओी भेद नही है। दीपक और अग्निमें प्रकाश देनेकी शक्ति जरूर होगी। अगर यह अनुभव होता हो कि दीपकमें और अग्निमे वह शक्ति नही है, तो यह निश्चित समझना चाहिये कि वहा दीपक और अग्नि नही, परन्तु अुनके बारेमें कुछ भ्राति ही है।

सक्षेपमें, तत्त्वज्ञानके आभास पर विश्वास न रखकर हमें अैसे तत्त्वज्ञानका आश्रय लेना चाहिये, जिसमें मानव-जीवनको सब तरहसे सफल बनानेका सामर्थ्य हो। भ्रमके पीछे न पडकर यदि हम सचमुच ज्ञानकी प्राप्ति कर लें, तो अुसके साथ हममें पुरुषार्थ अवश्य आना चाहिये। ज्ञान प्राप्त कर लेनेके बाद अुसका अुपयोग करना अुस ज्ञानका स्वाभाविक परिणाम है।

२

ओश्वर-भावना

जीवमात्रमे जिज्ञासा-वृत्ति होती है। पशु-पक्षियोमें वह बिलकुल मर्यादित रूपमे होनेके कारण आसानीसे हमारे ध्यानमें नही आती। परतु मनुष्यमे वह बचपनसे ही स्पष्ट मालूम होती है, और अुसकी बौद्धिक वृद्धिके साथ वह भी बढती जाती है। अिस जिज्ञासा-वृत्तिमें से ही मनुष्यमे ओश्वर-सबधी कल्पना पैदा हुओी है। किसी महत्त्वकी वस्तुको हम यथार्थ रूपमे न जान सकें, तो अुसे जाननेकी अिच्छा हमारे मनमे रहती है। अुस वस्तुका हमारा ज्ञान जिस हद तक कम होता है, अुसी हद तक अुसके विषयमें हमे कुछ तर्क या अनुमान करने पडते हैं। वे तर्क या अनुमान ही हमारी कल्पना या मान्यता

होते है। अधिकतर हम अुन्हीको अुस वस्तुके विषयमें हमारा ज्ञान मानते है। जैसे-जैसे हमारा अनुभव वढता जाता है, हमारे ज्ञानमें वृद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे पहली कल्पनाओका अयथार्थ भाग कम होता जाता है और यथार्थ भाग वना रहता है। और अुसीमे नवीन तर्कों या कल्पनाओंकी वृद्धि होती रहती है। अिसी क्रमसे अेकके वाद दूसरी अयथार्थ कल्पनासे वाहर निकलकर मनुष्य सत्यकी ओर वढता है। अीश्वर अनन्त, अपार और अगम्य है, तो भी अपने ज्ञानकी वृद्धिके साथ हम अुसके स्वरूप और स्वभावकी कल्पना वदलते आये है। और जव तक हमे अुसका सम्पूर्ण ज्ञान नही हो जाता, तव तक अुसके विषयकी हमारी कल्पनामे, मान्यतामे परिवर्तन और सुधार होते ही रहेगे। हमारी मूल जिज्ञासा-वृत्ति और हमारा वढता हुआ ज्ञान, हमारी आवश्यकताये और हमारी भावनाये — अिन सवका वह परिणाम होगा। कल्पना द्वारा होनेवाली और अनुभवमें आनेवाली दु:ख-निवृत्ति और सुखानुभवके अनुरूप मनुष्यके मनमे अीश्वरके विषयमे प्रेम और कृतज्ञताके भाव पैदा होते है और अिससे कल्पनाका पर्यवसान भावनामें होकर अीश्वर-सवधी मूल कल्पना भावनाका रूप लेती है। अिष्टकी सिद्धि होने तक टिकी रहनेवाली दृढ और प्रवल भावना ही श्रद्धा है। श्रद्धासे अुत्पन्न होनेवाली समर्पण-वृत्तिमे से भक्तिका अुद्भव हुआ होगा और कैसी भी विपरीत स्थितिमें विचलित न होनेवाली श्रद्धाका ही नाम निष्ठा पडा होगा। विकसित मानवके मनमे अैसे भाव कम-ज्यादा मात्रामे होते ही है। ये भाव किसीके अीश्वरके विषयमे, किसीके तत्त्व या धर्मके विषयमे, तो किसीके आदर्शके विषयमें होते है। लेकिन मानवके मनमे अिन सवका स्थान है। मानवके मनमे अिनकी भूख होती है। अिस भाव-तृप्तिमे ही मानवताका विकास है। मनुष्य-जाति अिसी रास्ते चलती आअी है।

अीश्वर कैसा है अिसका शुद्ध ज्ञान मनुष्यको किसी भी समय हो सकेगा या नही, अिस प्रश्नको छोड़ दें तो भी मूल जिज्ञासासे मनुष्यके मनमे अुत्पन्न हुअे अिन भावोमें वडी शक्ति है। यह

अिस विषयके आज तकके अितिहाससे मालूम हुआ है। ये भाव ज्यो-ज्यों शुद्ध होते जाते है, त्यो-त्यो अुनका सामर्थ्य वढता जाता है— अिस रहस्यको ध्यानमें रखकर मनुष्यको अपने भाव शुद्ध रखनेका प्रयत्न करना चाहिये। अिस प्रकरणके लिखनेमें मुख्यत· यह दृष्टि और यही हेतु है।

* * *

अीश्वरावलम्बनकी जरूरत

भिन्न-भिन्न मानव-समाजोमे अीश्वर-सवधी कल्पनाओका अितिहास देखनेसे मालूम होता है कि मनुष्य-जातिमें ज्यो-ज्यो मानवीय सद्गुण प्रगट होते गये, त्यो-त्यो अुसकी वे कल्पनाअे वदलती गअी है। अीश्वरकी मूल कल्पना मनुष्यकी दुर्वलता और अुसके थोडे-वहुत वौद्धिक विकाससे अुत्पन्न हुअी होगी। दुर्वलताके साथ कल्पना या तर्क करनेकी शक्ति मनुष्यमे न होती, तो सभव नही कि अुसे अीश्वरकी कल्पना सूझती। पशु-पक्षी दुर्वल है तो भी अैसा नही लगता कि अुनमें अीश्वर-सवधी कल्पना होगी। मनुष्यको अपने पर आ पडनेवाले दु.खों, सकटो, कठिनाअियो और आपत्तियोके निवारणके लिअे, अपनी सुरक्षाके लिअे, और साथ ही अपनी कामना-अिच्छा वगैराकी पूर्तिके लिअे ीर सुखकी स्थिरताके लिअे किसी न किसी दिव्य और महाशक्तिके प्रति श्रद्धाका आधार लेना पडता है। दार्शनिक, तत्वज्ञ, विचारक, समीक्षक या नास्तिक अीश्वरके वारेमें कुछ भी कहे, कोअी अपनी जोरदार दलीलोसे, कोअी तर्कवादसे, कोअी तात्त्विक दृष्टिसे या अन्य किसी प्रकारसे अीश्वरका नास्तित्व सावित करके वता दे, तो भी जव तक मानवप्राणी आजकी स्थितिमे है—और थोडे-वहुत फर्कके साथ वह अिसी मानसिक स्थितिमें रहनेवाला है—तव तक किसी न किसी रूपमें अुसे अीश्वर-सवधी कल्पनाकी जरूरत महसूस होती रहेगी। जव तक मनुष्यको जीवनके हरअेक दु खका नाश करनेके स्वाधीन अुपायोका ज्ञान न हो जायगा, जव तक अुसे यह लगता रहेगा कि वर्तमान सुखके स्थायी रहनेका आधार अपने पुरुषार्थ पर नही, वल्कि

अपने काबूमें बाहरके अनेक बाह्य संयोगों पर है, या जब तक वह यह नहीं जानता कि किस पर अुसका आधार है — और असलमें वस्तुस्थिति यही है — तब तक मनुष्यको किसी भी बड़े आलम्बनकी जरूरत महसूस होती रहेगी। दुःखके अवसर पर निर्भय, निश्चिन्त और अनुद्विग्न तथा सुखके समय जाग्रत और संयमशील रहनेके लिअे चित्तकी जिस प्रकारकी पवित्र और स्थिर अवस्था होनी चाहिये वह जब तक मनुष्यको प्राप्त नहीं होगी, जब तक मनुष्य चित्तवृत्ति पर सहज ही काबू न रख सकेगा, तब तक किसी भी महान शक्तिका आधार लेनेकी अिच्छा अुसे होगी ही। जो सुख-दुःखके पार चले गये हों, जो हरअेक मामलेमें अपने सामर्थ्य पर आधार रखने जितने शक्तिशाली बन गये हों, अुन थोड़ेसे लोगोंको छोड़ दें तो बाकी सारे मनुष्य-समाजको औश्वर-संबंधी कल्पनाकी जरूरत है। सर्वथा अज्ञानीसे लेकर विद्वान तक, रंकसे लेकर धनिक तक — सबको अिस कल्पनाकी जरूरत है। अिसमें अन्तर होगा तो सिर्फ कल्पनाके स्वरूपका होगा; परन्तु प्रकार वही रहेगा। मनुष्यकी औश्वर-संबंधी कल्पनाओंमें अनेक प्रकारके भेद हों, तो भी अुसमें मानी गअी महान शक्ति, अुसका न्यायीपन, दयालुता, अुसकी दीनवत्सलता, सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता वगैराके मामलेमें सबमें लगभग अेकवाक्यता होती है। वह शरणागतोंका रक्षक, अनाथोंका प्रतिपालक, पतितोंका अुद्धारक और अनंत विश्वकी अुत्पत्ति-स्थिति-लयका कर्ता है, अिस बारेमें भी सब लगभग अेकमत हैं। अलबत्ता, दुनियामें सब लोगोंकी बुद्धि, परिस्थिति, संस्कार और सामाजिक रीति-रिवाजमें समानता न होनेसे सबकी औश्वर-संबंधी कल्पनामें पूरी तरह सादृश्य न हो यह स्वाभाविक है; और अिसीलिअे औश्वरको प्रसन्न करने और अुसकी आराधना और अुपासना करनेकी विधि और मार्ग हरअेकके अलग-अलग दीख पड़ते हैं। अिसे छोड दें तो मालूम होगा कि सबकी औश्वर-संबंधी कल्पना बहुत ही मिलती-जुलती है।

औश्वर-सम्बन्धी कल्पनाका विवेकपूर्ण अुपयोग

औश्वर-सम्बन्धी कल्पना और औश्वर या परलोकके साथ संबंध जोड़नेवाली धर्मकल्पनाको कुछ लोग अफीमकी गोलीकी अुपमा देते

है। अुसमें किसी हद तक सत्य है, परन्तु वह सम्पूर्ण सत्य नहीं है। ओीश्वर-सम्बन्धी कल्पनासे दुनियामें जितनी वुराअियां पैदा हुअी हैं, अुन सबको ध्यानमें रखकर अुन्होंने यह अुपमा दी है। अुपमाको कायम रखकर कहना हो तो यों कहा जा सकता है कि ओीश्वर-सम्बन्धी कल्पना कभी-कभी और कहीं-कहीं अफीम जैसा परिणाम पैदा करनेवाली सिद्ध हुअी हो तो भी अुसमें अिस कल्पनाका दोष नहीं है। अफीमसे भी तो अच्छे-बुरे दोनों प्रकारके परिणाम आ सकते हैं। दवाके तौर पर योजनापूर्वक अुसका अुचित अुपयोग करनेमें वह प्राणदायक होती है और रोज खानेकी आदत डाल लेनेसे या अेकदम अधिक मात्रामें अुसका अुपयोग करनेसे वही हानिकारक और कभी-कभी प्राणघातक सिद्ध होती है। अिसी तरह ओीश्वर-संबधी कल्पना अहितकर नहीं है; परन्तु अुस कल्पनाका किस ढंगसे, कितनी मात्रामें और किस समय अुपयोग किया जाय, अिस बारेमें अज्ञान होनेके कारण नुकसान होता है। सिर्फ अफीम ही क्यों, और भी कोअी अुपयोगी चीज अज्ञानसे काममें ली जाय, तो अुसके भी दुष्परिणाम हमें भोगने पड़ते हैं। भोजन जैसी सदा आवश्यक और अुपयोगी वस्तु भी अनुचित ढंगसे, अनुचित मात्रामें और अनुचित समय पर ली जाय, तो अुससे भी अनेक रोग हो जाते हैं और कभी-कभी जीवनसे भी हाथ धोने पड़ते हैं। अिसलिअे हमारे हिताहितका आधार केवल वस्तु पर नहीं होता, परन्तु अुसके अुपयोगमें दिखाये जानेवाले हमारे विवेक या अज्ञान पर होता है।

ओीश्वर-संबंधी योग्य कल्पनाके लक्षण

अिन सब बातों पर विचार करनेसे अैसा लगता है कि मानव-अुत्कर्ष और अुन्नतिके लिअे ओीश्वर-सम्बन्धी कल्पना, भावना, श्रद्धा, भक्ति, निष्ठा — ये सब जरूरी हैं। ये मनुष्यको अवनतिकी तरफ ले जानेवाली नहीं हैं। अिनसे मिलनेवाली शान्ति और प्रसन्नताके लिअे मानव-मन प्यासा रहता है। मानव-मनको सहारा देकर अुसे अुन्नत करनेके लिअे ये बहुत ही अुपयोगी हैं। अिसमें महत्त्वकी और मुख्य बात यही है कि हमारी ओीश्वर-सम्बन्धी कल्पना

भरसक विवेकशुद्ध, सरल और अुदात्त होनी चाहिये। अुसमें गूढता या गुप्तता न होनी चाहिये। अुस कल्पनासे हमारे चित्तको आश्वासन या आधार मिले, अिसके लिअे अुसमें किसी भी प्रकारके कर्मकाण्डकी झंझट न होनी चाहिये। अुलटे, श्रद्धा, विश्वास और निष्ठाके चित्तमें बढते रहनेका स्वाधीन और सादा अुपाय अुसमें होना चाहिये। अुसमे मध्यस्थ, पथप्रदर्शक या गुरुकी जरूरत न होनी चाहिये। अुस कल्पनाको माननेवालेका नीति और पवित्रताकी तरफ कुदरती झुकाव होना चाहिये। सदाचारकी अुसमे प्रधानता होनी चाहिये। दया, सत्य, प्रामाणिकता, धैर्य, निर्भयता, अुदारता, निश्चिन्तता, शान्ति और प्रसन्नताके लाभ अुससे सहज ही मिलने चाहिये। अुस कल्पनाके ये स्वाभाविक परिणाम होने चाहिये — मनुष्यमात्र पर हमारा प्रेम बढता रहे, सामूहिक कल्याणकी अिच्छा हमेशा जाग्रत रहे और कर्तव्य करनेकी स्फूर्ति सतत बनी रहे। अुस कल्पनामें अैसा प्रभाव होना चाहिये जिससे हमारा अज्ञान और भोलापन (अन्ध और मूढ विश्वास) मिट जाय, हमारे विकारोका नाश हो, हमारी आशा, तृष्णा, लोभ व दंभका विलय हो, चित्त स्वाधीन और शुद्ध बने, बुद्धि व्यापक और तेजस्वी हो, धर्मको प्रोत्साहन मिले और अहंकार क्षीण हो जाय। अुस कल्पनामे अैसा दिव्य गुण होना चाहिये जो हमारी पामरता और क्षुद्रता, पंगुता और दुर्बलता, आलस्य और जड़ता — अिन सबका नाश करके हमारी कर्मेन्द्रियो और ज्ञानेन्द्रियोकी शुद्धि करे, हममें आत्मविश्वास पैदा करे और साथ ही हमारे शरीर, बुद्धि और मनमे नित-नये चैतन्यका संचार करे। साराश यह कि अुस कल्पनामे अैसा सामर्थ्य होना चाहिये जो मनुष्यको सब तरहसे मानवताकी तरफ ले जाकर तथा अुसे जीवनकी सपूर्ण सिद्धि प्राप्त कराकर कृतार्थ करे। अिस प्रकारकी अीश्वर-सम्बन्धी कल्पना मनुष्यमात्रका कल्याण ही करेगी। अुससे किसीका भी अहित होना कभी सभव नही।

अीश्वर-सम्बन्धी कल्पना समयानुसार बदलनी चाहिये

अिसलिअे हरअेक कालके अनुरूप अीश्वर-सबंधी कल्पना समय-समय पर मनुष्यको मिल जाय, तो मानव-जातिके कितने ही अनर्थ सहज ही

टल जाय। परंतु मानव-जातिके दुर्भाग्यके कारण अभी तक यह बात मनुष्यके ध्यानमें नही आती। आज भी कोओी पांच हजार तो कोओी दो हजार, कोओी ओक हजार तो कोओी पाच सौ या सौ वर्ष पहलेकी ओश्वर-सम्बन्धी कल्पनाको और अुसके आसपास रची हुओी धर्मकी कल्पनाको मजबूतीसे पकडे बैठे है। मानव-जातिका कल्याण किस बातमें है, जिसका विचार न करके पुरानी कल्पनामें दिव्यता माननेका हम सबका स्वभाव हो गया है। भूतकालमें यदि अनेक बार ओश्वर-सम्बन्धी कल्पना बदली जा सकी है और हर बार अुससे हमारा कल्याण होता रहा है, तो आज भी पहलेकी कल्पनाको बदलकर नओी कल्पना धारण करनेमें क्या हर्ज है? लेकिन हम जिस मामलेमें जिस तरहसे विचार नही करते। कोओी भोलेपनसे, कोओी अज्ञानसे, कोओी डरसे, कोओी लालचसे और कोओी जिस भयसे कि ओश्वर-सम्बन्धी वर्तमान कल्पनाके बदलनेसे हमारी आर्थिक हानि होगी, हमारी प्रतिष्ठा नष्ट हो जायगी, पुरानी कल्पना बदलनेको तैयार नही होते। समाजकी वर्तमान स्थिति और जरूरतोंका विचार न करके और यह देखते हुओ भी कि पुरानी कल्पनाओ घातक सिद्ध हो रही है, हम कालानुरूप नओी कल्पना धारण नही करते; जितना ही नही, अुलटे जिसका विरोध भी करते है। समाज स्वय अज्ञान और श्रद्धालुपनके कारण पूर्व कल्पनाको छोड़नेके लिओ तैयार नही होता। पुरानी कल्पनाके चाहनेवाले, अुस कल्पनाके कारण महत्त्व पाये हुओ मध्यस्थ, गुरु और कर्मकाण्डी पुरोहितोका वर्ग नओी कल्पनाका हमेशा विरोध करते है। ओसा मालूम होता है कि पुरानी निरुपयोगी और अहितकर कल्पनाओंको छोड देनेके लिओ तैयार न होकर नओीका विरोध करनेवाला वर्ग समाजमें हमेशा रहा है और ओश्वरके नाम पर हमेशा अुसीने अनर्थ किये है।

ओश्वर-सम्बन्धी सर्वश्रेष्ठ कल्पना, भावना व श्रद्धा

यज्ञमें मनुष्यो या पशुओंकी आहुति लिये विना ओश्वर सतुष्ट नही होता, ओसी हमारी ओक समयकी कल्पना बदलते-बदलते अब यहां तक आ पहुंची है कि वह केवल सदाचार और भाव-भक्तिसे

सन्तुष्ट होता है। मानव-जातिमे सदाचार और सद्‌भावनाओंको जैसे-जैसे महत्त्व मिलता गया, वैसे-वैसे यह फर्क होता गया है। अिसका रहस्य ध्यानमें रखकर हमे आज अैसी ही औश्वर-सम्बन्धी कल्पना धारण करनी चाहिये, जिससे मानवमात्रकी गति, अुत्कर्ष, अुन्नति और सब तरहसे कल्याण सिद्ध हो। वह कल्पना हमे विवेकपूर्वक निश्चित करनी चाहिये। मनुष्यमात्रके शाश्वत कल्याणका विचार करके तदनुसार आचरण करनेमे जो अपनी सारी शक्ति-बुद्धिका अुपयोग करते है, जिनके दिलमे भूतमात्रके लिये हमदर्दी है, जो सदाचारी हैं, जिनका हृदय निर्मल है, जो निःस्पृह हैं, जो पूर्वग्रहों और पूर्वसंस्कारोंसे बंधे नही हैं तथा जो विवेकी हैं, अैसे सज्जनोंके हृदयमें जिस प्रकारकी औश्वर-सम्बन्धी कल्पना दृढ हुअी हो, जो अुनके जीवनमे अुन्हें गति, अुत्साह, बल, प्रेरणा, प्रकाश और पवित्रता प्राप्त करनेमे अुपयोगी हो, जिससे अुनकी प्रज्ञा और सात्त्विकता बढती हो, वह कल्पना आजके समयमें धारण करने योग्य मानी जानी चाहिये। अुसका अनुसरण करनेमें हमारा और मानव-जातिका कल्याण है। अैसे सज्जनोंकी कल्पना समझना हमारे लिअे संभव न हो, तो हरअेकको अपने संस्कारों, अपने हृदय और जीवनकी जांच कर लेनी चाहिये और अुसमें से ढूंढ निकालना चाहिये कि जिसके बल पर हम जीवनमें कुछ अुदात्त, भव्य और पवित्र प्राप्त कर सके; संकटमें, दुःखमें, कठिनाअीमें, भयमें जिसके बल और श्रद्धा पर हम धैर्य रख सके और शीलकी रक्षा कर सके; अगतिकी स्थितिमे गति, पश्चात्तापमें सान्त्वना, पतनावस्थामें अुत्थान, मूर्छावस्थामें भान, अज्ञानावस्थामे ज्ञान, असहाय स्थितिमें सहायता, मोहमें विवेक और संयम, कुछ भी सूझता न हो अैसी परेशानीकी हालतमें जिससे प्रकाश और मार्ग मिल सका; जिससे पुरुषार्थमे बल और अुत्साह तथा कर्ममे शुद्धता और व्यापकता प्राप्त हुअी, वह कल्पना कौनसी है? वह भावना कौनसी है? कौनसी पवित्र श्रद्धा जीवनमें ये सब बातें सिद्ध करनेका कारण बनी है? अिसे ढूढ़ निकालना चाहिये। और फिर अुसी कल्पनाको, भावनाको या श्रद्धाको भरसक सरल, प्रभावशाली, निरुपाधिक, स्वाधीन, महान, भव्य, व्यापक,

वाह्य आडम्वर-रहित, शुद्धसे शुद्ध, मगलसे मगल और श्रेष्ठसे श्रेष्ठ वनाकर अुसे अपने हृदयमे दृढ करना चाहिये। अगर मनुष्य अितनी वात सिद्ध कर सके, तो वह अिसके वल पर जीवन-भर अेकनिष्ठ रहकर अपना जीवन सार्थक कर सकेगा।

निष्ठा और संकल्पका सामर्थ्य

मनुष्यके चित्तमें अिस प्रकारकी ओीश्वर-भावना जाग्रत रहे, अिसके लिअे अुसे अपने अभ्युदय और अुन्नतिकी तीव्र अिच्छा होनी चाहिये, अुसमें विवेक होना चाहिये। ये वस्तुअे सज्जनोके सहवाससे सहज ही प्राप्त की जा सकती हैं। अगर हम श्रेयार्थी हो तो विवेकी और पुरुपार्थी सज्जनकी सगति और अुसके चरित्रका हम पर शुभ परिणाम हुअे विना नही रहता। अिन सवकी मददसे हमें अपनी मानवताका ध्येय सिद्ध करना चाहिये। हमने जीवनके ध्येयके वारेमें जैसी कल्पना या निश्चय किया होगा, वैसी ही हमारी ओीश्वर-विषयक कल्पना होगी। अिसलिअे प्रथम हमें ध्येयकी शुद्ध और स्पष्ट कल्पना होनी चाहिये। अुस वारेमें हमे यह निश्चित समझ लेना चाहिये कि जो कुछ भी भव्य प्रतीत हो वह सव आदरणीय या अनुकरणीय नही है, जो आकर्षक लगे वह ध्येय नही है, केवल आनन्दप्रद या सुखकर लगे, केवल शान्ति और प्रसन्नता देनेवाला हो, वह भी हमारा ध्येय नही है, जो दिव्य लगे, रम्य लगे, वह भी हमारा ध्येय नही। परन्तु जो मानवताके अनुरूप हो, सद्गुणोका पोपक, सयमका सहायक, धर्म और कर्तव्यका प्रेरक हो, जिसे प्राप्त करनेके लिअे प्रामाणिक मानव-व्यवहार और परिश्रम वगैराका त्याग न करना पडे, जिसकी प्राप्तिकी अिच्छा सव करे और सवको जिसकी प्राप्ति हो जाने पर मानव-व्यवहार अधिक सरल, पवित्र और व्यवस्थित हो जाय, अुसे सिद्ध करना हमारा ध्येय है। वह ध्येय सिद्ध करना मुश्किल हो सकता है, परंतु अुसमें भ्रम नही हो सकता। अुसके मार्गमें कठिनाअिया हो सकती है, परंतु दम्भ नही हो सकता। अुसमे हमेशा आनन्द न हो तो भी कृतार्थता

होगी। अुसे सिद्ध करना कठिन है, अतः अुसकी कठिनताकी तीव्रता कम महसूस हो, भ्रममे न पडना पड़े और हम दम्भमें न फसें, अिसके लिअे यह जरूरी है कि किसी अत्यन्त पवित्र और महान शक्ति पर हमारी श्रद्धा और निष्ठा हो। अुस निष्ठामे ही तमाम अनिष्टो और सकटोसे, सारे पापो और वाधाओसे वाहर निकलकर हमें अपने ध्येय तक पहुचानेकी शक्ति निहित है। ध्येय-सम्वन्धी हमारे दृढ सकल्पसे हमारी निष्ठा जाग्रत रहती है। विश्वमे सर्वत्र व्याप्त महान शक्तिको अपने लिअे अुपयोगी वना लेनेका सूत्र और सामर्थ्य हमारे दृढ सकल्पमे ही है।

२
ध्येय-निर्णय

जीवनका ध्येय क्या हो, यह मानव-जीवनका सवसे वडा प्रश्न है। मनुष्यके आचरण और अुसके जीवनकी छोटी-वडी वातोका झुकाव तथा अुसका पुरुषार्थ और अुसके सामाजिक सम्वन्ध — अिन सवका आधार अुसके जीवनके ध्येय पर होता है। अिसलिअे ध्येय निश्चित करनेमें भूल या दोष न रहना चाहिये।

ज्यो-ज्यो समय वीतता है, ज्यो-ज्यो दुनियाके वारेमें हमारा अनुभव वढता जाता है, त्यो-त्यो अनेक विषयोकी हमारी कल्पनाओ और विचारोमें परिवर्तन होते रहते है। अिसी प्रकार जीवनके ध्येयके वारेमे भी अुचित परिवर्तन होनेकी जरूरत है। ये परिवर्तन ठीक समय पर न हो, तो अुसके कठोर परिणाम व्यक्ति और समाज दोनोको भोगने पड़ते है। अिसलिअे जीवनका ध्येय तय करते समय मनुष्यको देश, काल, परिस्थिति, अपनी जरूरते, अपनी भावनायें, अपना मन और अन्तमे अपना और मानव-जाति दोनोका श्रेष्ठ कल्याण — अिन सव वातोका जितना व्यापक, दीर्घ और सूक्ष्म विचार किया जा सके अुतना करना चाहिये।

सुख-दुःखसे छूटनेकी कल्पना

सुखसे प्रीति और दुखसे अप्रीतिकी भावना मानव-जातिमें शुरूसे आज तक ज्योंकी त्यों चली आ रही है। मनुष्यके लिअे सुखकी अिच्छा बिलकुल स्वाभाविक है, और यह अिच्छा पूरी करनेके लिये वह अनेक संकटोंका सामना करता है। अत्यन्त दुखमय स्थितिमें भी मनुष्य किसी न किसी सुखकी आशा पर ही जीता है। वर्तमान या भविष्यके किसी भी सुखके साथ चित्तका सम्बन्ध जुड़ा हुआ न हो, तो मानव-जीवनका टिकना ही संभव नहीं है। भविष्यके सुखके साथ चित्तका जो सम्बन्ध होता है वही आशा है। मानव-मनका कहीं न कहीं और कभी न कभी सुखके साथ सम्बन्ध होना ही चाहिये। मनका यह धर्म है। अिसी धर्ममें से स्वर्गकी, सुखमय परलोककी और पुनर्जन्मकी कल्पना निर्माण हुअी है, और अन्याय, दुष्टता और दुराचरण करनेवालेको कभी न कभी सजा जरूर मिलनी चाहिये, अिस न्यायवृत्तिमें से नरककी कल्पना निकली है। जैसे दुःखनाश, सुखप्राप्ति आदि बातें हमारी अिच्छानुसार अिस जन्ममें नहीं होतीं, अुसी प्रकार सब जगह यह नहीं दिखाअी देता कि सत्कर्मके अच्छे और दुष्कर्मके बुरे फल जगत्मे मिलते रहते है। अिसलिअे अिन सब बातोंके बारेमें मनुष्यने स्वर्ग, पुण्यलोक, नरक और पुनर्जन्म आदि कल्पनाओंके द्वारा अपने मनसे व्यवस्था और न्याय निश्चित कर दिये है। यह व्यवस्था करनेके बाद भी मनुष्यके ध्यानमें आया कि जीवमात्रके साथ सुख-दुख लगे ही हुअे है, कितनी ही अुत्तम परिस्थितिमें जन्म हुआ हो तो भी संपूर्ण दुखनाश और संपूर्ण सुखप्राप्तिकी स्थिति मनुष्यको प्राप्त नहीं हो सकती। तब मनुष्यके समझदार मनने यह बात स्वीकार की कि दुख न चाहना हो तो सुख भी छोड़ना होगा। अेक न चाहिये तो दूसरी प्रिय वस्तुका भी त्याग करना होगा, जन्मके साथ ही सुख और दुख दोनों मनुष्यके पीछे लगे हुअे हैं, अिसलिअे दुःखसे छूटनेके लिअे सुख छोड़नेको तैयार हुअे सिवाय दूसरा अुपाय नहीं है। अुन दोनोंको टालना हो तो जन्मको टाले सिवाय दूसरा मार्ग नहीं है। अिसके लिअे जन्म न पाना अर्थात् मोक्ष

प्राप्त करना चाहिये, यह वात मनुष्यके सुज्ञ मनने स्वीकार की और अिस तरह मोक्ष ही जीवनका ध्येय वना। मनुष्यका ध्येय, यही है और वह योग्य है, यह सिद्ध करनेके प्रयत्नमे अलग-अलग शास्त्र निर्माण हुअे, अुसीसे प्रवृत्ति-निवृत्तिके वाद पैदा हुअे, कर्मवाद भी अुसीसे निर्माण हुआ और तत्त्वज्ञानका भी वहीसे आरम्भ हुआ। अुस ध्येयको प्राप्त करनेके साधनोके विचारसे कर्मक्षय, संन्यास वगैरा वातें अेकके वाद अेक निर्माण हुअी और अिस प्रकार वह ध्येय सशास्त्र वना। अिसी परसे तथा संन्यासी, त्यागी और ज्ञानी लोगोके सद्व्यवहार तथा संयमशील और शान्त जीवनके कारण मोक्ष और अुसके सावनोके वारेमे साधारण जनतामें श्रद्धा फैली और परम्परासे दृढ हुअी।

गृहस्थाश्रम और कर्ममार्गकी अुपेक्षा

जिस समय समाजके सदाचारी व्यक्तियोने मोक्षकी कल्पना या ध्येय स्वीकार किया, अुस समय व्यक्ति और समाजका अुससे कुछ न कुछ कल्याण हुआ होगा अिसमे शका नही। परन्तु अिस विपय पर विचार करनेसे यह अनुमान होता है कि जवसे अिस कल्पनाके कारण आगे चलकर गृहस्थाश्रम और अुसके कर्तव्योके प्रति अनादर पैदा होने लगा और कर्ममार्गके वारेमे समाजमे शिथिलता आअी, तवसे हमारी अवनति शुरू हुअी होगी। मोक्षकी कल्पना वहुजनसमाजके मनमें दृढ हो जानेके वाद और व्यक्ति तथा समाज पर अुसके अनिष्ट परिणाम शुरू होनेके वाद ध्येयके वारेमे विचारवान लोगोको ज्यादा विचार करना चाहिये था। लेकिन अुस समय अैसा नही हुआ। अिसलिअे गृहस्थाश्रमके वारेमें अुत्पन्न हुआ अनादर जैसेका तैसा कायम रहा। लोगोको अिस अनिष्टसे वचानेके लिअे किसी महात्माने समाज पर निष्काम कर्मयोगका सिद्धान्त और विचारसरणी ठसानेकी कोशिश की। परन्तु अिसका भी अन्तिम ध्येय मोक्ष ही होनेसे गृहस्थाश्रम और कर्ममार्गके विषयमें पैदा हुअी अुदासीनता कम न हुअी और अुसका गया हुआ महत्त्व फिर नही लौटा। आज हमारा रहन-सहन

और वर्ताव वगैरा सन्यास-परायण न होने पर भी गृहस्थाश्रमके वारेमें हमारे मनमें सच्चा आदर और सद्भाव नही है। गृहस्थाश्रममें रहते हुअे भी हम सवकी यह दृढ मान्यता होती है कि वह दोपमय और पापमय है और अैसा ही रहेगा। गृहस्थाश्रमके सुखकी आसक्ति हमसे छूटी नही है। अुसके वारेमें हमारा कोअी भी रस कम नहीं हुआ है। अपनी आसक्तिसे हम अपनेमे और समाजमें कितने ही दोप और दु ख वढ़ाते है। फिर भी हमारी अिस समझके कारण कि ससार दोपरूप और दु.खरूप ही रहेगा, अुसके वारेमें कोअी दु ख न माननेकी वृत्ति हममें दृढ हो गअी है। गृहस्थ-जीवन अैसा ही रहनेवाला है, यह हम मानते आये है। अिसलिअे हमें अुसके वारेमें विचार करनेकी वात कभी नही सूझती। अितनी भारी जडता हममें आ गअी है। गृहस्थ-जीवनमे पवित्रता, प्रामाणिकता, सत्य, अुदारता, सयम और नि.स्पृहतासे रहनेकी कल्पना ही समाजमें लगभग नप्ट हो गअी है। व्यक्तिगत स्वार्थसावन ही ससारका ध्येय वन गया है। किसी दु.ख, आघात या अपयशके परिणामस्वरूप ससारसे वैराग्य या घृणा हो जाय, तो संन्यास लेकर मोक्षके पीछे लग जाना चाहिये, अैसी समझ और मनोवृत्ति आम तौर पर जनसमाजमें होनेसे हम नैतिक और भौतिक दृष्टिसे वहुत ही हीन दशाको पहुच गये है। भक्तिमार्गी सन्तोने समाजमें भक्तिका प्रचार करके लोकमानसको शुद्ध करनेका प्रयत्न किया; परन्तु अुनका ध्येय भी मोक्षकी तरह अीश्वरके साथ तद्रूप होनेका निवृत्ति-परायण ही था, अिसलिअे अुसके कारण भी गृहस्थाश्रमका गया हुआ पावित्र्य और पुरुषार्थका वल वापस नही आ सका।

सामाजिक वृत्तियोका अभाव

मोक्ष जैसे वैयक्तिक ध्येयके कारण सामूहिक लाभ और कल्याणके लिअे जिन सामूहिक विचारो, वृत्तियो और सद्गुणोकी जरूरत है वे हममें अभी तक नही आये है। हरअेक मनुष्य अपने-अपने कर्मके अनुसार सुख-दु ख भोगता है, हम किसीको सुखी या दु.खी नही कर सकते, अैसा हम कर सकते है अिस मान्यतामें भ्रांति है — अिस

प्रकारकी शिक्षा हमें कितने ही समयसे मिलती रही है। यह शिक्षा व्यक्तिगत श्रेयकी दृष्टिसे कितनी ही अूची मानकर दी गअी हो, तो भी वह हमें अत्यंत स्वार्थी बनानेका कारण सिद्ध हुअी है। अैसा लगता है कि आजकी बुराअियोंके बहुतसे बीज अिसी शिक्षामें होने चाहिये। धन, विद्वत्ता, वैभव या अन्य किसी भी विशेष प्राप्तिसे स्वयं सुखी होना और अिसी तरह मोक्ष प्राप्त करके अपना कल्याण साधना —अिन सबमें किसी भी तरह सामूहिक कल्याणका प्रश्न, विचार या अुद्देश्य दिखाअी नहीं देता। अिससे मालूम होता है कि व्यक्तिगत लाभकी अिस शिक्षाके कारण ही हममें सामाजिक या सामूहिक वृत्तिका अभाव है। हमारे आचार-विचारमें व्यापकता नहीं है और सभी जगह संकुचितता दिखाअी देती है। अिसके अनेक अन्य कारण हैं, फिर भी यह निश्चित मालूम होता है कि यह शिक्षा भी अिसका अेक महत्त्वपूर्ण कारण है।

अिसका हमारी आजकी व्यक्तिगत, कौटुम्बिक, सामाजिक और राष्ट्रीय स्थिति पर अनिष्ट परिणाम नजर आता है, या यों कहें कि अिन सबका परिणाम ही हमारी आजकी स्थिति है। यह अत्यन्त दुःखकी बात है कि हमारी ध्येय-सम्बन्धी कल्पनामें समयानुसार जो परिवर्तन होना चाहिये था वह नहीं हुआ। मोक्षका ध्येय जिस समय माना गया, अुस समय विचारशील मनको वही योग्य लगा होगा। अुस समयकी वैयक्तिक और सामाजिक स्थिति, धार्मिक और आध्यात्मिक कल्पना आदि सबके कारण अुसी प्रकारके ध्येयकी कल्पना सूझना स्वाभाविक होगा। परन्तु कालान्तरमें अिन सब बातोंमें परिवर्तन होने पर भी अगर हम अुसी कल्पना और अुसी ध्येयको पकड़े रखें और अुसके दुष्परिणाम भोगते रहें, तो यही कहना होगा कि आजकी स्थितिमें हमारा अुद्धार होनेकी कोअी आशा नहीं है।

सामूहिक हित ही अेकमात्र ध्येय

अिसलिअे अगर हमें सचमुच अैसा लगता हो कि यह स्थिति अवनत और शोचनीय है, तो अुसे बदलनेका हमें निश्चयपूर्वक प्रयत्न

करना चाहिये। अिसके लिअे हमें कोअी अुदात्त और योग्य ध्येय स्वीकार करना चाहिये। अिसके विना छुटकारा नही है। हम मनुष्य हैं; और यदि मनुष्यकी तरह हमें जीना है, तो यह वात पहले हमारे हृदयमें पूरी तरह जम जानी चाहिये कि मानव-सद्‌गुणोंसे युक्त हुअे विना हम अैसा कभी नही कर सकेंगे। मनुष्य अकेला रहनेवाला प्राणी नही, परतु समूहमें और अेक-दूसरेके साहचर्यमें रहनेवाला है। अिसलिअे व्यक्तिगत कल्याण या हितकी कल्पनाको ही हमें दोषास्पद मानना चाहिये। हमें निश्चयपूर्वक समझ लेना चाहिये कि अकेलेका हित वास्तवमें हित ही नही है, वल्कि अेक व्यक्तिकी स्वार्थपूर्ण क्षुद्र या महान अभिलाषा है। और अुससे आज नही तो कल सामूहिक दृष्टिसे हानि हुअे विना नही रहेगी। किसी व्यक्तिको प्राप्त धन, विद्या और सत्ताका अुपयोग सवके हितमें किया जाय, तभी अुसका सदुपयोग या धर्म्य-अुपयोग हुआ अैसा समझना चाहिये। सव तरहसे और सव दृष्टियोंसे सामाजिक वने विना हममें मानवता नही आयेगी। जिसमे मानवमात्रका कल्याण होता हो वही हमारा धर्म है। मानवमात्रमे हम भी आ ही जाते हैं। हममे यह श्रद्धा होनी चाहिये कि हमारा धर्म हमारा अहित न करेगा, वल्कि सवके साथ हमारा भी हित ही करेगा। मानव-सद्‌गुणो पर ही मनुष्यका — हम सवका — जीवन चल रहा है। जहां-जहा हमें सद्‌गुणोंकी कमी दिखाअी दे, वहीं दु.खका प्रसग आता है; फिर भले वह सद्‌गुणोकी कमी हमारी अपनी हो या दूसरोंकी हो। अुस कमीसे हम या दूसरे अवश्य दु.खी होंगे। अिसलिअे यदि हम सव सुखी होना चाहते हैं, तो हम सवको अवश्य सद्‌गुणी वनना चाहिये। यह वात हमे दृढतासे माननी चाहिये और अुस दिशामें हमारा सतत प्रयत्न होना चाहिये। हम समाजकी अेक अिकाअी हैं और हम सवका मिलकर ही समाज वना है। हम सवके अच्छे-वुरे व्यवहारो, अिच्छाओं और भावनाओंका परिणाम हम सव पर होता ही रहता है। अिस संसारमें यह नियम नही है कि हर व्यक्तिके हर कर्मका अच्छा-वुरा नतीजा केवल अुसे ही अलग-अलग भोगना पड़े। हम अैक्यके सामाजिक सम्वन्ध और न्यायसे

अिस तरह वंधे हुअे हैं कि हम सबके कर्मोंका फल हम सबको भुगतना पड़ता है। अस्वच्छता, अव्यवस्थितता दोप हैं और अुनके परिणाम रोगके रूपमे या दूसरी तरह सब मनुष्योंको भुगतने पड़ते हैं। मनुष्य समाज वनाकर अेकत्र रहता है। अैसी हालतमें हम अकेले स्वच्छ रहें या हम अकेले अपने घरको साफ रखें, तो अिसीसे हम बीमारियोंसे वच नही सकेंगे। हम, हमारा घर और साथ ही दूसरे लोग और हमारा गांव, सब साफ न हो तो अिससे पैदा होनेवाले रोगरूपी अनर्थसे हम वच नही सकते। गांवमें महामारी फैल जाने पर अुसके दुष्परिणाम सभीको भोगने पडते हैं। जैसा यह प्रकृतिका नियम है, वैसा ही नियम मनुष्यके दूसरे व्यवहारका भी है। मनुष्यको विचार करके अेक-दूसरेके साथके मानव सम्वन्धो, कर्मो और अुनके परिणामोंके नियम खोजने चाहिये; कार्य-कारणभावकी जांच करनी चाहिये। असा करने पर अुसे विश्वास हो जायगा कि हम सब अेक-दूसरेके कर्मसे वंधे हुअे हैं। आज भी समाजमें जो वडे-वड़े झगडे होते हैं, अुन्हें पैदा करनेवाले कौन है? और अुनके अतिशय दुःखद परिणाम किन्हें भोगने पडते हैं? युद्ध कौन निर्माण करते हैं और अुनमे प्राणों तकका सर्वनाश किनका होता है? अिन सब वातोका विचार करने पर मालूम होता है कि कर्मका परिणाम केवल करनेवालेको ही नही भोगना पडता, परन्तु अेकके कर्मोका दूसरेको, अनेकोंको अथवा सबके कर्मोका सबको भुगतना पड़ता है। दुनियामें यही व्यवस्था या न्याय प्रचलित है। परन्तु जीवनका व्यक्तिगत ध्येय अेक वार हमने श्रद्धापूर्वक मान लिया है, अिसलिअे अुसे छोडकर हम नअी दृष्टिसे विचार करनेको तैयार नही होते। दुनियामे जो न्याय प्रत्यक्ष चल रहा है, अुस पर ध्यान न देकर पूर्वजन्म-पुनर्जन्मकी कल्पनासे कर्मवादका आश्रय लेकर अपनी पूर्वश्रद्धा कायम रखनेका प्रयत्न हम करते आये हैं। परन्तु व्यक्तिगत ध्येयकी कल्पनासे आज तक हमारा जो अहित हुआ है और अुस कल्पनाके कारण वने हुअे हमारे अेकांगी स्वभावके फलस्वरूप आज भी हमारा और हमारे समाजका जो अहित हो रहा है, अुसे ध्यानमें रखकर हमें

समाज, राष्ट्र, मानव-जाति वगैरा सबके हितकी दृष्टिसे अपने ध्येयका विचार करनेकी जरूरत है।

सद्‌गुण-संपन्नतामें आत्मत्वका विकास

किसी भी प्रचलित धर्मकी योग्यता जिस बातसे निश्चित करनी चाहिये कि अुसमें सद्‌गुणोंको कितना महत्त्व दिया गया है। सद्‌गुणोंके बिना धर्म नहीं है। सद्‌गुणोंके बिना मानवता नहीं है। धर्मकी योग्यता परमेश्वरकी शरणमें जानेकी अुसमें बताअी गअी पद्धति परसे, अीश्वरकी आराधना करनेके कर्मकांड परसे, अुसमें की गअी पाप-पुण्यकी सूक्ष्म समीक्षा परसे, मरणोत्तर मिलनेवाली गति-सम्बन्धी कल्पना परसे या अुसकी लोकसंख्या परसे नहीं ठहराअी जानी चाहिये; परन्तु अिस बात परसे ठहराअी जानी चाहिये कि अुसमें सद्‌गुणोंका, संयमका और मानवताका कितना महत्त्व सिखाया गया है। मनुष्यको जीवन-भर प्रयत्न और कष्ट सहन करके अपना 'आत्मत्व' विकसित करना है, और यही मनुष्य-जन्मकी परम सिद्धि है। धारण किये हुअे शरीरमें ही सारा 'आत्मत्व' है, यह मानकर अुसकी हर तरहकी रक्षा करनेका प्राणिमात्रका स्वभाव होता है; परन्तु सब जगह आत्मभाव और सम-भाव देखना, अनुभव करना और अुसके अनुसार आचरण करना सिर्फ मनुष्यको ही कभी न कभी सिद्ध हो सकता है। जिस आचरणसे यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है, अुसीको मानवधर्म कहा जा सकता है। मानवधर्मका आधार समताके आचरण पर है। जितनी मात्रामें यह समता हमारे आचरणमें आयेगी, अुतनी ही मात्रामें हममें मानवता प्रकट होगी और अुतनी ही मात्रामें हमारा 'आत्मभाव' व्यापक बनेगा। हमारी धर्मबुद्धिके परिणामस्वरूप हमारा 'आत्मत्व' कमसे कम मानव-जाति और हमारे सहवासके प्राणियों तक तो व्यापक होना ही चाहिये। अिस आत्मत्वको विशाल करनेके लिअे और अपनेमें सम-भावका विकास करनेके लिअे हमें सद्‌गुणोंका अनुशीलन करना चाहिये। सद्‌गुणोंके बिना समभाव नहीं आयेगा और टिकेगा भी नहीं। दया, मैत्री, बंधुता, वात्सल्य, सत्य, प्रामाणिकता, अुदारता, क्षमा, परोपकार वगैरा

सद्‌गुणोंसे समभाव पैदा होता है और वढता है। सद्‌गुण सद्‌गुणोंके सहारे वढ़ सकते है या टिक सकते है। अिसलिअे मनुष्यको अनेक गुणोका आसरा लेना पड़ता है। सव गुणोकी अुपासनाके विना मानवता आ नही सकती। दया, मैत्री आदि गुण संयम, त्याग, वैराग्य, निर्भयता और नि स्पृहता आदि सद्‌गुणोके विना रह नही सकेगे। प्रेमभावके विना सद्‌गुणोंमे माधुर्य नही आयेगा। अिसलिअे तमाम सद्‌गुणोको हमें अपने हृदयमे आश्रय देकर अुनका विकास करना चाहिये।

मानवताका प्रारम्भ विवेक और चित्तशुद्धिके प्रयत्नसे होता है और अन्त सद्‌गुणोकी परिसीमामें होता है। चित्तशुद्धिके लिअे संयमकी आवश्यकता है और सद्‌गुणोंकी परिसीमाके लिअे पुरुषार्थकी आवश्यकता है। मानव-सद्‌गुणोमे किस गुणकी कव, कहां और कितनी जरूरत है, अिसका निर्णय करनेवाले विवेककी आवश्यकता जीवनमें शुरूसे आखिर तक हमेशा रहती ही है।

विवेक, संयम, चित्तशुद्धि और पुरुषार्थ अिन मुख्य साधनो द्वारा हमारा और समाजका कल्याण साधकर मानवताकी परम सिद्धि प्राप्त करना ही मानव-जीवनका ध्येय है।